नव्य-नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि के पदार्थतत्त्वनिरूपण का समीक्षात्मक अध्ययन

(A Critical study of the Padarthatattvanirupana by Navya Naiyayik Raghunath Shiromani)
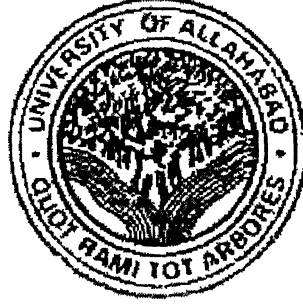
इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० हरिशंकर उपाध्याय
रीडर, दर्शन–विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

शोधकर्ता
उत्तम कुमार शुक्ल
एम० ए० (दर्शन शास्त्र)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

दर्शन-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
सन्-2002

विषयानुक्रमणिका

संकेत–सूची

आ० त० वि०	— आत्मतत्त्वविवेक
उप०	— उपस्कार
क० र०	— कणादरहस्य
किरणा०	— किरणावली
ख० ख० खा०	— खडनखडखाद्य
टीका०	— टीकाकार
त० चि०	— तत्त्वचिन्तामणि
त० दी०	— तर्कदीपिका
त० भा०	— तर्कभाषा
त० स०	— तर्कसग्रह
त० सू०	— तत्त्वार्थसूत्र
दिन०	— दिनकरी
न्या० क०	— न्यायकन्दली
न्या०कु०	— न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या० को०	— न्यायकोश
न्या० बो०	— न्यायबोधिनी
न्या० भा०	— न्यायभाष्य
न्या० भू०	— न्यायभूषण
न्या० मं०	— न्यायमञ्जरी
न्या० ली०	— न्यायलीलावती
न्या० ली० प्र०	— न्यायलीवतीप्रकाश
न्या० वा०	— न्यायवार्तिक
न्या० सा०	— न्यायसार
न्या० सि० मु०	— न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या० सू०	— न्यायसूत्र
प० ख० व्या०	— पदार्थखण्डनव्याख्या
प० त० नि०	— पदार्थतत्त्वनिरूपण
प० तत्त्वा०	— पदार्थतत्त्वालोक

प० च०	—	पदार्थचन्द्रिका
प० त० वि० प्र०	—	पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश
प० म०	—	पदार्थमडन
प० शा०	—	पदार्थशास्त्र
प्र० प०	—	प्रकरणपचिका
प्र० पा० भा०	—	प्रशस्तपादभाष्य
ब्र० सू० भा०	—	ब्रह्मसूत्रभाष्य
भा० परि० का०	—	भाषापरिच्छेद कारिका
मा० मनो०	—	मानमनोहर
मा० मेयो०	—	मानमेयोदय
यो० सू०	—	योगसूत्र
व्येम०	—	व्योमवती
लक्षणा०	—	लक्षणावली
वा० भा०	—	वात्स्यायनभाष्य
वे० परि०	—	वेदान्तपरिभाषा
वै० सू०	—	वैशेषिकसूत्र
श० क० द्रु०	—	शब्दकल्पद्रुम
शा० भा०	—	शांकरभाष्य
स० प०	—	सप्त पदार्थी
स० द० स०	—	सर्वदर्शन सग्रह
सा० का०	—	साख्यकारिका

BORI	-	Bhandarkar Onental Research Institute
EIP	-	Encyclopaedia of Indian Philosophy
HIP	-	History of India Philosophy
MIIL	-	Modern Introduction to Indian Logic
PTN	-	Padarthatattvanirupanam
SNVM	-	Studies in Nyaya -Vaisesika Meta Physics
TSD	-	Tarkasangrahadipika
ZDMG	-	Zeifschnft der Deutschen Morgenlandischen Gensellschaft

प्राक्कथन

जिज्ञासा हमारे चित्त का स्वाभाविक धर्म है। सृष्टि के आदिकाल से ही विचारवान एवं चिन्तनशील पुरुषो को यह जिज्ञासा होती रही है कि मैं क्या हूॅ? जगत् क्या है? इसका क्या प्रयोजन है? तथा मानव जीवन का क्या लक्ष्य है? ऐसे कितने प्रश्न हैं, जिन्हें सोच-सोचकर व्यक्ति आश्चर्याविभूत होता रहा है और जिनके समाधान के लिए युगों से महर्षियो ने प्रयास किये हैं। इसके कारण को जानने में कुछ हद तक सफलता भी प्राप्त की है। यद्यपि सभी गमन-मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, तथापि उनका गन्तव्य स्थल किसी न किसी रूप मे एक ही है। अपनी चिन्तनाओं के फलस्वरूप सभी ने जगत् को दु:खमय बताया है और समस्त प्राणिवर्ग को उससे मुक्त होने का चिरन्तन संदेश दिया है।

विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने 'तत्त्वज्ञान' की अपने-अपने ढ़ग से मीमांसा की है, किन्तु सभी ने अन्ततः मिथ्याज्ञान या अज्ञान को ही दु:ख का कारण माना है। तत्त्वज्ञान को अज्ञान का निवारक मानकर 'नि:श्रेयस की प्राप्ति' को ही व्यक्ति के अन्तिम लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन भी इस सत्य का अपवाद नहीं है। उनके अनुसार पदार्थों का तत्त्वज्ञान ही नि:श्रेयस का हेतु है। दोनों दर्शनों में पदार्थ शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। कणाद के पदार्थ, सत्ता पदार्थ (Ontological Categories) हैं, जबकि महर्षि गौतम के पदार्थ, प्रमाणशास्त्र के विवेच्य विषय (Epistemological Categories) हैं।

आस्तिक दर्शनों की परम्परा मे न्याय-वैशेषिक 'समानतन्त्र' होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। आंशिक मत-वैभिन्य होने पर भी न्याय एवं वैशेषिक अपने तात्त्विक सिद्धान्तों, जैसे — आत्मा का स्वरूप, दु:खों का मूल कारण अज्ञान, यथार्थ तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति, तथा विश्व की परमाणुपरक परिकल्पना

आदि के विषय मे एक मत हैं। दोनो ही विश्लेषणात्मक पद्धति व साधारण ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेकर चलते हैं। वैशेषिक-दर्शन जगत् का तत्त्वमीमासीय दृष्टि से विश्लेषण करता है और जहॉ विश्व के असंख्य विषयो को मात्र सात कोटियों में वर्गीकृत करना वैशेषिकाचार्यों के विलक्षण बुद्धि का परिचायक है, वहीं न्याय-दर्शन मे मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों को माना गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों दर्शनों के सफल समीकरण पर ही तत्त्वज्ञान संभव है। दोनों दर्शन एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपने आपमें अपूर्ण नहीं।

न्याय परम्परा के अन्तिम चरण मे उदयनाचार्य की तात्पर्य परिशुद्धि का लेखन समाप्त माना जाता है। उनके अनन्तर न्याय-दर्शन की —— प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय के रूप मे दो परम्पराएँ स्वीकृत हुई। गौतम का 'न्यायसूत्र' न्याय-दर्शन' का आद्यग्रन्थ है, जबकि नव्य न्याय के सर्वाधिक प्रतिष्ठित ग्रन्थों मे 'तत्त्वचिन्तामणि' का शीर्ष स्थान है। विचारकों की दृष्टि में उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक एवं किरणावली में नव्य-न्याय के चिन्तन के बीज अंकुरित हो चुके थे।-तार्किक प्रक्रिया का प्रखर दृष्टिकोण जो बाद में चलकर नव्य न्याय की दुरुह भाषा का उत्स माना गया, वह निःसन्देह रूप में उदयनाचार्य के विपुल वाङ्.मय की देन है। बौद्ध तार्किकों के चिन्तन के प्रखर प्रहार का सामना करने का संकल्प उदयनाचार्य की ही मनीषा में अमिताभ रूप में उदित हुआ। वस्तुतः न्याय-वैशेषिक की धारा का समन्वयात्मक रूप उदयनाचार्य का ही बुद्धि वैशिष्ट्य है।

उदयनाचार्य के आविर्भाव के दो शताब्दी बाद मिथिला की पावन भूमि को यह गौरव प्राप्त हुआ कि उसकी गोद में गंगेश उपाध्याय जैसे प्रखर तार्किक उत्पन्न हुए। वस्तुतः गंगेश उपाध्याय अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे। प्रतिभासम्पन्न चिन्तक के रूप में 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' की भॉति आज भी विद्यमान हैं। 'तत्त्वचिन्तामणि'

के प्रतिपाद्य विषय पर लगभग पॉच शताब्दियो तक टीकाएँ लिखी गयीं। तत्त्वचिन्तामणि में गंगेश उपाध्याय ने कई पूर्ववर्ती चिन्तको का उल्लेख भी किया है। उनके महनीय ग्रन्थ पर लिखी गयी टीकाएँ मिथिला, नवद्वीप और वाराणसी चिन्तन की त्रिपथगा से समवाय रूप मे सम्बद्ध हैं।

प्राचीन न्याय एव नव्य न्याय मे भेद का आधार मुख्यतया उनकी भाषा एवं शैली है। प्राचीन न्याय के ग्रन्थो में जहॉ प्रकारता, विशेष्यता, ससर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता आदि पदो का अभाव है, वहीं नव्य न्याय के ग्रन्थो मे इन पदो की अतिशयता रहती है। प्राचीन न्याय मे पदार्थ की अवधारणा भी नव्य न्याय से भिन्न है। नव्य न्याय में जहॉ पदार्थ पद पाच्य हैं, पारिभाषिक हैं, वहीं प्राचीन न्याय मे पदार्थ अनुमेय हैं, अनुभव द्वारा सिद्ध किये जाते हैं। इन दोनो की शैली मे भी पर्याप्त भिन्नता है। प्राचीन न्याय की भाषा सरल, आडम्बररहित होने पर भी प्रायोगिक शैली के कारण इतनी संक्षिप्त एवं सांकेतिक होती है कि उसका प्रतिपाद्य विषय अनेकत्र शीघ्रता से स्पष्ट नहीं हो पाता। बहुत से अनुमान ऐसे प्रयुक्त होते हैं कि शैली की दुःशीलता के कारण जिसका अनुमानत्व सुबोधगम्य नहीं प्रतीत होता। पक्ष, साध्य और हेतु की विषद् प्रतिपत्ति नहीं हो पाती। वहीं नव्य न्याय की भाषा आडम्बरपूर्ण (अलंकारिक) तथा ऊपर से स्वरूपतः दुर्गम होने पर भी शैली की शालीनता के कारण अर्थतः अत्यन्त स्पष्ट होती है। पारिभाषिक शब्दावली का परिचयात्मक ज्ञान रहने पर भाषा व शैली के कारण प्रतिपाद्य विषय को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती और कहीं कोई अस्पष्टता नहीं रहती।

प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय में एक और भी अन्तर है, जिसे स्पष्ट कर देना यहॉ पर प्रासंगिक प्रतीत होता है। प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है। उसके विचार तलस्पर्शी नहीं होते तथा वे विषय के बाह्य कलेवर को ही स्पष्ट कर रुक जाते हैं। किन्तु नव्य न्याय में विषय का

प्रतिपादन सूक्ष्म होता है, सूक्ष्म ही नहीं परम् सूक्ष्म होता है। उनके विचार विषय के सर्वांग को स्पर्श करते हैं। वे विषयान्तर्गत प्रविष्ट होकर विषय को निर्ममता के साथ कुरेंदते हैं। उसका कठोर व निष्पक्ष परीक्षण कर उनके श्वेत और काले दोनो पक्ष अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

कालान्तर में नव्य न्याय की दो शाखाएँ विकसित हुईं —— मिथिला शाखा व नवद्वीप शाखा। मिथिला शाखा के नैयायिक आचार्यों में गंगेशोपाध्याय, वर्धमानोपाध्याय एवं पक्षधर मिश्र विशेष रूप से उल्लेखिनीय हैं। पक्षधर मिश्र के शिष्य वासुदेव सार्वभौम एवं रघुनाथ शिरोमणि ने बांगाल में नव्य न्याय के प्रचार-प्रसार हेतु 'नवद्वीप' शाखा की स्थापना की। वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य एवं मथुरानाथ आदि नवद्वीप शाखा के शीर्ष आचार्य हैं। वैचारिक चिन्तन के अद्भव तथा विकास का परिशीलन करते हुए हमारा उद्देश्य रघुनाथ शिरोमणि के 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' में प्रतिपादित पदार्थ सम्बन्धी प्राचीन तथा नवीन अवधारणाओं का विश्लेषण है। इस संदर्भ को दृष्टि में रखते हुए नवद्वीप चिन्तन परम्परा के प्रतिभा सम्पन्न मौलिक विचारक रघुनाथ शिरोमणि के पदार्थ निरूपण की समीक्षा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रतिपाद्य है।

स्पष्ट है कि नव्य न्याय के प्रवर्तक ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' में पदार्थ सम्बन्धी विवेचन मुख्य विषय के रूप में नहीं हुआ है। गंगेशोपाध्याय ने महर्षि गौतम के 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशष्दा: प्रमाणानि' केवल इस सूत्र पर चार खण्डो में 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक महान् ग्रन्थ की रचना की। अत: यह प्रमाणशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। पदार्थ स्वरूप विवेचन मुख्यत: वैशेषिक दर्शन की तथा अंशत: न्याय दर्शन की प्राचीन परम्परा का विषय रहा है। न्याय परम्परा के सूत्रकार गौतम ने यत्किंचित् पदार्थ सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया है। वात्स्यायन के 'न्यायभाष्य' मे सर्वप्रथम वैशेषिक के सप्तपदार्थों को मान्यता प्रदान की गयी। उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' एवं वाचस्पति मिश्र के 'तात्पर्य टीका' में कतिपय पदार्थों का विवेचन

किया गया हैं। जयन्तभट्ट की 'न्यायमञ्जरी' मे पदार्थों का विकसित रूप देखने को मिलता हे। भासर्वज्ञ का 'न्यायसार' तथा उस पर लिखी गयी 'न्यायभूषण' टीका मे परम्परागत पदार्थ सम्बन्धी मान्यताओं में किये गये परिवर्तनो का भी विवेचन किया है।

नव्य न्याय का प्रधान उद्देश्य प्रमाणों का विवेचन करना ही रहा है। अत. पदार्थ सम्बन्धी विवेचन प्रमाणो के सन्दर्भ मे ही हुआ है। रघुनाथ शिरोमणि का 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' ही एक मात्र स्वतन्त्र तत्त्वमीमांसीय ग्रन्थ है, जिसमें परम्परा से हटकर स्वतन्त्र रूप से पदार्थ सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत किया गया है। नव्य न्याय के पारिभाषिक शब्दो को इंगल्स, कॉर्ल पॉटर आदि ने आंग्लभाषा में स्पस्ट किया है। कॉर्ल पॉटर ने वैशेषिक के पदार्थों के विवेचन को प्रस्तुत करते हुए कतिपय स्थलों पर भासर्वज्ञ तथा रघुनाथ शिरोमणि के मत को उल्लिखित किया है। पदार्थों की संख्या एवं उनके नामधेय के सम्बन्ध मे रघुनाथ शिरोमणि का चिन्तन न्याय–वैशेषिक परम्परा से न तो सर्वथा मुक्त है और न ही पराधीन है। उनके चिन्तन में मौलिकता के साथ–साथ भारतीय–दर्शन के अन्य चिन्तन परम्पराओं का विशेषत: मीमासा का सामञ्जस्यपूर्ण समावेश है, जिसका यथावसर निरूपण विषयों के प्रतिपादन के समय किया गया है।

रघुनाथ शिरोमणि प्रतिपादित पदार्थतत्त्व को समझने के लिए कतिपय स्थलों पर यशस्वी टीकाकारों — रघुदेव, रामभद्रसार्वभौम और विश्वनाथ की सहायता ली गयी है। कहीं–कहीं कॉर्ल पॉटर की टिप्पणी सहित आंग्लभाषा अनुवाद भी यथास्थान उद्धृत है। रघुनाथ शिरोमणि के परम्परा विरोधी विचारों का श्रुति सम्मत मण्डन करने वाले वेणीदत्त के आक्षेपों का समाधान टीकाकारों के अनुसार किया गया है। कतिपय स्थलों पर न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की 'दिनकरी', रामरुद्री, 'प्रभा' आदि टीकाओं मे 'नव्या:' के मतो को प्रस्तुत करते समय पूर्वपक्ष की सभावित शकाओ को प्रस्तुत करके उसका निराकरण किया गया है।

रघुनाथ शिरोमणि ने 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' मे विषय को सूत्र रूप मे प्रस्तुत किया है, इसलिए उनकी अन्य कृतियो 'किरणावलीप्रकाशदीधिति' तथा तत्त्वचिन्तामणि दीधिति इत्यादि तथा, दिनकरी, रामरुद्री, पदार्थतत्त्वविचेनप्रकाश आदि टीकाओं की सहायता से विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। दीधितिकार शिरोमणि के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती नैयायिको ने महर्षि गौतम तथा कणाद के द्वारा प्रतिपादित पदार्थों को ही पल्लवित करने का प्रयास किया है, उनके पुनर्विवेचन को महत्त्व नहीं दिया। सर्वप्रथम भासर्वज्ञ ऐसे नैयायिक हैं, जिन्होंने द्रव्य, गुण एव कर्म इन तीन पदार्थों पर ही अपनी मौलिक उद्‌भावनाएँ प्रस्तुत कीं। अपरार्कदेव ने भी इन्हीं का अनुकरण किया है। परन्तु रघुनाथ शिरोमणि परम्परागत मान्य वैशेषिक सप्त पदार्थों का पुनर्मूल्यांकन किया और कुछ नयी प्रस्थापनाएँ की है। उनकी युक्तियों में मौलिकता है। अपनी असाधारण प्रतिभा और तर्कशक्ति से न्यायशास्त्र के अनेक पुरातन सिद्धान्तो का युक्तिपूर्वक निषेध कर अनेक नूतन सिद्धान्तों की स्थापना की है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कुल सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'भारतीय दर्शन में न्याय' का है, जिसके अन्तर्गत न्याय-दर्शन का इतिवृत्त, न्याय-दर्शन के आचार्य और साहित्य, नव्य न्याय और रघुनाथ शिरोमणि, न्याय-वैशेषिक दर्शन की समानतन्त्रता और अन्यान्य दर्शनों की दृष्टि से न्याय-शास्त्रीय पदार्थों का स्वरूप विवेचित किया गया है। 'द्रव्यतत्त्व विवेचन' नामक द्वितीय अध्याय मे पृथिव्यादिचतुष्टयद्रव्य —— पृथिवी, जल, तेज, और वायु का प्रतिपादन किया गया है। आकाश, दिक् एव काल द्रव्य का न्याय-वैशेषिक दर्शन द्वारा (पूर्वपक्ष के रूप में) प्रतिपादन एवं रघुनाथ शिरोमणि मत के अन्तर्गत इनके स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन करके ईश्वर से अभिन्न स्वीकार किया गया है। परमाणुवाद न्याय-वैशेषिक दर्शन के सृष्टि-सिद्धान्त का आधार स्तम्भ है। वैशेषिक दर्शन में जहाँ परमाणु को निरवय माना गया है वहीं रघुनाथ शिरोमणि त्रसरेणु को निरवय मानते हैं। उनके अनुसार परमाणु एवं द्व्यणुक का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि त्रसरेणु से छोटे किसी अन्य द्रव्य को स्वीकार

नहीं किया जा सकता, साथ ही साथ परमाणु एवं द्व्यणुक की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। अतः रघुनाथ शिरोमणि परमाणु एवं द्व्यणुक के अस्तित्व का खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में 'मन' का पूर्वपक्ष के रूप मे स्वतन्त्र द्रव्यत्व की सिद्धि एव रघुनाथ शिरोमणि द्वारा खण्डन प्रस्तुत किया गया है। ईश्वर के परममहत् परिमाणवत्त्व का दीधितिकार द्वारा खण्डन भी प्रस्तुत अध्याय मे विवेच्य है।

तृतीय अध्याय 'गुणतत्त्व निरूपण' से सम्बन्धित है, जिसमें पृथक्त्व, परत्व-अपरत्व का न्याय-वैशेषिक द्वारा स्वतन्त्र गुण-रूप मे प्रतिपादन एवं रघुनाथ शिरोमणि द्वारा निराकरण किया गया है। इसके अलावा रूप, रस, गन्ध एव स्पर्श की अव्याप्यवृत्तित्व सिद्धि और चित्ररूप, चित्ररस, चित्रगन्ध एवं चित्रस्पर्श का तार्किक शिरोमणि द्वारा खण्डन किया गया है, साथ ही साथ अनुद्भूत रूपादि गुणो का भी रघुनाथ शिरोमणि द्वारा निराकरण उल्लेखनीय है। 'सामान्य (जाति) तथा विशेष पदार्थ विमर्श' नामक शीर्षक से चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित किया गया है। जिसमें सामान्य या जाति पदार्थ के अन्तर्गत न्याय-वैशेषिक दर्शन द्वारा पर सामान्य या सत्ता जाति की सिद्धि, गुणत्व जाति सिद्धि एवं अनुभवत्व जाति सिद्धि पूर्वपक्ष के रूप में तथा रघुनाथ शिरोमणि दृष्टि मे सत्ता जाति, गुणत्व एवं अनुभवत्व जाति का निराकरण किया गया है। 'विशेष' पदार्थ की कल्पना वैशेषिक दर्शन की मौलिक उपलब्धि है तथा 'वैशेषिक' नामकरण का आधार भी है। परन्तु रघुनाथ शिरोमणि द्वारा विशेष पदार्थ का खण्डन सिद्धान्तपक्ष के अन्तर्गत निरूपित किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का पचम अध्याय 'समवाय एवं अभाव पदार्थ परीक्षण' है, जिसके अन्तर्गत समवाय एवं अभाव दो खण्ड हैं समवाय पदार्थ खण्ड मे समवाय का पदार्थत्व, सिद्धि एव समवाय का एकत्व वैशेषिक दृष्टि को ध्यान में रखकर विवेचित किया गया है। दीधितिकार रघुनाथ द्वारा समवाय

के एकत्व का खण्डन करके उसके अनेकत्व की सिद्धि को सिद्धान्त पक्ष के रूप में उजाकर किया गया है। अभाव पदार्थ के अन्तर्गत अभाव का स्वरूप, अभाव का लक्षण एवं सिद्धि तथा अभाव के भेद —— प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव का विवेचन किया गया है साथ ही साथ नव्य नैयायिक शिरोमणि का मत 'अभावाभाव' के रूप मे उल्लेखनीय है।

षष्ठ अध्याय मे 'रघुनाथ शिरोमणि द्वारा प्रतिपादित नवीन पदार्थ' का प्रतिपादन किया गया है। पूर्वपक्ष के रूप मे भारतीय दर्शन के आचार्यों, विशेषतया न्याय-वैशेषिक द्वारा शंकाएँ एव रघुनाथ शिरोमणि द्वारा समाधान किया गया है। तार्किक शिरोमणि द्वारा मान्य नवीन पदार्थ हैं —— क्षण, स्वत्व, संख्या, शक्ति, कारणता, कार्यता, वैशिष्ट्य एव विषयता। उल्लेखनीय है कि रघुनाथ शिरोमणि पर मीमांसकों का प्रभाव परिलक्षित है। सख्या एवं शक्ति स्वतन्त्र पदार्थ के रूप मे प्रभाकर मीमांसा में अङ्गीकृत है। भाट्ट मीमासकों का अनुकरण करते हुए रघुनाथ शिरोमणि ने चक्षुरीन्द्रियग्राह्य न्यूनतम परिमाण विशिष्ट त्रसरेणु पर ही अवयवी-अवयव धारा की विश्रान्ति मानकर परमाणु एवं द्व्यणुक के अस्तित्व का खण्डन करते हैं।

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा 'कतिपय उठाई गयी मूलभूत समस्याएँ' सप्तम अध्याय में विवेच्य है, जिसमें मूर्तत्वभूतत्व का विचार, कर्म की अव्याप्यवृत्तित्व सिद्धि, द्रव्यप्रत्यक्षविचार, प्रत्यभिज्ञाविचार अनित्य संख्याओं की असमवायिकारणता का खण्डन, संशयविचार, शाब्दबोध के सम्बन्ध में एक विशेष समस्या और 'न' पद के सम्बन्ध में टिप्पणी आदि का विवेचन किया गया है। अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत न्याय-वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित सप्त पदार्थों का रघुनाथ शिरोमणि द्वारा खण्डन एवं नवीन स्थापनाएँ संक्षेप में व्याख्यायित हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध डॉ० हरिशंकर उपाध्याय के कुशल निर्देशन में सम्पन्न हुआ है, जिन्होंने नव्य न्याय जैसे महनीय विषय पर कार्य करने हेतु मुझे

निरन्तर उत्साहित किया। यह उनके असीम स्नेह, सुमधुर व्यवहार एवं गुरुतम परामर्श का ही प्रतिफल है कि शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर सकने मे समर्थ हो सका हूॅ। कार्य सम्पादन के इस अवसर पर मात्र कृतज्ञता ज्ञापन की औपचारिकता से मैं उऋण नहीं हो सकता।

इस विषय पर शोध-कार्य करने हेतु स्व० प्रो० संगमलाल पाण्डेय की उत्प्रेरणा एव मार्ग-दर्शन हमारे लिए सबल रहा है। इस अवसर पर उन्हें स्मरण करते हुए विनम्रतापूर्वक श्रद्धा-सुमन अर्पित करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूॅ।

विभागाध्यक्ष डॉ० मृदुलारविप्रकाश का परम आभारी हूॅ, जिन्होंने मेरे अनुसंधान-काल मे अपेक्षित सहायता कर मेरे प्रति अपनी उदारता प्रदर्शित की है। साथ ही डॉ० जटाशंकर त्रिपाठी के प्रति भी कृतज्ञ हूॅ, जिन्होंने समय-समय पर उचित मार्गदर्शन किया है।

डॉ० राजाराम शुक्ल (निदेशक, अनुसधान संस्थान, स० सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी) ने शोध-अवधि मे जो प्रोत्साहन तथा सम्प्रेरणा प्रदान किया, निश्चय ही न्याय-वैशेषिक दर्शन के अधिकारी विद्वान द्वारा किये गये दिक् निर्देशन के लिए मैं चिर ऋणी रहूँगा।

न्यायदर्शन के मनीषी प्रो० रघुनाथ गिरि, एवं सुधी विद्वान प्रो० वशिष्ठ त्रिपाठी, डॉ० किशोर नाथ झा, डॉ० रामपूजन पाण्डेय, डॉ० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, पं० हरिमोहन मालवीय, डॉ० रजनीश शुक्ल, डॉ० शशिप्रभा कुमार, डॉ० हरीराम मिश्र, डॉ० आनन्द मिश्र, डॉ० शारदा पाण्डेय जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर प्रत्यक्षवार्ता के द्वारा अतिशय सरलता के साथ अपने बहुमूल्य सुझावों से हमें लाभान्वित किया है। मैं इन नदीष्ण विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूॅ।

परिवारजनो मे सर्वप्रथम, ममतामयी माँ श्रीमती श्यामकुमारी शुक्ला एव परमादरणीय पिता डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल, जिन्होने उच्चातिउच्च शैक्षणिक योग्यता अर्जित करने की प्रेरणा देकर अनुसंधान कार्य हेतु प्रोत्साहित किया, उनके प्रति अभार व्यक्त करना मात्र औपचारिकता होगी। वस्तुत: मैं आजन्म उनसे ऋण मुक्त नहीं हो सकता। ऋण मुक्त होना भी नहीं चाहता, क्योकि उनके ऋण के भार से बोझिल होकर ही जीने मे वास्तविक सुख का अनुभव करता हूँ। अपने श्रद्धेयास्पद दादा प० देवीदत्त शुक्ल एव परिवार के अन्य स्नेंही जनो के प्रति आभारी हूँ, जिनकी सत्-प्रेरणा तथा आशीर्वाद ही शोध अवधि में हमारा पाथेय रहा है। अनुसध्ाान कार्य निष्पादन हेतु अनुजा अर्चना शुक्ला एवं ज्योत्स्ना शुक्ला मुझे सदैव स्नेहासिक्त-भाव से कुरेदती रही हैं। अत: उनके प्रति मेरी अनन्त सद्भावनाएँ हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की आधारभूत सामग्री मुझे केन्द्रीय संदर्भ पुस्तकालय (दिल्ली विश्वविद्यालय), सयाजीराव गायकवाड़ केन्द्रीय ग्रन्थालय (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय), सरस्वती भवन पुस्तकालय (स० स० विश्वविद्यालय, वाराणसी) एव इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। एतदर्थ मैं इन पुस्तकालयो के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जहाँ तक प्रस्तुत प्रबन्ध के कम्प्यूटर टंकण की बात है, कम्प्यूटर टंकण में निपुण श्री विजय शाक्या (शाक्या कम्प्यूटर, डी० एल० डब्ल्यू०, वाराणसी) ने किया है, वास्तव में उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित न करना कृतघ्नता होगी।

अन्त मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति विशेष श्रद्धानत् हूँ, जिसके तत्त्वावधान में मेरा यह शोध-प्रबन्ध सम्पन्न हुआ।

उत्तम कुमार शुक्ल

उत्तम कुमार शुक्ल

शोध छात्र

दर्शन–विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रथम अध्याय

भारतीय दर्शन में न्याय

भारतीय-दर्शन में न्याय

भारतीय दार्शनिक गवेषणा का मूल एवं अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। प्राणिमात्र को मोक्ष प्राप्त कराने की कामना से हमारे प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न दार्शनिक शाखाओ एव उपशाखाओं का प्रणयन तथा विस्तार किया है। सभी ने एक मत से तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन माना। उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि अधिकांश दार्शनिक चिन्तनधारा श्रुत्याधारित है और श्रुति तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानती है —— 'तमेवविदित्वा अतिमृत्युमेतिनान्य. पन्था. विद्यते अयनाय' इत्यादि श्रुतियाँ इस सन्दर्भ मे प्रमाण-रूप में प्रस्थापित की जाती हैं। जिन चिन्तकों ने श्रुति को अपना सर्वस्व नहीं माना अथवा जिन्होंने श्रुति की नितान्त उपेक्षा की, उन्होंने भी मोक्ष के लिए तत्त्वज्ञान की उपयोगिता को अवश्य स्वीकार किया है। [१]

न्याय-दर्शन की चिन्तनधारा उक्त कोटि की है। यद्यपि न्याय-दर्शन मे श्रुति को पूर्ण सम्मानजनक स्थान दिया गया है, किन्तु अपने प्रतिपाद्य-तत्त्व के प्रतिपादन में नैयायिक युक्ति पर अधिक विश्वास करते हैं, क्योकि उनकी मान्यता है कि श्रुति सम्मत अर्थ तभी स्वीकार्य एवं अकाट्य होगा, जब तर्क रूपी कसौटी पर खरा पाया जायेगा। यद्यपि वेदान्त आदि औपनिषद् दर्शन में तर्क की प्रधानता या अप्रतिष्ठा [२] ही प्रतिपादित की गयी है, तथापि उन्हें भी अपने ऊपर आये आक्षेपो के निराकरण के लिए न्याय पद्धति का आश्रय लेना पड़ा।

दर्शनिक संवाद की पुष्टता एवं अपने पक्ष को 'इदमित्थम्' भाव से प्रतिपादित करने की क्षमता न्याय-दर्शन की दार्शनिक वाड्मय को एक अनुपम देन है।

---

१. भारतीय दर्शन वाड्मय में तीन प्रकार की चिन्तनधारा दृष्टिगत होती है -
   (क) वेदसर्वस्ववादी चिन्तनधारा - यथा, वेदान्त एव मीमासा।
   (ख) वेदानुयायी किन्तु वेद को सर्वस्व न मानकर 'युक्ति' को सर्वस्व मानने वाली विचारधारा - यथा, न्याय एव वैशेषिक।
   (ग) वेद-निरपेक्ष चिन्तनधारा - बौद्ध, जैन आदि।

२. 'तर्काप्रतिष्ठातान्' - ब्रह्मसूत्रभाष्य, २/१/११

सवाद की प्रक्रिया अनवरत बढने के साथ-साथ अपने पक्ष के प्रति आग्रह के चलते कथा मे जैसे-जैसे 'वाद' के साथ क्रमश: 'जल्प' और 'वितण्डा' को पर्याप्त स्थान मिलता गया, वैसे-वैसे तर्कशास्त्र की उपयोगिता भी दार्शनिक समाज मे बढ़ती गयी। न्याय-दर्शन भी 'प्रमेय' पदार्थ प्रधान होने के साथ शनै शनै. 'प्रमाण' प्रधान होता गया। इस क्रम मे महामहोपाध्याय गगेशोपाध्याय का अवतार एक अभूतपूर्व और विस्मयावह घटना बन गयी। गंगेशोपाध्याय द्वारा लिखित 'तत्त्वचिन्तामणि' को दार्शनिक वाङ्वामय के लिए विशेषकर संवादित साहित्य (वाद-विवाद) के लिए अमूल्य उपहार मान लिया गया। इस ग्रन्थ में न केवल अनेक नयी मान्यताओं का पल्लवन किया गया, न केवल मीमासा, बौद्ध आदि पक्षो का प्रबलतम युक्तियो द्वारा निराश किया गया, अपितु एक नवीन पद्धति का भी उद्‌भावन किया गया है; इसे नव्य-न्याय की संज्ञा दी गयी है।

नव्य-न्याय में युक्तियों को इतना पुष्ट एव परिमार्जित रूप दिया कि परवर्ती समस्त दार्शनिक चिन्तनधारा का यह एक मूल आधार ही बन गया। यहॉ तक कि न्याय विरोधी विचारधारा मे भी न्याय सिद्धान्तों के खण्डन के लिए इसी पद्धति का आश्रय लिया गया। इतना ही नहीं, साहित्य व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि तटस्थ विचारधारा में भी नव्य-न्याय की परिष्कार पद्धति का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से न्याय-दर्शन का भारतीय-दार्शनिक वाङ्मय में एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

(i) न्याय-दर्शन का इतिवृत्त

वेदों को प्रामाण्य मानने वाले आस्तिक दर्शनों में न्याय-दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। वात्स्यायन के 'प्रमाणै: अर्थपरीक्षणं न्याय:' के अनुसार न्याय उस प्रणाली का नाम है, जिसमें वस्तु-तत्त्व के निर्धारणार्थ सभी प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। 'न्याय' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है, फिर भी न्याय-विद्या के अर्थ मे इसका प्रयोग बाद में हुआ है। साधारणत: 'न्याय' शब्द का अर्थ है – 'नियमेन ईयते' अर्थात् नियमयुक्त व्यवहार। न्यायालय, न्यायाधीश आदि प्रयोग इसी अर्थ को लेकर है। 'सदृश' अर्थ में भी न्याय का व्यवहार होता है। जैसे, बीजांकुरन्याय, काकतालीय न्याय, स्थालीपुलाकन्याय आदि। वर्तमान दार्शनिक साहित्य में न्याय का अर्थ है –

'नीयते-प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः।'

अर्थात् जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके, जिसकी सहायता से किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके, उसी का नाम 'न्याय' है।

न्यायशास्त्र को 'आन्वीक्षिकी' विद्या भी कहते हैं। आन्वीक्षिकी विद्या का अर्थ है - प्रत्यक्षदृष्ट तथा शास्त्रश्रुत विषयो के तात्त्विक स्वरूप को अवगत कराने वाली विद्या। वात्स्यायन ने 'न्यायभाष्य' में कहा है -

'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा। तथा प्रवतत् इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या-न्यायशास्त्रम्' [१]

आधुनिक समय में 'न्यायशास्त्र' या 'तर्कशास्त्र' शब्द ही विशेष प्रचलित है। न्यायशास्त्र का अध्ययन करने से 'वाद' करने की कला में प्रवीणता आती है। अत: इसे 'वाद-विद्या' भी कहते हैं। न्याय-दर्शन में प्रमाण का विवेचन मुख्य रूप से किया गया है। अत: इसे 'प्रमाण-शास्त्र' भी कहते हैं। 'साध्य' वस्तु को प्रमाणित करने का साधन 'हेतु' है। इसलिए नैयायिक-गण 'हेतु' को अनुमान प्रमाण की 'रीढ़' कहा है। इसी अर्थ में न्यायशास्त्र का एक नाम 'हेतुविद्या' भी है।

न्यायशास्त्र का आद्यग्रन्थ 'न्यायसूत्र' है, जिसके रचयिता अक्षपाद, गौतम हैं। इस ग्रन्थ में पॉच अध्याय हैं। यह रचना जगत् के विविध यातनाओं से पीड़ित प्रतिणवर्ग के कल्याणार्थ की गयी है। आचार्य गंगेश उपाध्याय स्वप्रणीत ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के प्रारम्भ में कहा है —

'अथ जगदेव दु:खपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षु: अष्टादशविद्यास्था-नेष्वभ्यहिततमामान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनि: प्रणिनाय।'

---

१ वा० भा०, १/१/१

'न्यायसूत्र' के प्रवर्तक गौतम मुनि ने 'नि:श्रेयस की प्राप्ति' ही इस शास्त्र का मूल प्रयोजन बताया है। मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थो को माना है।[१]

न्याय-दर्शन की गुणवत्ता का वर्णन करते हुए 'सुभाषितरत्नभाण्डारागारम्' में कहा गया है —— 'न्यायशास्त्र मोह को दूर करता है, बुद्धि को विमल बनाता है, वाणी को परिष्कृत करता है तथा अन्य शास्त्रो को समझने के लिए बुद्धि को समर्थ करता है। न्यायशास्त्र कौन सा उपकार नहीं करता है?'[२]

प्रमाणमीमासा, न्याय-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसमे ज्ञान एव उसके साधनों का गहन चिन्तन प्राप्त होता है। आत्मा ज्ञान का आश्रय माना जाता है और ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है। ज्ञान आत्मा में उस समय उत्पन्न होता है, जब ज्ञेय के सम्पर्क में आत्मा आती है। न्याय-दर्शन मे ज्ञान अपने विषय का प्रकाशक है, स्वप्रकाशक नहीं —— 'अर्थप्रकाशो वा बुद्धि।'[३] जबकि जैन-दर्शन में मान्यता है कि ज्ञान बाह्य वस्तुओ को प्रकाशित करता है और स्वयं को भी - 'ज्ञानं स्वपरभासि'।

ज्ञान दो प्रकार का माना गया है —— १. अनुभव तथा २- स्मृति। अनुभव को पुन: यथार्थ अनुभव (प्रमा) और अयथार्थ अनुभव (अप्रमा) में विभाजित किया गया हैं संस्कार जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। अनुभव स्मृति से भिन्न है।[४]

---

१. 'प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:।'

— न्या० सू०, १/१/१

२ मोह रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धिं
सूते च सस्कृतपदव्यवहारशक्तिम्
शास्त्रान्तराभ्यसनयोग्यतया युनक्ति
तर्कश्रमो न तनुते किमिहोपकारम्॥'

— सुभाषितरत्नभाण्डारागारम वृ०-४२

३. तर्कभाषा:बदरीनाथ शुक्ल (अनु०) पृ० ३१८

४. ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृति·, अनुभवोनामस्मृतिव्यतिरिक्त ज्ञानम्। — त० भा०, पृ० १६

प्रत्येक अनुभव के नष्ट होने के उपरान्त उस ज्ञान का सस्कार मनुष्य की आत्मा पर अकित हो जाता है, जो कालान्तर मे सादृश्य दर्शन से पुन· उद्बुद्ध हो उठता है। संस्कारो द्वारा उत्पन्न इस ज्ञान को स्मृति कहते हैं। यथार्थ-अनुभव को 'प्रमा' कहा जाता हैं यथार्थ-अनुभव किसी वस्तु का अपने स्वरूप मे ज्ञान है।[१] उदाहरण के लिए घड़े को घड़े के रूप में जानना 'प्रमा' है। न्याय-दर्शन मे प्रमा के चार भेद बताए गये हैं —— प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द और उपमिति। 'प्रमा' की प्राप्ति जिस साधन द्वारा होती है, उसे'प्रमाण' कहते हैं। न्याय-दर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान ये चार प्रमाण माने गये है।[२]

प्रमा के तीन अग नैयायिकाचार्यों द्वारा स्वीकार्य है - **प्रमाता** (Knower)-ज्ञान प्राप्त करने वाले को 'प्रमाता' कहते है। **प्रमेय** (objects of knowledge)-ज्ञान के विषय को 'प्रमेय' कहते हैं। **प्रमाण** (Sources of knowledge)-ज्ञान के साधन को 'प्रमाण' कहते हैं।

अयथार्थ-अनुभव 'अप्रमा' है।[३] उदाहरण के लिए, शुक्ति का रजत के रूप में ज्ञान। अप्रमा तीन प्रकार का है-संशय, विपर्यय एवं तर्क। संशय अनवधारणात्मक अनुभव है। इसमें किसी वस्तु का तो अनुभव अवश्य होता है, पर उस वस्तु का निश्चय नही हो पाता। जैसे, सामने दिखाई देती हुई वस्तु का निश्चय न हो पाना कि वह वस्तु 'स्थाणु' (ठूठावृक्ष) है या मनुष्य। अप्रमा का दूसरा भेद विपर्यय (भ्रम) है, जो विपरीत अनुमान का नाम है 'प्रमा' का यह भेद बिल्कुल विपरीत है। इसे 'मिथ्योपलब्धि' भी कहा जाता है। क्योंकि इसमें वस्तु के

---

१. तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। — तर्कसग्रह शेषराजशर्मा (टीका०), पृ० २९

२ तानि च प्रमाणानि चत्वारितथा च न्यायसूत्रम-प्रत्यक्षानुमानोपमानशव्दा प्रमाणानि।
— त०भा०, पृ० ५९

३. तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः
— त०स०, पृ० ३०

स्वरूप का मिथ्याज्ञान होता है।[१] न्याय-दर्शन में इसे 'अन्यथाख्याति' कहा जाता है; क्योंकि विपर्यय में वस्तु के स्वरूप का अन्यथा-ज्ञान होता है तर्क अप्रमा का तीसरा भेद है। तर्क की आवश्यकता व्याप्ति-निश्चय मे होती है। व्याप्त के आरोप से व्यापक का आरोप ही तर्क है। इसमें किसी भी वस्तु का यथार्थ-अनुभव नही होता, अतएव तर्क प्रमा नही है।

महर्षि गौतम द्वारा 'न्यायसूत्र' में प्रतिपादित सोलह पदार्थो मे 'प्रमाण' सर्वोपरि पदार्थ है। भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण ज्ञान या उपलब्धि के साधन हैं।[२] 'न्याय-सूत्र' में प्रतिपादित चतुस्र प्रमाणों का विवेचन अधोलिखित है-

प्रत्यक्ष प्रमाण —— न्याय-दर्शन मे प्रत्यक्ष पहला प्रमाण है। यह अन्य प्रमाणो का आधार भी है।[३] प्रत्यक्ष की दो परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं —— पहली प्राचीन-न्याय द्वारा एवं दूसरी नव्य-न्याय द्वारा। महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा दी है ——

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'[४]

अन्नम्भट्ट ने भी प्रत्यक्ष का अर्थ इन्द्रियो का विषय से सम्पर्क होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न ज्ञान किया है।[५] 'प्रशस्तपाद-भाष्य' में प्रत्यक्ष का लक्षण दिया गया है - 'तत्राक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्, अक्षाणीन्द्रियाणि, घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छोत्रमनांसि षट्।'[६] प्रत्यक्ष की इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में दो चीजे ध्यातव्य हैं- प्रथम, यह एक त्रुटिरहित ज्ञान है और द्वितीय, इसमें विषय

---

१. अवधारणरूपातत्वज्ञान विपर्ययः। -स०प्र०

२. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणनि . ... प्रमीयतेडनेनेतिकरणार्थमिधायिनोहि प्रमाण शब्दः।' — वा०भा०, १/१/३

३ सर्वप्रमाणा प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। - न्या०वा०ता० टी०, १/२/३

४ न्या०सू०, १/१/१४

५. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्' — त०स०, पृ० ३७

६. प्र०पा०भा० (न्यायकन्दली टीका), पृ० ४४२

के साथ ज्ञानेन्द्रियो का सम्पर्क आवश्यक है। कालान्तर मे नव्य–नैयायिक गगेश उपाध्याय एव विश्वनाथ पचानन आदि आचार्यों ने प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा को सकीर्ण बताया। क्योकि इन परिभाषाओ मे इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष आवश्यक है, किन्तु योगज आदि ज्ञान ऐसे प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के उदाहरण हैं, जो बिना इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के ही प्राप्त होते हैं। ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान है; किन्तु उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है। इन कठिनाइयो के कारण प्रत्यक्ष की उपर्युक्त दी गयी परिभाषाएँ अपूर्ण प्रतीत होती हैं। नव्य–नैयायिक आचार्य गगेश उपाध्याय के अनुसार 'प्रत्यक्ष' का लक्षण है–'विषय की साक्षात् प्रतीति।[१] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार–'प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जो अन्य ज्ञान से उत्पन्न न हो।'[२]

लौकिक–प्रत्यक्ष सन्निकर्ष के अभाव में संभव नहीं है। अत· नैयायिकों ने सन्निकर्ष के छह भेद माना है – संयोग संयुक्त–समवाय, संयुक्त–समवेत–समवाय, समवाय, समवेत–समवाय और विशेषण–विशेष्यभाव।[३]

प्रत्यक्ष का विभाजन निर्विकल्पक एवं सविकल्पक रूप में किया गया है।[४] वस्तुत: निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष के दो भेद नहीं, बल्कि दो अवस्थाएँ हैं। निर्विकल्पक अवस्था में वस्तु के अस्तित्त्व का आभास होता है। इसमें वस्तु के विशिष्ट गुणों का ज्ञान नहीं होता है। इसके विपरीत सविकल्पक अवस्था में वस्तु का निश्चित एवं स्पष्ट ज्ञान होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्णायक हैं इसके संबंध में सत्यता एव असत्यता का प्रश्न उठता है। 'प्रत्यभिज्ञा' भी सविकल्पक प्रत्यक्ष का एक विशेष

---

१. 'प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्' — तत्त्वचिन्तामणि, (प्रत्यक्ष–खण्ड)

२ 'ज्ञानाकरणकं ज्ञान प्रत्यक्षम्' –न्या०सि०मु०,

३ इन्द्रियार्थयोस्तु य· सन्निकर्ष· साक्षात्कारिप्रमाहेतु. स षड्विध एव। तद्यथा सयोग. संयुक्तसमवाय सयुक्तसमवेतसमवाय:, समवाय·, समवेतसमवाय·, विशेष्य विशेषणभावश्चेति।

– तर्कभाषा, पृ०७३

४. सा च द्विधा सविकल्पक–निर्विकल्पकभेदात्। — तर्कभाषा, पृ० ५९

रूप है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है-'पहचानना'। भूतकाल मे देखी गयी वस्तु को वर्तमान काल में पुन· देखने पर पहचान लेना प्रत्यभिज्ञा है।

न्याय-दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद है —– लौकिक प्रत्यक्ष एव अलौकिक प्रत्यक्ष। लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान उस समय होता है, जब ज्ञानेन्द्रिय एव विषय का सम्पर्क साधारण ढग से होता है। इन्द्रियो एव विषयों के साथ असाधारण सबंध ही अलौकिक प्रत्यक्ष है। लौकिक प्रत्यक्ष केदो प्रकार हैं- 'वाह्य प्रत्यक्ष' एव 'मानस्प्रत्यक्ष'।

बाह्यप्रत्यक्ष —– जब वाह्य इन्द्रियों का वस्तु के साथ सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क से होने वाला प्रत्यक्ष वाह्य प्रत्यक्ष कहा जाता हैं। वाह्य ज्ञानेद्रियाँ पाँच प्रकार की हैं- आँख, कान, नाक, जीभ एवं त्वचा, इसलिए वाह्य प्रत्यक्ष भी पाँच प्रकार का होता है।

मानस्प्रत्यक्ष —– मन को न्याय-दर्शन में एक आन्तरिक इन्द्रिय माना गया हैं। मन के द्वारा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं। यद्यपि मन एक ज्ञानेन्द्रिय है, फिर भी वाह्य ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न है। वाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ पंचमहाभूतों से निर्मित होने के कारण अनित्य है परन्तु मन परमाणु-निर्मित और निरवयव होने से नित्य है।

जिस सन्निकर्ष में लोकगम्य ग्राह्यग्राहकभाव स्वभावत: नहीं होता, इस प्रकार के जितने भी सन्निकर्ष होते हैं वे लोक में सर्वजनगम्य न होने तथा अप्रसिद्ध होने से अलौकिक सन्निकर्ष कहे जाते है। नैयायिको ने अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद बताये हैं।

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविध: परिकीर्तिक:।
सामान्यलक्षणों ज्ञानलक्षणे योगजस्तथा।। [१]

---

१. भा० परि० कारिकावली : प्रत्यक्षखण्ड, ६३

सामान्यलक्षण-प्रत्यक्ष —— नैयायिको के अनुसार व्यक्ति विशेष का प्रत्यक्ष होने पर जो तत्सम्बन्धी सामान्य या जाति का प्रत्यक्ष होता है, उसे 'सामान्य-लक्षण-प्रत्यक्ष' कहते हैं। न्याय वस्तुवादी दर्शन है। उसके अनुसार सामान्य या जाति का इन्द्रियार्थसन्निकर्ष असाधारण रीति से होता है अत· इसका अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। उदाहरण के लिए, जिस समय चक्षु का धूम से सम्पर्क होता है, उसी समय सयुक्त समवाय सम्बन्ध से धूमत्व जाति का भी ज्ञान हो जाता है।

ज्ञातव्य है कि सामान्य-लक्षण प्रत्यक्ष के विषय मे दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने उक्त प्रयोजनों का प्रकारान्तर से उपपादनकर इस प्रमाण को अस्वीकृत कर दिया है। इस विषय में रघुनाथ एवं उनके गुरु पक्षधर मिश्र का मतभेद तथा शास्त्रार्थ पसिद्ध है। सामान्य लक्षण के विरुद्ध रघुनाथ शिरोमणि द्वारा दिये गये तर्कों से त्रस्त हुए मिश्र की यह वक्रोक्ति न्यायाजगत् में सर्वविदित है-

वक्षोजपानकृत काण! संशये जाग्रति स्फुटम्।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते।। [१]

ज्ञानलक्षण-प्रत्यक्ष —— ज्ञानलक्षण-प्रत्यक्ष अलौकिक सन्निकर्ष का वह भेद है, जिसके द्वारा इन्द्रिय अपने-अपने विषय से भिन्न विषय का ज्ञान भी ग्रहण करती है। जैसे, 'सुरभि-चन्दनखण्डम्', कोई व्यक्ति दूर से ही चन्दन के टुकड़े को देखकर कहता है-'चन्दन का टुकड़ा सुगन्धित है।' सामान्यत: ऑख देखने का कार्य करती है। प्रश्न उठता है कि चन्दन के टुकड़े को दूर से देखकर फिर सुगन्ध का ज्ञान कैसे होता है? न्याय-दर्शन के अनुसार अतीत में दो गुणों को सदा एक साथ प्रत्यक्ष करते रहने पर इसमें साहचर्य स्थापित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप एक विषय का अनुभव होते ही दूसरे विषय का अनुभव स्वभावत: होने लगता है।

---

१. त०भा० : बदीरनाथ शुक्ल (अनु०), पृ० ८५

अद्वैत-वेदान्त ने न्यायदर्शन के ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष की अवधारणा का खण्डन करते है। [१] वे चेतना की मिश्रित इकाइयों को नहीं स्वीकार करते। प्रत्येक मनोविकार अपने आप में एक इकाई है और भिन्न है। मन का सूक्ष्म स्वरूप एक साथ ही दो मनोविकारों को संभव नहीं बना सकता। अत· न्याय-दर्शन का यह मत गलत है कि एक ही ज्ञानेन्द्रिय दो प्रकार के ज्ञान का ग्रहण करती है, जो उसके क्षेत्र से भिन्न है।

योगज-प्रत्यक्ष — यह प्रत्यक्ष समाधि की अवस्था में योगयों को होता है। न्याय-दर्शन के साथ ही साथ जैन, बौद्ध एव वेदान्त दार्शनिक भी योगज प्रत्यक्ष को स्वीकार करते है। योगियो को साक्षात् अनुभव इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से न होकर उनकी यौगिक शक्ति से होता हैं योगी लोग निरन्तर योग का अभ्यास कर के दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेते है, जिन्हें 'युक्त' कहा जाता हैं। जिन्हे आंशिक सिद्धि प्राप्त है, उन्हे ध्यान लगाने की आवश्यकता होती हैं; ऐसे पुरुष को 'युंजान' कहा गया है।

अनुमान-प्रमाण — अनुमान न्याय-दर्शन का दूसरा प्रमाण है। अनुमान दो शब्दों का योगफल है-अनु और मान। 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात'; मान का अर्थ है 'ज्ञान'। इसप्रकार अनुमान का शाब्दिक अर्थ बाद में होने वाला ज्ञान है। महर्षि वात्स्यायन ने अनुमान का लक्षण किया है- 'प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा लिङ्ग के ज्ञान से बाद में विषय का होने वाला ज्ञान अनुमान है।'

'मितेनलिङ्गनार्थस्य अनुपश्चान्मानमनुमानम्'

जैसे, पर्वत पर धुएँ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होने पर धुएँ और आग के साहचर्य का स्मरण करके अदृष्ट आग का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है। प्रत्यक्ष ज्ञान स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष रूप से ज्ञान का साधन है, जबकि अनुमान अपनी उत्पत्ति के लिए प्रत्यक्ष पर आश्रित है इसलिए अनुमान को 'प्रत्यक्षमूलक' ज्ञान कहा गया है प्रत्यक्ष मे विषयों का साक्षात्कार होता है, इसी कारण इसे अपरोक्ष ज्ञान (Immediate Knowledge)

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० १३७-१३९

कहा जाता है तथा अनुमान मे विषयो का साक्षात्कार नहीं होता, अत· इसे परोक्षज्ञान (Mediate knowledge) की सज्ञा दी जाती है।

उल्लेख्य है कि नैयायिकों ने 'व्याप्ति' को अनुमान का 'प्राण' कहा है, जिसके अभाव मे अनुमान सभव नहीं है। दो वस्तुओ के साहचर्य-सबन्ध को व्याप्ति कहते हैं।[१] व्याप्तिसबन्ध अविनाभाव सम्बन्ध भी कहलाता है अविनाभाव का अर्थ है- 'एक के अभाव मे दूसरे का भाव न हो।' उदहारण के लिए, धूम और अग्नि में नियत सबन्ध मान सकते हैं, क्योंकि धूम कभी भी अग्नि से पृथक् नहीं रहता, परन्तु अग्नि तथा धूम का सम्बन्ध बिल्कुल एकान्तिक नित्य नहीं है, क्योकि बहुत से ऐसे स्थल होते हैं, जैसे गरम लोहे मे।

व्याप्ति दो प्रकार की होती है- समव्याप्ति और विषमव्याप्ति। समव्याप्ति मे एक से दूसरे का तथा दूसरे से पहले का अनुमान कर सकते हैं। जैसे कार्य से कारण का और कारण से कार्य का। द्रव्य एव गुण मे भी समव्याप्ति होती है, क्योकि द्रव्य निर्गुण नहीं हो सकता तथा गुण निराधार नहीं हो सकता। विषमव्याप्ति व्याप्ति का दूसरा प्रकार है। धूम एवं अग्नि में विषमव्याप्ति है, क्योंकि धूम से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है, परन्तु अग्नि से धूम का अनुमान संभव नहीं। न्याय-दर्शन मे व्याप्ति स्थापना के निम्नलिखित छ: सोपान है —

अन्वय — एक वस्तु के भाव से दूसरी वस्तु का भाव होना अन्वय-व्याप्ति कहलाता है। जैसे जहॉ-जहॉ धुऑ है, वहाँ-वहाँ आग है।

व्यतिरेक —'तदाभावे तदाभाव:' पहले के अभाव में दूसरे का भी अभाव होना व्यतिरेक कहलाता है। जैसे जहॉ-जहॉ धूम का अभाव है, वहॉ-वहॉ अग्नि का अभाव है।

उपाधिनिराश — उपाधि का लक्षण है-'साध्य व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' अर्थात् जो धर्म साध्य का व्यापक हो तथा साधन का अव्यापक

---

१. 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राऽग्नि:' इति साहचर्यनियमो व्यादिप्त:। - त०सं०, पृ० ४७

हो, उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे कोई कहे कि 'लोहे का गोला धूमवान है, क्योंकि उसमे अग्नि है', तो यह अनुमान दूषित होगा। इसका कारण इसमे आर्देन्धनत्व रूप उपाधि है। अत व्याप्ति के विषय मे यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि कही स्थापित व्याप्ति मे कोई उपाधि तो नही है।

व्यभिचाराग्रह —— दो वस्तुओ के बीच व्यभिचार का अभाव व्यभिचाराग्रह कहलाता है। व्याप्ति सबन्ध की निश्चितता व्यभिचार के अभाव पर ही निर्भर करती है।

तर्क —— नैयायिक तर्क का प्रयोग शका निवारक के अर्थ में करते हैं।[१] मान लीजिए धूम एव अग्नि के साहचर्य के विषय में शंका का निवारण तर्क द्वारा यो किया जाता है ——'सभी धूमवान् पदार्थ अग्निमान् हैं, यह असत्य है तो 'कुछ धूमवान् वह्निमान नहीं' अवश्य ही सत्य होगा। किन्तु यह सामान्य अनुभव के विरूद्ध है। इसका खण्डन कार्य-कारण नियम से हो जाता है। अत: धूमवान पदार्थ वह्निमान है, सत्य होगा।

प्राचीन नैयायिकों ने प्रयोजन के आधार पर अनुमान के दो भेद किये हैं-स्वार्थानुमान एव परार्थानुमान।[२] स्वार्थानुमान स्वत: अपनी संशय निवृत्ति के लिए किया जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। स्वार्थानुमान के वाक्यो को क्रमबद्ध रखने की आवश्यकता नहीं होती। इस अनुमान का आधार पूर्व-अनुभव हैं। परार्थानुमान दूसरों की संशय निवृत्ति के लिए होता है। इसमें वर्तवाक्यों को एक व्यवस्था में रखना आवश्यक होता हैं। परार्थानुमान में पाँच अवयव होते हैं। अत: इसे 'पंचावयव-अनुमान' भी कहा जाता है।

प्रतिज्ञा - पर्वत मे अग्नि है।
हेतु - क्योकि वहॉ धुऑ है।
उदाहरण - जहॉ-जहॉ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है। जैसे महानस!

---

१ 'तर्क शकानिवर्तक:' - न्या कु०

२. अनुमानं द्विविध-स्वार्थं पराऽर्थ च।

-त० स०, पृं०-४९

उपनय - पर्वत मे धुऑं है।

निगमन - पर्वत मे अग्नि है।

विवेच्य सदर्भ में उल्लेख करना समीचीन होगा कि अनुमान के 'पक्ष', 'साध्य', और 'हेतु' को ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने अपने दर्शन मे 'Minor', Major' and 'Middle' के रूप मे प्रयोग किया है। मीमासा दर्शन, नैयायिको द्वारा मान्य अनुमान के 'पचावयव' को न मानकर शुरू या अन्त के केवल तीन अवयवो को स्वीकार किया है; फिर भी न्याय-दर्शन का परार्थानुमान प्रसिद्ध है। गौतम के तर्कशास्त्र का यह अनमोल रत्न है।

महर्षि गौतम ने 'न्यायसूत्र' में अनुमान के तीन भेद किये हैं-

पूर्ववत् अनुमान - यह अनुमान ज्ञात कारण के आधार पर अज्ञात कार्य के रूप मे किया जाता है जैसे आकाश में घने काले बादल को देखकर भारी वर्षा होने का अनुमान करना।

शेषवत् अनुमान - ज्ञात कार्य के आधार पर अज्ञात कारण का अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहलाता है। उदाहरण के लिए, प्रात: काल चारों ओर पानी भरा देखकर रात में वर्षा हो चुकने का अनुमान करना।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान - यह अनुमान कार्य-कारण संबन्ध के ज्ञान पर आधारित न होकर 'सह-अस्तित्त्व' (Co-existence) के ज्ञान पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए, किसी पशु के सीगों को देखकर उसके खुर फटे होने का अनुमान करना।

नव्य-नैयायिकों ने भी अनुमान को तीन प्रकार से बांटा है, जिसका वर्णन अधोलिखित है [१]

---

१. लिङ्ग त्रिविध-अन्वयव्यतिरेकी, केवलाऽन्वयि केवलव्यतिरेकि चेति। -त०स०, पृं०-५३

केवलान्वयी – इस अनुमान का आधार अन्वय-व्यप्ति है। इसमे हेतु तथा साध्य मे नियत-साहचर्य देखा जाता है।[१]

जैसे- सभी प्रमेय अभिधेय है।

घट प्रमेय है।

अत घट अभिधेय है।

केवलव्यतिरेकी – जिस अनुमान में व्याप्ति की स्थापना निषेधात्मक उदाहरणो के द्वारा संभव हो, उसे 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान कहा जाता है।[२]

जैसे -सभी आत्मरहित वस्तुएॅ चेतनारहित हैं।

सभी जीव चेतन हैं।

अत· सभी जीवो में आत्मा है।

अन्वय-व्यतिरेकी – इस अनुमान मे व्याप्ति अन्वय व व्यतिरेक मूलक होती है।[३] अन्वय रूप मे-सभी धूमवान वहिनमान हैं, पर्वत धूमवान है, अत· पर्वत वह्मिमान है। व्यतिरेक रूप में जहॉ-जहॉ अग्नि नही है, वहॉ-वहॉ धूम नही है, इस पवर्त मे धूम है, इसलिए इस पर्वत मे अग्नि है।

न्याय-दर्शन में अनुमान के दोष को 'हेत्वाभास' कहते हैं। अनुमान हेतु पर निर्भर करता है। हेतु में दोष आ जाने पर अनुमान भी दूषित हो जाता हैं उल्लेख्य है कि अनुमान का आधार पक्षधर्मता[४] तथा व्याप्ति संबध है। पक्षधर्मता-पक्ष में हेतु की उपस्थिति है और व्याप्ति-हेतु और साध्य का नियत साहचर्य संबंध। हेतु साध्य को सिद्ध करने की योग्यता तभी रखता है, जब हेतु मे ये विशेषताऍ पायी जायॅ-पक्षवृत्ति सपक्षवृत्ति, विपक्षाद्व्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्ष और अबाधिकत्व। इन विशेषताओ के

---

१ 'अन्वयमात्रव्याप्तिक केवलाऽन्वयि' - त० स०, पृ०-५५

२ 'व्यतिरेकमात्रव्याप्तिक केवलव्यतिरेकि' - वही, पृ०-५६

३ 'अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि'-वही, पृ० ५३

४. 'व्याप्यस्य पर्वतावृत्तित्व पक्षधर्मता'

– त० स०, पृ० ४८

अभाव से हेतु मे साध्य को सिद्ध करने की योग्यता नहीं होती है। नैयायिको ने हेत्वाभास के पॉच भेद माने है-सव्यभिचार, विरुद्ध, सटयप्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित। [१]

शब्द प्रमाण —— न्यायशास्त्र मे 'शब्द' स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है। आप्त पुरुष के वाक्य ही शब्द प्रमाण होते हैं। [२] शब्दों एवं वाक्यो को सुनने से वस्तुओ का जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, उसे 'शब्द ज्ञान' कहते हैं। जो वस्तु जैसी है, उसको उसी प्रकार का बतलाने वाला व्यक्ति ही 'आप्त' है। [३]

न्याय-दर्शन मे शब्द-प्रमा के दो भेद किये गये हैं-दृष्टार्थ एव अदृष्टार्थ। ऐसी वस्तुओ का ज्ञान, जिसका प्रत्यक्ष सभव है, 'दृष्टार्थ' कहलाता है। जैसे, यदि कोई व्यक्ति हमारे सम्मुख अमरकटक के 'कपिलधारा' की बात रखता है या जार्जबुश के रहन-सहन की बात करता है। जिन शब्दो से अदृष्ट वस्तुओं या पदार्थो के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, उसे 'अदृष्टार्थ' कहते हैं। उदाहरण के लिए, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, नीति-दुराचार आदि।

शब्द का विभाजन नैयायिकों ने एक दूसरे दृष्टिकोण से दो वर्गो मे किया है—— वैदिक एवं लौकिक। [४] न्याय के अनुसार वैदिक शब्द ईश्वर प्रणीत होने से निर्दोष एवं अभ्रान्त होते हैं। जबकि मीमांसा-दर्शन वेदों को अपौरूषेय तो मानता है, परन्तु ईश्वर सृष्ट नहीं मानता। उसका मानना है कि जो वस्तुएँ सृष्ट होती हैं, उनमें दोष होता है। वेद सृष्ठ नहीं है, अत: निर्दोष व स्वत: प्रमाणित है। लौकिक शब्द सामान्यत: व्यक्तियों के वाक्य हैं। अत: वे सत्य एवं असत्य दोनो हो सकते हैं। केवल आप्तपुरुष के वचन ही सत्य होते हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि न्याय-दर्शन में शब्द की उत्पत्ति व्यक्ति से मानी गयी है, वह ईश्वर ही क्यों न हो।

---

१. 'सव्यभिचार-विरूद्ध-सत्प्रतिपक्षाऽसिद्ध-वाधिता: पञ्च हेत्वाभासा·'

— त० स०, पृ० ५८

२ आप्तोपदेश· शब्द. - न्या०सू०, १/१/७

३ 'आप्तस्तु यथाऽर्थवक्ता'- त०सं० पृ० ७२

४. त०स०, पृं० ७६

नैयायिक आचार्यों के अनुसार अर्थपूर्ण शब्दो के सयोग से वाक्य बनता है। वाक्यो को सार्थक होने के लिए चार प्रकार की शर्तों का पालन आवश्यक बताया है- आकाक्षा, योग्यता, सन्निधि एव तात्पर्य।[१] उक्त शर्तों के पूरा होने पर ही शाब्द-बोध सभव है। तभी सार्थक वाक्यो का विन्यास हो पाना सभव होगा। इस अर्थ में नैयायिक 'अभिहितान्वयवादी' है। वैशेषिक-दर्शन में शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में न मानकर अनुमान के अन्तर्गत रखा है।

उपमान प्रमाण — उपमान न्यायशास्त्र का अन्तिम प्रमाण है। उपमान के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे 'उपमिति' कहते हैं। मान ले, किसी व्यक्ति को नीलगाय का ज्ञान नही है। कोई विश्वासी व्यक्ति उसे बताता है कि 'नीलगाय' गाय के ही सदृश होती है। वह व्यक्ति जंगल मे जाता है और गाय के सदृश पशु देखता है तथा उसे तत्काल उस आदमी का स्मरण हो जाता है और इस आधार पर समझ जाता है कि यह पशु 'नीलगाय' है। मीमांसा-दर्शन के अनुसार नैयायिको का उपमान प्रमाण सदोष हैं, क्योकि उसके द्वारा विवेचित उपमान स्वतन्त्र प्रमाण न होकर शब्द, स्मृति तथा प्रत्यक्ष का मिश्रण है। मीमासा के अनुसार उपमान का विषय संज्ञा-सञ्ज्ञि-सबन्ध न होकर दो वस्तुओ के सादृश्य का ज्ञान है।

भारतीय-दर्शन के कतिपय सम्प्रदाय उपमान को 'प्रमा' का साधन नहीं मानते। वैशेषिक एवं सांख्य दार्शनिक उपमान को अनुमान का ही प्रकार मानते हैं। जैन-दर्शन उपमान को प्रत्यभिज्ञा कहता है। चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा किसी अन्य प्रमाण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता है। बौद्ध दार्शनिक उपमान को प्रत्यक्ष का ही रूप मानते है। अद्वैत एव मीमांसा की उपमान-प्रमाण की अवधारणा नैयायिकों से भिन्न है।

भ्रम-सिद्धान्त — सभी भारतीय सम्प्रदाय प्राय: भ्रम की सत्ता को स्वीकार करते हैं। न्याय-दर्शन का भ्रम-सिद्धान्त 'अन्यथाख्याति' कहलाता है। अन्यथा

---

१. भा० परि०, ८२

का अर्थ है–'अन्यत्र एव अन्यरूप मे' और ख्याति का अर्थ–ज्ञान है। सीपी का चॉदी के रूप मे या रज्जु का सर्प के रूप मे प्रतीत होना ही 'भ्रम' है। नैयायिको के अनुसार भ्रम तो हमारी समझ मे है, न कि वस्तु मे। वस्तु तो ज्यो की त्यो है। भ्रम की अवस्था मे दृश्यमान (शुक्ति) वस्तु का स्मर्यमाण रजत के रूप मे (अन्य रूप मे) प्रत्यक्ष होता है, जिसकी सत्ता बाजार आदि मे (अन्यत्र) होती है। नैयायिक आचार्यों की मान्यता है कि भ्रम 'ज्ञानलक्षणप्रत्यक्ष' द्वारा होता है। भ्रम की अवस्था मे वस्तु का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

न्याय–दर्शन के अन्यथाख्याति तथा भाट्टमीमासा के विपरीतख्याति मत प्राय· समान प्रतीत होते हैं। दोनो भ्रम को अनुभव या ज्ञानरूप मानते हैं, अज्ञान रूप नही। भ्रम की अवस्था में किसी विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। दोनों सम्प्रदाय भ्रम को सविषयक मानते हैं, निर्विषयक नहीं। दोनो दर्शन यह मानते हैं कि भ्रम में कोई वस्तु किसी अन्य रूप में, जो वह नही है, (अन्यथा/विपरीत) दिखाई देती है। उक्त समानताओ के साथ–साथ दो सम्प्रदायो में भिन्नता भी है। नैयायिको के अनुसार भ्रम आत्मगत है, जबकि भट्ट के अनुसार भ्रम आत्मगत (दोष का कारण सदोष नेत्र) तथा विषयगत (सादृश्य की प्रतीति) भी है। न्याय के अनुसार भ्रम का कारण 'ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष' (अलौकिक) है और भाट्ट मीमांसा के अनुसार लौकिक सन्निकर्ष (स्मृति और वर्तमान प्रत्यक्ष का संयोग) से ही विपरीत व्याप्तिवाद की व्याख्या करते हैं।

अन्यान्य भारतीय दर्शनो में भ्रम–सिद्धान्त को विभिन्न नामों से जाना जाता है– माध्यमिक मत (बौद्ध)–असत्ख्याति, योगाचार बौद्धमत–आत्मख्याति, साख्य मत–विवेकख्याति, चार्वाक का मत–प्रसिद्धार्थख्याति, प्रभाकर मत–अख्याति, कुमारिल भट्ट–मत विपरीतख्याति, शकरार्चा का मत–अनिर्वचनीयख्याति, रामानुज मत–सत्ख्याति तथा मध्वाचार्य का भ्रम सिद्धान्त–अभिनव–अन्यथाख्यातिवाद कहलता है।

प्रामाण्यवाद —— यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। प्रमा के असाधारण धर्म को प्रभात्व। उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहा जाता है तथा उसका असाधारण धर्म अप्रमात्व है। प्रमात्व ही 'प्रामाण्य' तथा अप्रमात्व ही 'अप्रामाण्य' है।

प्रामाण्यवाद को प्राय· सभी दार्शनिको ने स्वीकार किया है। न्याय-दर्शन का मत- 'परत· प्रामाण्यवाद'-ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनो का ग्रहण ज्ञान से भिन्न अन्य साधनो से होता है। सांख्य-दर्शन का मत- 'स्वत· प्रामाण्यवाद'-ज्ञान के प्रामाण्य एव अप्रामाण्य का ग्रहण ज्ञान के ही साधनो से होता है, अन्य से नहीं। यह सिद्धान्त न्याय का विरोधी है। बौद्ध मत- 'प्रमाण्यवाद परत. तथा अप्रामाण्यवाद स्वत·'-प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञान से भिन्न तथा अप्रामाण्य का ग्रहण तो ज्ञान के साधनो से ही होता है। मीमासा मत- 'प्रामाण्यवाद स्वत एव अप्रामाण्यवाद परत:' कहलाता है, जो बौद्ध दर्शन का विरोधी है। मीमांसको के अनुसार प्रामाण्य तो ज्ञान के साधनो से ही तथा अप्रामाण्य का निश्चय ज्ञान से भिन्न साधन से होता है।

आत्मा —— न्याय दर्शन मे प्रमेयो की सख्या बारह बतायी गयी है, जिनमे आत्मा, शरीर तथा अर्थ प्रमुख है। 'अर्थ' के अन्तर्गत-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थों को समवेत कर दिया गया है। न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है, जो इन्द्रिय, शरीर एवं मन से भिन्न है। बुद्धि, सुख, दु·ख, इच्छा, द्वेष पृथक्त्व, संयोग, विभाग, सस्कार, धर्म, अधर्म आदि आत्मा के गुण हैं। आत्मा विभु है, वह अणु परिमाण या मध्यपरिमाण वाला नहीं है।

बौद्धो द्वारा मान्य, आत्मा विज्ञानों का प्रभाव भी नहीं है, क्योंकि यदि विज्ञानो का प्रवाह मात्र मान लिया जाय, तो स्मृति आदि की व्याख्या करना संभव नहीं होगा। न्याय-दर्शन ज्ञान तथा चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानता हैं।[१] आत्मा में चैतन्य तभी प्रस्फुटित होता है जब आत्मा का मन, इन्द्रियों तथा वाह्य वस्तुओ के साथ सम्पर्क होता है। आत्मा ज्ञाता, कर्ता एवं भोक्ता है। नित्य एवं निरवयव है। आत्मा कर्म-नियम के अधीन है, अपने शुभ एव अशुभ कर्मों के अनुसार ही शरीर ग्रहण करती है। इसी कारण आत्मा का पुनर्जन्म होता है। न्याय-दर्शन में आत्मा के दो भेद हैं-जीवात्मा एवं परमात्मा। जीवात्मा अनेक है, प्रत्येक शरीर मे भिन्न-भिन्न आत्मा का

---

१. न्या० म०: जयन्तभट्ट, पृ० ४३२

विनास है। अत न्याय अनेकात्मवादी हैं। वार्तिकार उद्योतकर के अनुसार–आत्मा के अस्तित्त्व का ज्ञान अनुमेय नहीं है, बल्कि प्रत्यक्षगम्य है।[१]

ईश्वर —— नैयायिको की प्रमाण–मीमासा के बाद दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष ईश्वर–मीमासा ही है। 'न्यायसूत्र' मे महर्षि गौतम ने ईश्वर का उल्लेख नाममात्र के लिए किया है। प्रशस्तपाद तथा वात्स्यायन ने ईश्वर के अस्तित्त्व को स्पष्ट रूप से विवेचित किया है। न्याय–दर्शन मे ईश्वर को एक आत्मा के रूप मे निरूपित किया गया है। जीवात्मा से भेद स्पष्ट करने के लिए उसे परमात्मा कहा है। ईश्वर चैतन्य से युक्त है, उसका ज्ञान नित्य है। नित्य ज्ञान के कारण ही सभी विषयो का अपरोक्ष ज्ञान रखता है। न्याय का ईश्वर जगत् का आदि स्रष्टा, पालक और संहारक है। वह शून्य से जगत् की सृष्टि न करके नित्य परमाणुओ, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओ से उसकी सृष्टि करता है। ईश्वर मानव का कर्मफलदाता है। हमारे शुभ एव अशुभ कर्मो का निर्णायक ईश्वर है। जीवात्मा को शुभ अथवा अशुभ कर्मो के अनुसार सुख अथवा दु:ख प्रदान करता है।

न्याय का ईश्वर व्यक्तित्त्व पूर्ण है, जिसमे ज्ञान, सत्ता और आनन्द निहित है। यद्यपि ईश्वर में अनन्तगुण हैं, तथापि उसके छ: गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, जिन्हें 'षड्ईश्वर्य' कहते हैं। वे छ: गुण हैं–आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।[२] ईश्वर की कृपा से ही तत्त्व का ज्ञान होता है और तत्त्व ज्ञान से मानव मोक्ष की अनुभूति करता है।

नैयायिकों ने ईश्वर को प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है। 'कुसुमाञ्जलि' के पॉच अध्यायों में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जो यह सिद्ध कर सके कि ईश्वर नहीं है। 'कुसुमाञ्जलि' के प्रणेता उदयन ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्ति दी है–

---

१. न्या० वा० उद्योतकर, ३/१/१४

२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृ० १९३

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाश्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।[१]

ईश्वर की सिद्धि कार्यों से, आयोजन से, धारण आदि से परम्परागत कलाओ से, प्रामाणिकता से, श्रुतियो तथा श्रुतिगत वाक्यो से और विशिष्ट सख्याओ से एक, नित्य, स्थायी और सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

मोक्ष – चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय–दर्शन मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। मोक्ष का शाब्दिक अर्थ त्राण या छुटकारा प्राप्त करना है। व्युत्पत्ति के अनुसार–'मुच्यते अनेन इति मोक्षः' अर्थात् जिसके द्वारा छुटकारा मिल जाय, वही मोक्ष है। बन्धन विनाश ही मोक्ष है। मोक्ष को पुनर्जन्म का विनाश भी कहा जाता है। बारम्बार जन्म ग्रहण करना ही पुनर्जन्म हैं। भारतीय–दर्शन मे मोक्ष भावात्मक एव अभावात्मक दोनो माना गया है। अभावात्मक रूप से मोक्ष दु खो का सर्वथा विनाश, जन्म–मरण का अभाव है। भावात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वेदान्त में मोक्ष को 'सच्चिदानन्दद्ध रूप माना गया है।

न्याय–दर्शन में मोक्ष को 'अपवर्ग' कहा गया है। यह दुःखों से पूर्ण निरोध की अवस्था है। अपवर्ग का अर्थ है – 'आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से छुटकारा पाना।' उल्लेख्य है कि आत्मा को नैयायिको ने अचेतन द्रव्य माना है। सुख, दुःख, ज्ञान आदि को उसका आगन्तुक धर्म माना गया है। ये आत्मा में तभी उत्पन्न होते हैं, जब आत्मा का विषयों के साथ सम्पर्क होता है। मोक्ष अभावात्मक अवस्था है, जिसमें दुःख की निवृत्ति मात्र होती है, सुख की प्राप्ति नहीं। न्यायशास्त्र ज्ञानमार्ग द्वारा मोक्ष का विधान करता है। चूँकि अज्ञान ही बन्धन का कारण है। इसलिए 'तत्त्वज्ञान' को मोक्ष का साधन स्वीकार करता है।[२] तत्त्वज्ञान श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा संभव है। मोक्ष में आत्मा अपने 'विशेष' सहित नित्य द्रव्य के रूप मे स्थित रहती है; जहाँ

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलि : उदयन, ५/१

२ न्या० सू०, १/१/१

ज्ञान, सुख, इच्छा, संकल्प आदि का अभाव रहता है। मुक्त आत्मा मे और अचेतन शिलापट या काष्ठफलक में कोई अन्तर नहीं होता है।

(ii) न्याय-दर्शन के आचार्य और साहित्य

न्याय-दर्शन का साहित्य अत्यन्त विपुल और विस्तृत है। लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर सत्ररहवीं शती ई० तक न्यायशास्त्र के ग्रन्थो का निर्माण होता रहा है। न्याय-शास्त्र के साहित्य को दो धाराओं मे विभाजित किया जा सकता है-प्राचीन-न्याय एवं नव्य-न्याय। प्राचीन न्याय साहित्य मे'प्रमेय' की प्रधानता है तथा नव्य-न्याय साहित्य 'प्रमाण-प्रधान' है। महर्षि गौतम के 'न्यायसूत्र' पर वात्स्यायन का 'न्यायभाष्य', उद्योतकार का 'न्यायवार्तिक', वास्पति मिश्र की 'तात्पर्यटीका', उदयनाचार्य का तात्पर्य-परिशुद्धि तथा जयन्तभट्ट की 'न्यायमञ्जरी' टीका प्रसिद्ध है। १२वीं शताब्दी में गंगेश उपाध्याय की युगप्रवर्तक कृति 'तत्त्वचिन्तामणि' से नव्य-न्याय का श्रीगणेश हुआ। ध्यातव्य है कि 'तत्त्वचिन्तामणि' पर न्यायशास्त्र के आचार्यो ने अनेकानेक टीकाएँ लिखी हैं। यहाँ पर न्याय-दर्शन के आचार्यों एव उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का विवेचन अधोलिखित रूप मे द्रष्टव्य है —

महर्षि गौतम — 'न्यायसूत्र'

न्याय-दर्शन का आद्यग्रन्थ 'न्यायसूत्र' है, जिसके प्रणेता महर्षि गौतम माने जाते हैं; जिन्हें 'अक्षपाद' भी कहा जाता है। इन्होंने ई०पू० प्रथम शताब्दी में न्यायसूत्रों की रचना की। इसमें तत्त्वनिर्धारण की एक विशेष पद्धति द्वारा बौद्धों के कुतर्क रूपी पंक से वैदिक संस्कृति के उद्धार का प्रयत्न किया गया है। न्याय-दर्शन में प्रतिवादी को परास्त करने के लिए वाद, जल्प, वितण्डा आदि का प्रयोग करने को बताया गया है।

'न्यायसूत्र' में कुल पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय में ११ प्रकरण, ६१ सूत्र, द्वितीय अध्याय में १३ प्रकरण, १३३ सूत्र, तृतीय अध्याय में १६ प्रकरण, १४५ सूत्र, चतुर्थ अध्याय मे २० प्रकरण, ११८ सूत्र और

पचम् अध्याय मे २४ प्रकरण, ६७ सूत्र हैं।[१] 'न्यायसूत्र' की रचना जगत् की विविध यातनाओ से पीड़ित प्राणिवर्ग के कल्याणार्थ की गयी है। इसका उल्लेख गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है।[२]

वात्स्यायन —— न्यायभाष्य

प्राचीन-न्याय के आचार्यों में वात्स्यायन का प्रमुख स्थान है। उन्होंने 'न्यायभाष्य' या वात्स्यायनभाष्य' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो 'न्यायसूत्र' पर एक भाष्य है। न्यायभाष्यकार के नाम के विषय मे मतभेद है। हेमचन्द्र प्रणीत 'अभिधानचिन्तामणि' के आधार पर वात्स्यायन तथा कौटिल्य को एक माना गया है।[३] कुछ विद्वानो का अभिमत है कि 'कामसूत्र' के प्रणेता वात्स्यायन तथा 'न्यायभाष्यकार' वात्स्यायन एक ही हैं; किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। वात्स्यायन को न्यायभाष्यकार पुष्ट करते हुए भारद्वाज ने 'न्यायवार्तिक में कहा है-

'यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगा।
अकारि महतस्यस्य भारद्वाजेन वार्तिकम।।'

वात्स्यायन के समय तथा निवास-स्थान के विषय में भी मतवैभिन्य है। जैकोबी के अनुसार इनका समय ३००ई० के आस-पास है। इनके निवास-स्थान के बारे में नैयायिकों का अभिमत है कि ये मिथिला के ही निवासी रहे होंगे; क्योकि 'न्यायसूत्र' का निर्माण मिथिला में हुआ था। 'न्यायसूत्र' के अध्ययन, अध्यापन, व्याख्यान और अनुव्याख्यान की सुविधा और संभावना उतने सुदूर पूर्वकाल में जितनी मिथिला में हो सकती थी, उतनी मिथिला से दूरवर्ती किसी अन्य प्रदेश में नहीं हो सकती थी।[४]

---

१. तर्कभाषा. बदरीनाथ शुक्ल, (अनु०) भूमिक, पृ०-५

२. 'अर्थ जगदेव द·खपङ्०कनिमग्नमुद्दिधीर्षु: अष्टादशविद्यास्थानेष्वभ्यहिततमामान्वीक्षिकीं परमाकरुणिको मुनि· प्रणिनाय।'

— तत्त्वचिन्तामणि।

३. मर्त्यखण्ड, ५१७-५१८।

४. तर्कभाषा: बदरीनाथ शुक्ल: (अनु०) पृ० १४-१५

उद्योतकर —— न्यायवार्तिक

उद्योतकर पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी भारद्वाज गोत्रीय विद्वान थे। इन्होने वात्स्यायन के 'न्यायभाष्य' पर एक महनीय ग्रन्थ की रचना की, जो 'न्यायवार्तिक' के नाम से प्रख्यात है। भारद्वाज-उद्योतकर आर्षप्रतिभा-सम्पन्न एक महान् नैयायिक हैं। उल्लेख्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में वार्तिककार ने 'न्यायसूत्र' एवं 'न्यायभाष्य' दोनो की व्याख्या की है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' में 'न्यायवार्तिक की रचना का प्रयोजन बताते हुए कहा है-

'यद्यपि भाष्कृता कृतव्युत्पादनमेतत् तथापि दिङ्नागप्रभृतिभिर्वाचीनैः कुहेतुसन्तमससमुच्थापनेनाच्छादितं शास्त्र न तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तमित्युद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतेन तदपनीयते। [१]

अर्थात् महर्षि गौतम ने सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त करने के उद्देश्य से 'न्यायसूत्र' का प्रणयन किया। किन्तु दिङ्नाग आदि बौद्धनैयायिकों के कुतर्क का प्रसार 'सूत्र' एवं 'भाष्य' दोनों को अविभूत कर दिया। इसलिए उद्योतकर ने न्यायशास्त्र को निर्मल रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने हेतु बौद्धनैयायिकों के समस्त कुतर्क-तमस को निरस्त करने के लिए 'न्यायवार्तिक' का प्रणयन किया।

वाचस्पति मिश्र —— न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका

वाचस्पति मिश्र भारतीय दर्शन में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आचार्य हैं। उन्होंने प्रायः सभी वैदिक दर्शनों पर ग्रन्थ लिखे हैं। उनका 'न्यायसूचीनिबन्ध' नामक लघुकाय ग्रन्थ न्यायसूत्रों की रक्षा के लिए लिखा गया था। ग्रन्थ के अन्त में रचनाकाल ८४०-८४१ ई० निर्दिष्ट है। वाचस्पति मिश्र का समय नवीं शताब्दी निश्चित है। धर्मकीर्ति आदि के द्वारा न्याय-वैशेषिक पर किये गये आक्षेपों का परिहार करने हेतु उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' पर वाचस्पति ने 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' ग्रन्थ का प्रणयन किया।

---

१. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका : वाचस्पति मिश्र

न्याय-वैशेषिक दर्शन को परिष्कृत रूप देना आचार्य वाचस्पति मिश्र का कार्य है। साथ ही साथ अन्य भारतीय दर्शन भी इनकी अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित रहे। 'साख्य-तत्त्वकौमुदी' तथा 'योगतत्त्ववैशारदी' नामक ग्रन्थ मे सांख्य योग की व्याख्या की गयी है 'न्यायकणिका' तथा 'तत्त्वबिन्दुमीमासा वाचस्पति मिश्र के व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। ब्रह्मसूत्र शारीरकभाष्य पर लिखी गयी उनकी 'भामतीटीका' अद्वैत-वेदान्त का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है।

उदयनाचार्य —— तात्पर्य-परिशुद्धि

विलक्षण प्रतिभा के धनी उदयनाचार्य का समय १०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इसका प्रमाण उनकी 'लक्षणावली' ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आचार्य उदयन ने ग्रन्थ के समाप्ति का समय ९८४ ई० स्वीकार किया है। कालक्रम की दृष्टि से उदयन 'न्यायकन्दली' के टीकाकार 'श्रीधर' के समकालीन प्रतीत होते हैं। इन्होंने न्याय-वैशेषिक पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। 'तात्पर्यटीका' पर 'तात्पर्य-परिशुद्धि' एक विस्तृत टीका है। प्रशस्तपादभाष्य पर उदयन की 'किरणावली' व्याख्या है। इसके अतिरिक्त 'न्यायकुसुमा-जलि', 'आत्मतत्त्वविवेक' तथा 'न्यायपरिशिष्ट' महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ हैं। ध्यातव्य है कि 'न्यायकुसुमा-जलि' में अनेक युक्तियो एवं प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि एवं 'आत्मतत्त्वविवेक' मे आत्मा की सिद्धि की गयी है।

तत्कालीन बौद्ध-धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए न्याय के आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उदयन का 'आत्मतत्त्वविवेक' बौद्ध-धिक्कार नाम से प्रसिद्ध है। उदयनाचार्य अपने सभी ग्रन्थों में बौद्ध मतों की आलोचना की और 'आत्मतत्त्वविवेक' मे उन्होंने बौद्धों के क्षणभंगवाद आदि का विशेष रूप से खण्डन किया।

जयन्तभट्ट —— न्यायमञ्जरी

जयन्तभट्ट न्यायसूत्रो पर कोई क्रमिक व्याख्या नहीं लिखी; किन्तु न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट पदार्थों के क्रम का अनुसरण करके न्याय के सभी

मन्तव्यो की कुशलता पूर्वक व्याख्या की है, जो 'न्यायमञ्जरी' के नाम से प्रसिद्ध है। जयन्तभट्ट नवीन शैली के प्रवर्तक दार्शनिक हैं। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में न्याय के मन्तव्यो का तुलनात्मक विवेचन किया है। अन्य मतो की समीक्षा करते हुए उन्होने न्याय के मतो की स्थापना की है। इनका समय ११वीं शताब्दी माना जाता है।

न्यायमञ्जरी' में न्याय के सोलह पदार्थों के नाम पर सोलह प्रकरण हैं। 'प्रमाण-प्रकरण' में चार्वाक के प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद, बौद्ध और वैशेषिक के प्रत्यक्षानुमान-प्रमाणद्वयवाद, साख्य एव जैन के प्रत्यक्षानुमानशब्द-प्रमाणत्रयवाद का खण्डन कर न्याय-दर्शन के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं उपमान, इन चार प्रमाणों की स्थापना की गयी है। 'प्रमेय-प्रकरण' में आत्मा से अपवर्ग तक का विवेचन किया गया है।

गंगेशउपाध्याय —— तत्त्वचिन्तामणि

बारहवीं शताब्दी से न्याय-दर्शन के इतिहास मे एक महान् परिवर्तन हुआ। इस समय मिथिला में गंगेशउपाध्याय नामक प्रसिद्ध नैयायिक हुए, जिन्होंने गौतम के 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा: प्रमाणानि' केवल इस सूत्र पर चार खण्डो मे 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक महान् ग्रन्थ की रचना की, जो प्रमाणशास्त्र का मुख्य ग्रन्थ माना जाने लगा । इस प्रमाण-प्रधान ग्रन्थ राशि को नव्य-न्याय का प्रवर्तक ग्रन्थ तथा गंगेशउपाध्याय को प्रवर्तक आचार्य कहा जाता है। दरभंगा के दक्षिण-पूर्व में कमला नदी के तट पर स्थित 'कोरियांव' नामक ग्राम में ब्राह्मणविद्वत्कुल में गंगेशोपाध्याय का जन्म हुआ था। ये मौलिक चिन्तन में नितान्त पटु तथा असाधारण प्रतिभा सम्पन्न थे। 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ के विषय में इनका यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है-

यतोमणे: पण्डितमण्डनक्रिया प्रचण्डपाषण्डतमस्थिरक्रिया।
विपक्षपक्षे न विचारचातुरी न च स्वसिद्धान्तवचोदरिद्रता।। [१]

१. तर्कभाषा : बदरीनाथ शुक्ल (अनु०), पृ० २०

प्रस्तुत ग्रन्थ एक ऐसी अमूल्य निधि है, जिसमे पण्डित जनो का मण्डन, प्रचण्डपाषण्डरूपी अन्धकार का विनाश, तथा विपक्षीदल के विचारकौशल का लोप होता है; साथ ही साथ अपने सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने मे किसी प्रकार की दरिद्रता (त्रुटि) नहीं रहने पाती। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'प्रमाणचिन्तामणि' भी है। इसके प्रत्येक खण्ड में दर्शनान्तर-विरोधी मतो का तथा न्याय के अनेक पूर्ववर्ती मतो का निराकरण कर नूतन, निर्दोष सिद्धान्तो की स्थापना की गयी है।

पूर्वी-भारत तथा दक्षिण-भारत तो प्रस्तुत ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के अध्ययन, अध्यापन तथा मनन और चिन्तन के केन्द्र बन गये। बगाल के 'नवद्वीप'विद्यापीठ के नैयायिको ने अपनी प्रतिभा के निकष पर अपने को अच्छे प्रकार से कसकर इनको और भी समुज्ज्वल तथा प्रभावसम्पन्न बना दिया। परिणाम यह हुआ कि नवद्वीप के नैयायिक-मुकुट रघुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति', मथुरानाथ तर्कवागीश का 'रहस्य', जगदीश तर्कालङ्कर की 'जागदीशी' तथा गदाधर-भट्टाचार्य की 'गादाधरी' इन टीकाओं के साथ 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ सदा के लिए अध्ययन-अध्यापन का विषय बन गया।

पक्षधर मिश्र —— आलोक टीका

पक्षधर मिश्र १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिथिला के उद्‌भट्ट नैयायिक थे। इनका दूसरा नाम 'जयदेव' था। गंगेशउपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ की 'आलोक' व्याख्या में पक्षधर मिश्र आरम्भ में लिखते हैं – 'अधीत्य जयदेवेन हरिमिश्रात् पितृव्यत:, [१] इससे सिद्ध होता है कि पक्षधर मिश्र का एक नाम 'जयदेव' भी था। इन्होंने गंगेशउपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'आलोक' नामक विशिष्ट टीका ग्रन्थ का प्रणयन किया। नव्य-न्याय की पैतृक-भूमि मिथिला में ही न्याय सीखने के इच्छुक छात्रो को पक्षधर मिश्र न्याय-विद्या का पाठ पढ़ाते थे। वासुदेव सार्वभौम तथा रघुनाथ ने भी पक्षधर मिश्र को गुरू स्वीकार किया था। ये जिस प्रकार उच्चकोटि के नैयायिक थे, वैसे

---

१. न्याय-परिचय : डॉ० किशोर नाथा झा (अनु०) पृ० २१

ही सुप्रसिद्ध नाटककार भी थे। पक्षधर मिश्र द्वारा रचित 'प्रशन्नराघव' नाटक काफी प्रसिद्ध है।

वासुदेव सार्वभौम

वासुदेव सार्वभौम बगाल के अद्वितीय नैयायिक थे। इन्होंने अपनी ज्ञानक्षुधा को मिटाने के लिए मिथिला जाकर वहाँ के प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र से 'प्रमाणचिन्तामणि' का विधिवत् अध्ययन किया। ऐसी दन्तकथा है कि मिथिला के नैयायिक अपने देश की निधि न्याय-विद्या को मिथिला से बाहर किसी को नहीं देते थे। वासुदेव सार्वभौम इस बात को जानते थे। अत: उन्होंने छात्र जीवन मे मिथिला जाकर सम्पूर्ण 'तत्त्वचिन्तामणि' और 'न्यायकुसुमा-जलि' को अक्षरस· कण्ठस्थ कर लिया और काशी आकर दोनों ही ग्रन्थो को लिपिबद्ध किया। इनका समय १४वीं शती० के पूर्वाह्व माना गया है।

रघुनाथ शिरोमणि —– दीधिति टीका

तार्किक शिरोमणि 'रघुनाथ' बङ्गवसुन्धरा के अनमोल रत्न हैं। इनका समय १६वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने पहले वासुदेव सार्वभौम तथा बाद में पक्षधर मिश्र से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। रघुनाथ शिरोमणि सर्वप्रथम 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'दीधिति' नामक अद्‌भुत ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उन्होंने अपने दोनों गुरूओं तथा पूर्ववर्ती अन्य अनेक नेयायिकों के मतों का खण्डन कर अपने नितान्त मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है। अपनी असाधारण प्रतिभा और तर्कशक्ति से न्यायशात्र के अनेक पुरातन सिद्धान्तों का युक्तिपूर्वक निषेध कर इन्होंने अनेक नूतन सिद्धान्तों की स्थापना की है।

रघुनाथ शिरोमणि 'दीधिति' के प्रारम्भ में लिखते हैं कि बहुत से विद्वान् न्यायशास्त्र का अध्ययन करते हैं और ग्रन्थों की रचना भी करते हैं, परन्तु न्याय-दर्शन के मर्म को बहुत कम ही विद्वान जान पाते हैं —

'न्यायमधीते सर्वस्तुनुते कुतुकानिबन्धमप्यत्र।
अस्य तु किमपि रहस्यं केचन विज्ञातुमीशते सुधियः।।' [१]

नव्य-नेयायिक दीधितिकार अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे। इन्होने अपने पूर्ववर्ती नैयायिको के मतो को ज्यो का त्यों स्वीकार नहीं किया; अपनी तर्कशक्ति कौशल से परम्परागत मान्यताओ का खण्डन किया। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ अधोलिखित हैं-

१. 'तत्त्वचिन्तामणिदीधिति'
२. पदार्थतत्त्वनिरूपणम्
३. बौद्धधिकारशिरोमणिः
४. किरणावलीप्रकाशदीधिति
५. न्यायलीलावतीप्रकाशदीधिति
६. खण्डनखण्डखाद्यदीधिति
७. आत्मतत्त्वविवेकदीधिति
८. आख्यातवाद
९. नञ्वाद

रघुनाथ शिरोमणि के उपर्युक्त ग्रन्थों में 'पदार्थतत्त्वनिरूपणम्' ही एकमात्र तत्त्वमीमांसीय ग्रन्थ है। शब्दखण्डतत्त्वचिन्तामणि' के परिशिष्ट के रूप में 'आख्यातशक्तिवाद' एवं 'नञ्वाद' इनके महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं।

जगदीश तर्कालङ्कार — जागदीशी टीका

विद्वानों के अभिमतानुसार जगदीश तर्काङ्कार का समय १७वीं शताब्दी माना गया है। न्यायशास्त्र के शीर्षस्थ विद्वानों में इनकी गणना की जाती है। इनका ग्रन्थ 'जागदीशी' रघुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति' पर विस्तृत टीका है। जगदीश द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थों में 'तर्कामृत' और 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका' अप्रतिम है।

१. न्याय-परिचय : डॉ० किशोर नाथ झा (अनु०) पृ० ११

'शब्दशक्तिप्रकाशिका' की प्रशसा मे सुधी आचार्यों ने कहा है- 'जगदीशस्य सर्वस्व शब्दशक्ति प्रकाशिका।'

गदाधर भट्टाचार्य — गादाधरी टीका

गदाधर भट्टाचार का समय इतिहास-वेत्ताओं द्वारा १६वीं शताब्दी माना गया है। भट्टाचार्य जी नवद्वीप शाखा के प्रतिभासम्पन्न महान् नैयायिक थे। इन्होने रघुनाथ शिरोमणि के 'दीधिति' पर विस्तृत टीका-ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'गादाधरी' कहा जाता है। 'व्युत्पत्तिवाद', 'शक्तिवाद' आदि ग्रन्थ गदाधर भट्टाचार्य के असाधारण विदग्धता के साक्षी हैं।

मथुरानाथ तर्कवागीश — रहस्य टीका

असाधारण प्रतिभासम्पन्न नव्य-नैयायिक मथुरानाथ तर्कवागीश नवद्वीप, बंगाल के अनमोल रत्न हैं। इनकी प्रतिभा से मुग्ध होकर विद्वानों ने 'तर्कवागीश' की उपाधि से सम्मानित किया है। नव्य-न्याय का प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' पर मथुरानाथ की 'रहस्य-टीका' न्याय की विद्वद्मंडली में सुख्यात है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि 'रहस्य-टीका का सम्यक् अध्ययन किये बिना 'तत्त्वचिन्तामणि' को समझ पाना कठिन है। मथुरानाथ तर्कवागीश का समय १६वीं शताब्दीं माना जाता है। ये रघुनाथ शिरोमणि के समकालीन थे।

विवेच्य है कि न्यायशास्त्र के प्रतिपादन मे पदार्थों के परिचय हेतु 'प्रकरण-ग्रन्थों' की अत्यन्त उपयोगिता है। अस्तु यहाँ पर कतिपय प्रकरण-ग्रन्थों का विश्लेषण करना समीचीन होगा। वस्तुत: 'जिस ग्रन्थ मे किसी एक शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में किसी एक ही विषय का प्रधानतया प्रतिपादन होता है और साथ ही सम्बद्ध शास्त्र के अतिरिक्त शास्त्र के विषयों का भी प्रयोजनानुसार समावेश किया गया होता है, विद्वज्जन उसे 'प्रकरणग्रन्थ' कहते हैं।'[१] पराशर-उपपुराण में 'प्रकरण की परिभाषा अधोलिखित प्रकार से की गयी है-

---

१. तर्कभाषा : बदरीनाथ शुक्ल, (अनु०) पृ० २४

'शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः 'प्रकरणं' नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।'

–पराशर उपपुराण

सम्प्रति कतिपय प्रकरण–ग्रन्थों एवं उनके आचार्यों का परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक होगा –

भासर्वज्ञ — न्यायसार

भासर्वज्ञ के समय निर्धारण के संबन्ध में विद्वानो का अभिमत है कि १०वीं शती के अत्तरार्द्ध में बौद्ध दार्शनिक रत्नकीर्ति के ग्रन्थ 'अपोहसिद्धि' में भासर्वज्ञ के न्यायसार' की टीका 'न्यायभूषण' का उल्लेख है। अतः भासर्वज्ञ को १०वीं शती के द्वितीय चरण में मानना उचित होगा।

'न्यायसार' प्रकरण–ग्रन्थों में शीर्षस्थ कोटि का ग्रन्थ है, जिसमें न्याय–दर्शन मे प्रतिपादित चार प्रकार के प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं उपमान को न मानकर जैन एव सांख्य के सदृश प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण को माना गया है। भासर्वज्ञ ने देश एवं काल का द्रव्यत्व एव साधारण निमित्त कारणता का खण्डन किया है। उनके अनुसार देश एवं काल को कार्य मात्र का निमित्त कारण के रूप में मान लेने पर वे ईश्वर से केवल नाममात्र में भिन्न रह जाते हैं। [१]

वरदराज — तार्किकरक्षा

वरदराज का समय लगभग १२वीं शती माना जाता है। इनका जन्मस्थान आन्ध्रप्रदेश में हुआ था। इन्होंने 'तार्किक–रक्षा' नामक ख्यातिलब्ध प्रकरण, ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ पर ज्ञानपूर्ण ने 'लघुदीपिका', मल्लिनाथ ने 'निष्कंटका' नामक टीकाएँ लिखी हैं। अवद्योतनार्थ ने 'तार्किक रक्षा' पर 'सारसंग्रह' नामक व्याख्या लिखी है।

---

१ न्यायभूषण : भासर्वज्ञ, पृ० ५९१–५९३

'तार्किक रक्षा' के टीकाकार वरदराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे न्याय-दर्शन के सोलह पदार्थों-प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान का निरूपण किया है। साथ-ही-साथ न्यायशास्त्र के बारह प्रमेयो-आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख एव अपवर्ग के साथ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थों का विशद् विवेचन प्रस्तुत कर एक सुधी नैयायिक का परिचय दिया है।

केशव मिश्र —— तर्कभाषा

केशव मिश्र के समय तथा स्थान के बारे में विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। क्योंकि इन्होने अपने विषय मे कुछ भी नहीं लिखा है। अनुमान के आधार पर इनका समय १३वीं शती का तृतीय चरण माना जाता है। केशव मिश्र की गणना मिथिला के उन्नतम नैयायिकों में की जाती है। इन्होने अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ 'तर्कभाषा' की रचना की, जिसका प्रयोजन बतलाते हुए कहा है-

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशम् , अल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा, प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा।।" [१]

तर्कभाषा न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का प्रकरण-ग्रन्थ है। इनमें न्याय के पदार्थों का ही प्रधानरूप से विवेचन किया गया है। न्याय-दर्शन के आत्मा, शरीर आदि बारह प्रमेयों में 'अर्थ' भी एक प्रमेय है। तर्कभाषा में 'अर्थ' की व्याख्या इस प्रकार की गयी है —— 'अर्थाः षट् पदार्थाः' ते च द्रव्य-गुण-कर्म- सामान्य-विशेष-समवायाः।'[२] 'अर्थ' पद से अभिप्राय है, 'वैशेषिक-सूत्र' में वर्णित छह पदार्थ। उल्लेख्य है कि न्यायदर्शन में 'अर्थ' से अभिप्राय इन्द्रियार्थ से है। 'न्यायसूत्र' में कहा गया है —— 'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।' [३] इस सूत्र में 'तदर्था' का अर्थ - 'इन्द्रियार्थाः'

---

१. तर्कभाषा · केशवमिश्र, प्रथम श्लोक

२ तर्कभाषाः बदरीनाथ शुक्ल प्रमेयनिरूपणम्, (अनु०), पृ० २१५-२१७

३. 'न्यायसूत्र' १/१/१५

ही है। इन्द्रियार्थ पॉच हैं- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एव शब्द। इस प्रकार न्यायदर्शन मे 'अर्थ' पद का अर्थ गन्ध आदि गुण से है।

'तर्कभाषा' न्यायशास्त्र का अत्यन्त उपयोगी एव लोकप्रिय ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ पर विद्वानों द्वारा अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमे से कुछ टीकाएँ एव अनुवाद ग्रन्थ अधोलिखित हैं-

टीका-नाम

१. उज्ज्वला – गोपीनाथ
२ तत्त्वप्रबोधिनी – गणेश दीक्षित
३ तर्ककौमुदी – दिनकर भट्ट
४ तर्कभाषा प्रकाशिका – गोवर्धन मिश्र
५. तर्कभाषाभाव – रोमविल्विवेकटबुद्ध
६. न्यायसग्रह – रामलिङ्ग
७. परिभाषादर्पण – भास्करभट्ट
८. न्यायप्रदीप – विश्वकर्मा
९. तर्कभाषाप्रकाशिका – गौरीकान्त सार्वभौम
१०. तर्कदीपिका – केशवभट्ट
११. तर्कभाषा प्रकाशिका – चिन्नभट्ट
१२. युक्तिमुक्तावली – नागेशभट्ट
१३. तत्त्वप्रबोधिनी – गणेश दिक्षित
१४. सारमञ्जरी – माधवदेव
१५. अग्रेजी अनुवाद – डॉ० गंगानाथ झा
१६. हिन्दी अनुवाद – आचार्य विश्वेश्वर

वल्लभाचार्य — न्यायलीलावती

वल्लभाचार्य न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होने अपने 'न्यायलीलावती' ग्रन्थ में वैशेषिक के छह भाव पदार्थों का विचेन किया है। गुण का विवेचन करते हुए उन्होने यथार्थ ज्ञान को विद्या तथा अयथार्थ ज्ञान को अविद्या बताकर विद्या के साधन के रूप में न्याय-दर्शन के चतुर्विध-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान प्रमाणो का प्रतिपादन किया है। वल्लभाचार्य ने अपनी पत्नी लीलावती के नाम पर इस ग्रन्थ का नाम 'न्यायलीलावती' रखा है। ध्यातव्य है कि ये वेष्णव सम्प्रदाय की वल्लभ-शाखा के प्रवर्तक वल्लभाचार्य से भिन्न हैं। इनका समय १२वीं शती माना जाता है। मूर्धन्य नैयायिको द्वारा लिखित टीकाओ के कारण 'न्यायलीलावती' की लोकप्रियता न्यायसाहित्य मे अधिक उजागर हुई है। उदाहरणस्वरूप कतिपय टीकाएँ प्रस्तुत हैं-

१. न्यायलीलावतीप्रकाश – वर्धमान उपाध्याय

२ न्यायलीलावतीदीधिति – रघुनाथ शिरोमणि

३. न्यायलीलावतीकण्ठाभरण – शकर मिश्र

४. न्यायलीलावतीप्रकाशविवेक – मथुरानाथ तर्कवागीश (उपटीका)

५. न्यायलीलावतीप्रकाशविवृत्ति – भगीरथ ठक्कुर (उपटीका)

अन्न भट्ट — तर्कसंग्रह

अन्न भट्ट कर्नाटक के रहने वाले थे। उनका समय १७वीं शती माना जाता है। न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए जिन चार ग्रन्थों-तर्कसंग्रह, भाषापरिच्छेद, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तथा तर्कभाषा को प्रसिद्धि मिली है, उसमे तर्कसग्रह का प्रथम स्थान है। इस ग्रन्थ मे वैशेषिक दर्शन के सप्तपदार्थों का प्रतिपादन सुस्पष्ट एव सुबोध भाषा में किया गया है। न्यायसूत्रकार गौतम ने १६ पदार्थो का प्रतिपादन किया है। इन सोलह पदार्थो को वैशेषिक-दर्शन में सात पदार्थो के अन्तर्गत अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म,

सामान्य विशेष समवाय और अभाव मे अन्तर्भाव कर दिया गया है; ऐसा 'तर्कसग्रह' ग्रन्थ मे वर्णित है।[१]

'तर्कसग्रह' पर स्वयं अन्न भट्ट ने 'तर्कसग्रहदीपिका' नामकी टीका लिखी है। नीलकण्ठ भट्ट ने 'तर्कसग्रहदीपिका' पर 'प्रकाश' नामक टीका लिखी, जिसे 'नीलकण्ठी' नाम से भी जाना जाता है। नीलकण्ठ भट्ट के पुत्र लक्ष्मीनृसिह की 'भाष्करोदया' टीका तथा गोवर्धन मिश्र की 'न्याय-बोधिनी' टीका उल्लेखनीय है।

विश्वनाथ पचानन —— भाषापरिच्छेद-कारिकावली

'भाषापरिच्छेद-कारिकावली' न्याय-वैशेषिक का एक समृद्ध प्रकरण-ग्रन्थ है। विश्वनाथ पंचानन का नवद्वीपं के नैयायिकों मे महत्वपूर्ण स्थान है। ये रघुनाथ शिरोमणि के श्रेष्ठ शिष्यों मे हैं। इनका समय १७वीं शती माना जाता है। विश्वनाथ पचानन ने 'भाषापरिच्छेद-कारिकावली' की व्याख्या लिखी, जो 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' नाम से न्याय-साहित्य मे सुप्रशस्त है। इस ग्रन्थ पर लिखी गयी 'दिनकरी' और 'रामरुद्री' टीकाएँ प्रसिद्ध हैं।

लौगाक्षिभास्कर —— तर्ककौमुदी

लौगाक्षिभास्कर न्याय-वैशेषिक के साथ-साथ मीमांसा के भी पण्डित थे। इन्होने न्यायशास्त्र के लघु प्रकरण ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'तर्ककौमुदी' नाम से जाना जाता है। इनका समय १७वीं शती बताया जाता है। ये बनारस में ही रहा करते थे।

शशधर महोपाध्याय —— न्यायसिद्धान्तदीप

शशधर की विलक्षण प्रतिभा को देखकर पण्डित समाज ने उन्हे 'महोपाध्याय' की उपाधि से अलकृत किया। इन्होने न्याय-दर्शन के प्रकरण-ग्रन्थ की

---

१ 'सर्वेषा पदार्थाना यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदाऽर्था इति सिद्धम्।
— तर्कसंग्रह के समापन मे ग्रन्थकार ने कहा है।

रचना की, जो 'न्यायसिद्धान्तदीप' नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ पर शेषानन्त ने 'न्यायसिद्धान्तदीपटीका' नाम से व्याख्या लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिष्ठा मे वृद्धि की है।

वशीय परम्परा के अनुसार 'शशधर तथा मणिधर' अपनी प्रज्ञा की तीक्ष्णता और प्रतिपक्षी के मत पर भीषण आक्रमण करने की प्रवृत्ति के कारण 'सिह' एवं 'व्याघ्र' कहे जाते थे। इसलिए इनके द्वारा बनाये गये व्याप्ति-लक्षण को 'सिहव्याघ्रलक्षण' कहा गया है। नव्य-न्याय के प्रवर्तक गगेश उपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' के 'अनुमानखण्ड' के व्याप्तिप्रकरण मे इनके व्याप्तिलक्षण को दोषयुक्त बताया है इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'शशधर महोपाध्याय' का समय गगेश उपाध्याय के पूर्व का है।[१]

मध्वाचार्य —— सर्वदर्शनसग्रह

मध्वाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'सर्वदर्शनसग्रह' मे वेदो की प्रामाणिकता मानने वाले, आस्तिक एवं वेदों की प्रामाणिकता को न मानने वाले, नास्तिक-सभी दर्शनो के सिद्धान्तो का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शनो को क्रमशः 'अक्षपाद-दर्शन' एव 'औलूक्य-दर्शन' के नाम से अभिहित किया है। इनका समय १४वीं शती माना जाता है।

न्यायशस्त्र के आचार्य एव साहित्य का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन-न्याय एवं नव्य न्याय का आधार ग्रन्थ महर्षि गौतम का 'न्यायसूत्र' है। नव्य-न्याय का प्रवर्तक ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' का विषय 'न्यायसूत्र' में वर्णित चतुस्र प्रमाण हैं। न्याय-दर्शन का आद्यग्रन्थ 'न्यायसूत्र' एवं नव्य न्याय का ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' को ही आधार मानकर न्याय-दर्शन के आचार्यो ने टीकाएँ एवं उपटीकाएँ लिखी हैं। न्यायशास्त्र के ग्रन्थो की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि प्रथम शताब्दी ई०पू० से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक लगभग दो दशक का समय ग्रन्थो की रचना का रहा। नव्य न्याय के आचार्यो मे रघुनाथ शिरोमणि की लोकप्रियता इतनी अधिक है कि उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि दीधिति'

---

१. तर्कभाषा · बदरीनाथ शुक्ल; (अनु०) भूमिका पृ० ३३

पर परवर्ती आचार्यो–जगदीश कर्तालकार, गदाधर भट्टाचार्य आद ने विस्तृत टीकाएँ लिखी हैं। रघुनाथ शिरोमणि कृत 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' एक स्वतन्त्र तत्त्वमीमांसीय ग्रन्थ है, जिसमे उन्हेने कुछ स्वतन्त्र पदार्थो की स्थापना की है तथा साथ ही परम्परागत मान्य पदार्थो का परीक्षण भी किया है।

(III) नव्य–न्याय और रघुनाथ शिरोमणि

बारहवीं शताब्दी से नव्य–न्याय का प्रारम्भ माना जाता है। इसके सर्वप्रथम आचार्य मिथिला के गगेश उपाध्याय हैं, जिनकी अभूतपूर्व कृति 'तत्त्वचिन्तामणि' है, यह प्रमाण–शास्त्र का मुख्य ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ अग्रलिखित चार खण्डों मे विभाजित है–प्रत्यक्षखण्ड, अनुमानखण्ड, शब्दखण्ड और उपमानखण्ड। 'तत्त्वचिन्तामणि' पर टीकाओ का अन्त नहीं। कदाचित् यहाँ पर यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि न्यायशास्त्र मे इतनी अधिक टीकाएँ किसी अन्य ग्रन्थ पर उपलब्ध नहीं हैं। उनमे चार टीकाएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं —— वर्धमान उपाध्याय की 'प्रकाश', रघुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति', पक्षधर मिश्र की 'आलोक' तथा मथुरानाथ तर्कवागीश की 'रहस्य'।

गंगेशउपाध्याय की कृति 'तत्त्वचिनतामणि' का विषय प्राचीन नैयायिक महर्षि गौतम के 'न्यायसूत्र' का 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' है। प्राचीन–न्याय 'प्रमेय–प्रधान' तथा नव्य–न्याय 'प्रमाण–प्रधान' है। 'न्यायसूत्र' में पाँच अध्याय हैं, जिनमें कुल ५२८ सूत्र हैं। केवल ७० सूत्रों में ही प्रमाण का प्रतिपादन किया गया है। अन्य समस्त सूत्रों में आत्मा का आदि १२ प्रमेयों की मीमांसा है। अतः प्राचीन न्याय 'प्रमेय–प्रधान' है।

प्राचीन–न्याय एवं नव्य–न्याय में भेद का आधार मुख्यतया उनकी भाषा और शैली है। प्राचीन–न्याय के ग्रन्थों में जहाँ प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता, प्रतियोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता आदि शब्दो का अभाव है, वही नव्य–न्याय में इन्हीं नवीन शब्दों से सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। नव्य–न्याय मे ये शब्द उसमें प्रवेश चाहने वाले अध्येताओं को ठीक उसी प्रकार भयावने लगते हैं, जैसे किसी महान् अरण्य में प्रवेश करने वाले मनुष्यों को सिंह, व्याघ्र आदि उसके बड़े–बड़े

हिसक जन्तु।[१] प्राचीन-न्याय की प्रायोगिक शैली के कारण भाषा सरल और आडम्बरहीन होने पर भी इतनी संक्षिप्त एव सांकेतिक होती हैं कि उसका प्रतिपाद्य विषय अन्यत्र शीघ्रता से स्फुट नही हो पाता। बहुत से अनुमान ऐसे प्रयुक्त होते हैं कि शैली की दु शीलता के कारण ही जिसका अनुमानत्व स्पष्ट नहीं हो पाता। पक्ष, साध्य और हेतु की विशद प्रतिपत्ति नहीं हो पाती। किन्तु नव्य-न्याय की भाषा आडम्बरपूर्ण तथा ऊपर से स्वरूपत· दुर्गम होने पर भी शैली की शलीनता के कारण अर्थत· अत्यन्त स्पष्ट होती चली जाती है।

प्राचीन-न्याय और नव्य-न्याय मे एक और भी अन्तर है। वह यह कि प्राचीन-न्याय के विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है। उसके विचार तलस्पर्शी नहीं होते। वे विषय के वाह्य कलेवर का ही स्पर्श कर रुक जाते हैं। किन्तु नव्य-न्याय मे विषय का प्रतिपादन सूक्ष्म होता है और नव्य नैयायिक विषय के सर्वांग का स्पर्श करते हैं। उनका कठोर और निष्पक्ष परीक्षण कर उसके श्वेत और काले दोनों पक्ष अध्येक्षा के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

विवेच्य है कि आगे चलकर नव्य-न्याय की दो शाखाएँ हो गयीं-मिथिला शाखा और नवद्वीप शाखा। मिथिला शाखा के नैयायिक आचार्यो में गंगेश उपाध्याय, वर्धमानोपध्याय एव पक्षधर मिश्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पक्षधर मिश्र के शिष्य वासुदेव सार्वभौम एवं रघुनाथ शिरोमणि ने बगाल में नव्य-न्याय के प्रचार-प्रसार हेतु नवद्वीप शाखा की स्थापना की। वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश तर्कालङ्कर, गदाधर भट्टाचार्य और मथुरानाथ आदि नवद्वीप शाखा के शीर्ष आचार्य है।

प्रारम्भ में रघुनाथ शिरोमणि ने वासुदेव सार्वभौम से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया, तदनन्तर वे मिथिला जाकर सरस्वती के वरदपुत्र पक्षधर मिश्र के शिष्य बन गये और उनसे न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन किया।

---

१. तर्कभाषा : बदरीनाथ शुक्ल (अनु०), पृ० ६

अध्ययनोपरानत बगाल जाकर नवद्वीप मे 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'दीधिति' व्याख्या लिखी, जिसमे परम्परागत सिद्धान्तों का खण्डन करके नव्य-न्याय के आधारभूत सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की है। 'दीधिति' व्याख्या के प्रारम्भ मे रघुनाथ शिरोमणि ने लिखा है-''बहुत से व्यक्ति न्यायशास्त्र का अध्ययन करते है तथा इस शास्त्र के ग्रन्थो की रचना करते हैं; किन्तु न्यायशास्त्र के अनिर्वचनीय रहस्य को कम ही विद्धान समझ पाते है।''[१] प्रसिद्ध कवि सत्येन्द्रनाथ बगालियों का गौरवगान करते हुए रधुनाथ शिरोमणि के विषय मे लिखते है ——

''किशोरवयसे पक्षधरेर पक्ष शातन करि।
बाङ्गीलीर छेले फिरे एल घरे यशेर मुकुट परि।।''

सत्रहवी शती के प्रारम्भ मे 'गोष्ठीकथा' के रचयिता आचार्य पंचानन चट्टोपाध्याय ने रघुनाथ शिरोमणि का परिचय देते हुए कहा है ——

''काणा छोड़ा बुद्ध दड़ नाम रघुनाथ।
मिथिलार पक्षधरे ये करेछे मात।।''[२]

रघुनाथ शिरोमणि काने थे। अतएव उन्हे 'काणभट्ट शिरोमणि' भी कहा जाता था। बगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान वासुदेव सार्वभौम का कुल परिचय 'राढ़ीय ब्राह्मण कुल' ग्रन्थ में वर्णित है, किन्तु उनके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि का कुल परिचय किसी कुलग्रन्थ में नही मिलता। 'श्री हट्टेर इतिवृत्त' नामक पुस्तक मे ख्यातिलब्ध विद्वान अच्युतचरण चौधरी महोदय ने श्री हट्ट के 'वैदिक सवादिनी' ग्रन्थ के अनुसार लिखा है —— ''श्री हट्ट के पञ्चखण्डवासी वात्स्यायन गोत्र वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण गोविन्द चक्रवर्ती के छोटे पुत्र रघुनाथ ही प्रसिद्ध रघुनाथ शिरोमणि है। रधुनाथ शिरोमणि के बड़े भाई रघुपति ने बंगाल के राजा सुविद नारायण की लँगड़ी लडकी रत्नावती से विवाह

---

१ 'न्यायमधीते सर्वस्तनुते कुतुकन्निबन्धमप्यत्र।
अस्तु तु किमपि रहस्यं केचन विज्ञातुमीशते सुधियः।।'
— न्याय परिचय डॉ० किशोर नाथ झा, भूमिका, पृ० ११

२ न्याय-परिचय · डॉ० किशोर नाथ झा, भूमिका, पृ० १२

किया। राजा के कुल मे दोष रहने से समाज मे इनकी बडी अप्रतिष्ठा हुई। इसी से इनकी विधवा माँ सीता देवी कनिष्ठ पुत्र रघुनाथ को साथ लेकर नदिया आयीं और वायुदेव सार्वभौम के हाथ मे उस पुत्र को दे दिया।'' [१]

सन् १३१८ बङ्गाब्द मे प्रकाशित 'नदिया काहिनी' मे राणाघाट के बाबू कुमुदनाथ मल्लिक ने लिखा है — ''रघुनाथ ने पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे नदिया के एक दुःखी परिवार में जन्म लिया था।'' [२]

रघुनाथ शिरोमणि का जन्म चाहे जिस किसी वश या स्थान पर हुआ हो; किन्तु इतना निर्विवाद है कि वे बंगाल के मस्तकमणि हुए और इसमे भी किचित सदेह नही कि उन्ही रघुनाथ शिरोमणि ने नदिया से मिथिला जाकर पक्षधर से शिक्षा ग्रहण की थी। पक्षधर मिश्र पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं तथा मिथिला के यज्ञपति उपाध्याय के शिष्य रहे हैं। रघुनाथ शिरोमणि ने मिथिला जाकर पक्षधर मिश्र आदि विद्वानों से शास्त्रार्थ किया, जिसके कारण उन्हें 'तार्किक शिरोमणि' की पदवी प्राप्त हुई। इसके बाद उन्होंने तत्त्वचिन्तामणि की 'दीधिति' व्याख्या तथा अन्यान्य विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया। [३]

बंगाल के रत्न कहे जाने वाले नवद्वीप शाखा के संस्थापक नव्य-नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि अपनी असाधारण प्रतिभा और तर्कशक्ति से नव्य न्याय को एक नया रास्ता दिखाया है। रघुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमें श्रीरामरुद्र की 'तत्त्वचिन्तामणि दीधिति टीका', रघुदेव की 'दीधिति टीका', रुद्र की 'तत्त्वचिन्तामणि प्रकाशिका', श्री जयराम की 'तत्त्वचिन्तामणि-गूढ़ार्थविद्योतन' श्री कृष्णदास की 'तत्त्वचिन्तामणि दीधिति प्रसारिणी', श्री भवानन्द की 'तत्त्वचिन्तामणि दीधिति प्रकाशिका', श्री जगदीश तर्कालङ्कार की 'जागदीशी' और गदाधर भट्टाचार्य की 'गदाधरी' अत्यधिक प्रसिद्ध है।

---

१ 'बङ्गाब्द' १३११ मे प्रकाशित साहित्य-परिषद्-पत्रिका।

२ सन् १३१८, बङ्गाब्द, पृ० ११२

३. न्याय-परिचय . डॉ० किशोर नाथ झा, भूमिका, पृ०२७

वैशेषिक तत्त्वमीमासा में अंगीभूत सप्तपदार्थ कोटियो मे से आलोच्य ग्रन्थ 'पदार्थतत्त्वनिरुपण' मे रघुनाथ शिरोमणि केवल अन्त्य विशेष के खण्डन के लिए युक्ति प्रस्तुत करते हैं। उनका यह प्रयास स्पष्टतया पूर्व मीमासा के दृष्टिकोण से प्रभावित है। दीधितिकार क्षण, सख्या, स्वत्व, शक्ति, वैशिष्ट्य एव विषयता के लिए एक-एक स्वतन्त्र पदार्थ कोटि का प्रावधान करते हैं। सख्या एवं शक्ति स्वतन्त्र पदार्थ के रूप मे प्रभाकर मीमासा मे अङ्गीभूत है।

वैशेषिक-दर्शन मे स्वीकृत नौ द्रव्यो में से रघुनाथ दिक्, काल एव आकाश को ईश्वर से अभिन्न सिद्ध करने के लिए लाघवतामूलक युक्तियॉ प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार —— 'मन वस्तुत· न्यूनतम परिमाण विशिष्ट वायु, तेज, जल अथवा पृथ्वी त्रसरेणु ही है। अर्थात् आकाश ईश्वर से अभिन्न होने से एव त्रसरेणु ने न्यूनतर परिमाण विशिष्ट परमाणु एव द्वयणुक सिद्धि के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध न होने से मन असमवेत भूत पदार्थ है। देश एव काल का स्वतन्त्र द्रव्यत्व खण्डन के लिए रघुनाथ द्वारा प्रस्तुत युक्तियॉ देश एव काल विषयक प्रतीतियों के सूक्ष्म विश्लेषण पर आधारित न होने से भासर्वज्ञ के द्वारा देश एव काल के द्रव्यत्व खण्डन के लिए दी गयी युक्तियों की तुलना में तत्त्वमीमांसीय महत्व रहित, लघु तथा सतह स्तर की प्रतीत होती हैं। उनकी आकाश के स्वतन्त्र द्रव्यत्व खण्डन प्रक्रिया भी शब्द के स्वरूप, उत्पत्ति तथा संचरण प्रक्रिया विषयक तथ्यों पर आधारित न होकर केवल ईश्वर की कार्यमात्र के प्रति निमित्त कारणता तथा औपचारिक लाघवता पर आश्रित होने से तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से सार गर्भित नही है''[१]

प्रभाकर के मत का अनुसरण करते हुए रघुनाथ समवाय का नानात्व स्वीकार करते हैं। प्रभाकर मत से समवाय संबंध का अनुयोगी एवं प्रतियोगी उभय नित्य होने पर समवाय नित्य होता है, अन्यथा वह अनित्य होता है। प्राचीन न्याय-वैशेषिक मत से प्रभाकर मत अधिक युक्तिसङ्गत है; क्योकि समवाय के एकत्व से प्राप्त लाघवता

---

१. पदार्थतत्वनिरूपणम्: भूमिका पृ० ४

वस्तुत सतह स्तरीय है।[१] प्रभाकर मत का अनुसरण करते हुए रघुनाथ शिरोमणि 'शक्ति' का स्वतन्त्र पदार्थत्व स्वीकार करते हैं, परन्तु उनकी शक्ति सिद्धि प्रक्रिया केवल पदार्थलाघवता पर आधारित होने से मीमासको की शक्ति सिद्धि प्रक्रिया से स्वतन्त्र है।[२]

'आत्मतत्त्वविवेकदीधिति' मे रघुनाथ शिरोमणि विषयता का स्वतन्त्र पदार्थत्व सिद्ध करने के लिए तद्विषयक इच्छा के प्रति तद्विषयक ज्ञान की कारणता स्वीकार करने की शास्त्रीय आवश्यकता को भी एक आधार के रूप मे लते हैं।[३] आलोच्य विषय के सदर्भ मे रघुनाथ शिरोमणि द्वारा वैशेषिक-दर्शन के अगीभूत सप्त पदार्थो का समीक्षात्मक विवेचन अगले अध्याय मे किया गया है।

(IV) न्याय-वैशेषिक दर्शन की समानतन्त्रता

न्याय-वैशेषिक दर्शन परस्पर संबद्ध हैं, दोनो 'समान-तन्त्र' कहे जाते हैं। प्राय. सभी भारतीय सम्प्रदाय मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान को दु:ख का कारण मानते हैं। तत्त्वज्ञान को अज्ञान का निवारक मानकर उसकी प्राप्ति को व्यक्ति के अन्तिम लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में तत्त्वज्ञान को नि:श्रेयस की प्राप्ति का साधन माना गया है।[४] दोनों दर्शनो में 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न

---

१. प्रकरणपञ्चिका, तथा न्यायसिद्धि पृ० ९२-९३
   न्यायसिद्धान्त मुक्तावली तथा दिनकरी, पृ० ६७
२. शास्त्रदीपिका, पृ० ८०
३ ''कि च यदि विषयता तत्वं वानातिरिच्यते, तदा कथं कद्विषयकेच्छेदिसामान्ये तद्विषयकज्ञानाना कारणत्वम् अननुगतत्वात्, संबन्धत्वेन चानुगमेऽतद्विषयके तत्सबन्धशालिनिज्ञानेऽतिप्रसङ्ग·, तस्मादतिरिक्तैव विषयता, तद्विशेषास्तु प्रकारतादय:, एव विषयत्वादिकमपि। एतेन प्रतियोगित्वाधिकरणत्वादयो व्याख्याता:, सप्तपदार्थी प्रवादस्तु वैशेषिकप्रसिद्धिमनुरूद्ध्यैव।''
   — आत्मतत्वविवेकदीधिति, पृ० ५१५।
४. o ''धर्मविशेषप्रसूवाद द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेषसमवायाना पदार्थाना साधमर्स-वैधर्म्याभ्या तत्वज्ञानान्नि·श्रेयस्।''
   —वै० सू० १/१/४।
   o ''प्रमाण प्रमेय सशय प्रयोजनदृष्टान्त सिद्धान्तावयवतकर्मनिर्णय वादजल्पवितण्डाहेत्वाभास-छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्वज्ञानान्नि: श्रेयसाधिगम·।
   — न्याय-सूत्र १/१/१।

अर्थो मे हुआ है। कणाद् ने समस्त सासारिक वस्तुओ की सत्ता पदार्थ के अन्तर्गत स्वीकार किया है। जबकि महर्षि गौतम के पदार्थ प्रमाण पत्र के विवेच्य-विषय हैं। यद्यपि दोनो दर्शनो मे आशिकतम भिन्नता है, तथापि दोनो ने ही पदार्थो के सम्यक् ज्ञान को मोक्ष का साधन माना है।

तर्कसग्रह न्यायशास्त्र का प्रकरण-ग्रन्थ है, जिसमे न्याय-दर्शनकार गौतम मुनि के सोलह पदार्थों को महर्षि कणाद कृत सप्तपदार्थो के भीतर अन्तर्भाव कर दिया गया है। तर्कसंग्रह मे अन्नं भट्ट ने कहा है-'पदार्थज्ञानस्य परम प्रयोजन मोक्ष इत्यामनन्ति। स चात्यन्तिकैकविशतिदु·खध्वस·। आत्यन्तिकत्व च स्वसमानाऽधिकरणदु:ख -प्रागभावऽसमानकालीनत्वम्। दु:खध्वसस्येदानीमपि सत्त्वेनाऽस्मदादीनामपि मुक्तत्त्वाप पत्त्विारणाय कालीनाऽन्तम्। मुक्तयात्मकद:खध्वसस्याऽन्यदीयदु ख प्रागभावसमान-कालीनत्वाद्वामदेवादीनां मुक्तात्मनामपि अमुक्तत्वप्रसङ्गात्, 'स्वसमानाऽधिकरणे' ति प्रागभावविशेषणम्। दु:खानि चैकविशतिः - शरीर, षडिन्द्रियाणि, षड् विषया·, षड् बुद्धय:, दु·ख सुख च। दु:खाऽनुषङ्गित्वाच्छरीरादौ गौणदु.खत्वम्। तथा च 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' इति श्रुते: आत्मज्ञानसाधननिदिध्यासनमननसाधनत्व पदाऽर्थज्ञाने सञ्जाघटीति। एवं च तत्त्वज्ञान सति शरीरपुत्रादावात्मत्वस्वीयत्वाऽभि-मानरुम्पमिथ्याज्ञानस्य नाश:, तेन दोषाऽभाव·, तेन प्रवृत्त्यनुत्पत्तिनुत्त·, तत्स्तत्कालोनशरीरेण काव्यव्यूहेन वा भोगतत्त्वज्ञानाभ्यां प्रारब्धकर्मणां नाशस्ततो जन्माऽभाव:।' [१]

न्याय-वैशेषिक की परम्परा में कार्यकारण सिद्धान्त 'आरम्भवाद' कहलाता है। जबकि इसका प्रतिपक्षी सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' है, जिसकी विवेचना सांख्य, वेदान्त आदि करते हैं। आरम्भवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् रहता है। उत्पन्न हो जाने पर उसका एक नवीन प्रारम्भ माना जाता है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में निहित रहता, तब निमित्त कारण की आवश्यकता नहीं होती। यदि मिट्टी मे घड़ा निहित रहता तो कुम्हार, चाक आदि की आवश्यकता का क्या प्रयोजन? कार्य की इस दशा का नाम प्राग्भाव है। न्यायशास्त्र का मानना है कि यदि कार्य एवं कारण

---

१ तर्कसंग्रह . शोषराज शर्मा (अनु०), पृ० ९०-९१।

वस्तुत· अभिन्न हैं, तब दोनो मे एक ही प्रयोजन की पूर्ति होनी चाहिए, परन्तु हम पाते हैं कि कार्य का प्रयोजन कारण से भिन्न है। मिट्टी के घडे में पानी जमा किया जाता है, परन्तु मिट्टी (कारण) के द्वारा यह काम पूरा नहीं हो सकता है। अत. न्याय–वैशेषिक कारणता के सिद्धान्त मे एक मत हैं और 'सत्कार्यवाद' का खण्डन कर 'आरम्भवाद' का प्रतिपादन करते हैं।

प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण की व्याख्या न्याय–वैशेषिक दोनो एक मत होकर करते हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा एव उसके भेद में दोनो का मत एक है। अनुमान का स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान मे भेद तथा स्वार्थानुमान मे तीन अवयव एवं परार्थानुमान में 'पचावयव' की नैयायिकों की मान्यता को वैशेषिक–दर्शन ज्यो का त्यों स्वीकार कर लेता है। इससे न्याय वैशेषिक की समानतन्त्रता सिद्ध होती है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन–ये पॉच प्रकार के कर्म माने गये हैं। नैयायिक तथा वैशेषिक दार्शनिको ने सयोग तथा विभाग के प्रति निरपेक्ष कारण को ही कर्म बतलाया है। उठना–बैठना, चलना–फिरना, आदि समस्त क्रियाएँ कर्म के अन्तर्गत आ जाती हैं। कर्म सर्वथा द्रव्य में ही उत्पन्न होता है तथा उत्पन्न होकर द्रव्य में ही रहता है। अत: कर्म का आश्रय द्रव्य है।

न्याय ने वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा प्राय: स्वीकार कर ली है। सृष्टि एव प्रलय के सिद्धान्त को लेकर दोनों दार्शनिक सम्प्रदाय एकमत हैं। दोनों ने ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार द्रव्यों के परमाणुओं को प्रलयकाल में भी स्थिर माना है, क्योंकि ये नित्य है।[१] सृष्टि पृथिव्यादि परमाणुओं के संयोग से तथा प्रलय परमाणुओ के विभाग से होती है। परमाणु स्वत: निष्क्रिय एवं गतिहीन हैं। इनमें ईश्वर अदृष्ट' के माध्यम से गति प्रदान करता है। इस प्रकार परमाणु अविभाज्य, निरवयव, नित्य, अदृश्य, गतिहीन तथा अनुमानगम्य है।

---

१ 'इदानीं चतुर्णा महाभूतानां सृष्टि सहार विविधरूच्यते।'

– प्रा० पा० भा०, पृ०, २१

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार प्रत्येक सृष्टि के पूर्व प्रलय की अवस्था होती है और प्रलय के पूर्व सृष्टि की अवस्था। ईश्वर जीवों को उनके पूर्व कर्मो का फल दिलाने के लिए सृष्टि-रचना करता है। उल्लेख्य है कि 'अदृष्ट' एक अप्रत्यक्ष तत्त्व है, जो जीवो के कर्मो का अधिष्ठान है। जीवो के कर्म सस्कार रूप मे इसी में समाहित होते रहते हैं और यही यथासमय उन्हे फल दिलाता रहता है। परमाणुओ से जगत् की उत्पत्ति तब होती है, जब सर्वप्रथम एक ही द्रव्य के दो परमाणु सयुक्त होकर 'द्वयणुक' बनाते हैं। यह अणु, अदृष्य एव अतीन्द्रिय है तथा अनुमान द्वारा ज्ञेय होता है। तीन द्वयणुक सयुक्त होकर 'त्रयणुक' या 'त्रसरेणु' बनाते हैं। त्रयणुक महत् तथा दृश्य होता है। उसके बाद चतुर्णक बनाते है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के स्थूल पदार्थों का आविर्भाव नहीं हो जाता है। इस प्रकार सृष्टि रचना मे परमाणु उपादान कारण हैं तथा 'अदृष्ट' प्रेरित ईश्वर निमित्त कारण है। वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश की उपर्युक्त प्रक्रिया को न्याय-दर्शन ज्यो का त्यो स्वीकार कर लेता है। अत: इस संदर्भ में दोनों सम्प्रदाय एक मत हैं।

यद्यपि न्याय और वैशेषिक दर्शन'समान-तन्त्र' माने जाते हैं। उनमें उपर्युक्त समानताओ के होने के बावजूद कतिपय असमानताएँ भी हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ पर समीचीन होगा।

वैशेषिक-दर्शन में प्रमेय-मीमांसा का मुख्य स्थान है और प्रमाण मीमांसा का गौण। इस दर्शन की मान्यता है कि तत्त्वविषयक ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को पदार्थों का सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक है। वैशेषिक-दर्शन में सात पदार्थ तथा नौ द्रव्य माने गये हैं, जिसके अन्तर्गत भौतिक जगत् की समस्त वस्तुएँ समाहित हो जाती है। वैशेषिक-दर्शन में केवल दो प्रमाण-प्रत्यक्ष और अनुमान ही स्वीकृत हैं। शब्द और उपमान प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत करता है। न्याय-दर्शन मे वैशेषिक-दर्शन के विपरीत प्रमाण-मीमासा प्रधान है, जबकि प्रमेय मीमांसा गौण। पदार्थो की सख्या सोलह मानी गयी है। न्याय चार प्रकार के स्वतन्त्र प्रमाणों-प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द और

उपमान एव बाहर प्रकार के प्रमेयो-आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख एव अपवर्ग को मानता है।

न्याय-दर्शन मे जितनी ज्ञानेन्द्रियॉ-चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणज तथा स्पार्शन है, उनके अलग-अलग प्रत्यक्ष विषय है, परन्तु वैशेषिक एक मात्र 'चाक्षुष' को प्रत्यक्ष मानता है। न्याय-दर्शन मे 'समवाय' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जबकि वैशेषिक 'समवाय' का ज्ञान अनुमान प्रमाण से मानता है। नैयायिको के अनुसार हेत्वाभास पॉच प्रकार के होते है - सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित। वैशेषिक दर्शन मे विरुद्ध, असिद्ध और सदिग्ध-ये तीन प्रकार के हेत्वाभास ही स्वीकार किये गये हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शनो की महत्वपूर्ण विशेषता उसके पाक् (Chemical Action) संबधी सिद्धान्तो मे है। पार्थिव परमाणुओ के साथ तैजस परमाणुओ के संयोग को, जिसके कारण पार्थिक परमाणुओं के रूपादि में परिवर्तन हो जाता है, उसे 'पाक' कहते हैं। यहॉ तक दोनों दर्शनो के मत समान हैं, लेकिन पाक् की क्रिया मे दोनों तन्त्र एकमत नहीं हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही छिद्रवाली होती हैं। उनमें तैजस परमाणु प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण वस्तु में बिना अवयव रूप में परिणत किये हुए ही उसमें पाक् उत्पन्न कर देते हैं, जिससे उस वस्तु का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। नैयायिको का यह सिद्धान्त 'पिठरपाकवाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

पिठरपाकवाद के विपरीत वैशेषिकों की धारणा है कि जब तक कोई वस्तु नष्ट होकर परमाणु रूप मे बदल न जाय, तब तक उस वस्तु के सभी परमाणुओ मे तैजस परमाणुओ का प्रवेश असंभव है। अतएव पाक की प्रक्रिया केवल परमाणुओं मे ही होती है, सम्पूर्ण वस्तु अथवा पिठर में नहीं हो सकती। वैशेषिक के पाक (Chemical Action) सबंधी इस सिद्धान्त को 'पीलुपाकवाद' कहा जाता है।[१]

---

१. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण डॉ० संगमलाल पाण्डेय, पृ० २८७-२८८।

इस प्रकार, न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय आस्तिक विचारधारा का प्रथम युग्म है, जो वेदो में आस्था रखते हुए स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ। इसने विश्व की सत्ता को वास्तविक मानकर उसकी व्याख्या करना श्रेयस्कर समझा। भारतीय-दर्शन मे न्याय-वैशेषिक दर्शन की विचारधारा का योगदान अत्यन्त मौलिक एव महत्त्वपूर्ण है। ये कट्टरवस्तुवादी हैं तथा इन्हे अनुभव की यथार्थता मे दृढ़ विश्वास है। दोनों दर्शनो का उद्देश्य जीव का मोक्ष है। आत्मा का स्वरूप दोनो दर्शनो मे एकसा हैं न्याय-वैशेषिक की तत्त्वमीमासा एकसी है। इसलिए दोनो दर्शन समानतन्त्र कहे जाते हैं।

(v) अन्यान्य दर्शनों की दृष्टि से न्यायशास्त्रीय पदार्थों का स्वरूप

भारत में सभी दार्शनिक सम्प्रदायो का उद्देश्य मनुष्य को दु:खो से 'मुक्ति' दिलाना ही रहा है, किन्तु न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय की विशेषता इसी मे है कि इसने केवल मोक्ष को अपना अन्तिम ध्येय न मानकर जगत् को जानना एव उसकी व्याख्या करना भी अपना उद्देश्य माना।[१] अन्य शब्दो मे कहा जा सकता है कि इसके अनुसार विश्व से 'मुक्त' होने के उपाय जानने से पूर्व इस विश्व का स्वरूप जानना अधिक आवश्यक है।[२]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'पदार्थ' का लक्षण होगा- 'पदस्य अर्थ:'। 'पद' तो शब्द का पर्याय है तथा 'अर्थ' की व्युत्पत्ति होगी —— 'ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थ:' अर्थात् कोई भी विषय, जो इन्द्रिय ग्राह्य है, 'अर्थ' है। अत: इस दृष्टि से 'पदार्थ' का लक्षण हुआ —— ऐसी सभी वस्तुएँ जिन्हें कोई नाम दिया जा सके, 'पदार्थ' कहलाती

1. Frauwallner, E., HIP, Vol II, P.13
2. Potter, Intro, to PTN, P.2

है। कोश–ग्रन्थो मे 'पदार्थ' का यही तात्पर्य दिया गया है [१] तथा मैक्समूलर [२] पॉटर [३] आदि विद्वानो ने भी इसे इसी प्रकार स्पष्ट किया है।

पदार्थों की सख्या को लेकर दार्शनिक सम्प्रदायो मे मतवैभिन्नता है। यहॉ पर विभिन्न दार्शनिको एवं आचार्यो द्वारा मान्य पदार्थों एव उनके स्वरूप का विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसका विवरण निम्नलिखित है–

सांख्य मत ––

सांख्य–दर्शन मे पच्चीस तत्त्व माने गये हैं और कैवल्य की प्राप्ति के लिए इन तत्त्वो का ज्ञान होना आवश्यक हैं इन्हीं तत्त्वो को सांख्य सृष्टि के विकास का आधार मानता है। साख्य के पच्चीस तत्त्व हैं– प्रकृति, पुरुष, महत् (बुद्धि), अहकार (सत्व, रजस् एवं तमस्), पंचज्ञानेन्द्रियॉ (ऑख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा), पंचकर्मेन्द्रियॉ (वाक्, पाणि, पाद, पायु एव उपस्थ), मन, पंचतन्मात्रा (शब्द तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र), एव पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश)। [४]

---

१. (क) पदानां घटपटादीनाम् अर्थोऽभिधेयः। तत्पर्यायः – भाव , धर्मः, तत्त्वं, सत्त्वं, वस्तुइति जटाधरः।

— श० क० द्रु० तृतीयो भाग , पृ ४०

(ख) 'मानक–हिन्दी–कोश' मे 'पदार्थ' शब्द के पॉच अभिप्राय दिये गये है, जिनमे से सर्वप्रथम यही है ––– 'वाक्यों आदि मे आने वाले शब्द या पद का अर्थ।'

— मा० हि० को० तीसरा खण्ड, पृ ३६६।

2 'Bedeutung, Ziel oder Gengenstand (artha) eines wortes (poda)'

-- Maxmuller, ZDMG, Vi, 1852, P 11

3 'Category' is the usual transtation of Sanskrit Padartha Literally, Padartha means 'the thing of a word' or that to which a word refers.

-- Potter, Intro to PTN, P.4

४ सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहकारात्।
पंचतन्मात्रामुभयमिन्द्रियं, स्थूलभूतानि तन्मात्रेभ्यः पुरुष इति पचविशति स्मरण ।।

— डॉ० रामनाथ शर्माः भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व, पृ० २०२।

.साख्य सम्मत इन पच्चीस तत्त्वो में पुरुष कार्यकारणभाव से सर्वथा अलग है। वह न 'प्रकृति' (कारण) है और न विकृति (कार्य)। मूल 'प्रकृति' केवल कारण है, विकृति नहीं। महत्, अहकार और पचतन्मात्राएँ–ये सात तत्त्व 'प्रकृति–विकृति' दोनो है। मनस् पचज्ञानेन्द्रियॉ, पचकर्मेन्द्रियॉ ओर पचमहाभूत–ये सोलह तत्त्व केवल 'विकृति' है।[१]

साख्य–दर्शन सृष्टिवादी नही विकासवादी है। सभी सासारिक वस्तुओ को सांख्य दर्शन विकास का फल स्वीकार करता हैं। यह विकास प्रकृति तथा पुरुष के सयोग से होता है। अकेला पुरुष सृष्टि नही कर सकता, क्योकि वह निष्क्रिय है। इसी प्रकार अकेली प्रकृति भी सृष्टि करने मे सक्षम नही है, क्योकि वह जड़ है। अत· सृष्टि के लिए इन दोनो, प्रकृति तथा प्ररुप का संसर्ग आवश्यक है। सृष्टि से पहले सभी गुण साम्यावस्था में रहते हैं; प्रकृति का पुरुष से सान्निध्य होने पर साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होता है, जिसे 'गुण–क्षोम' कहते हैं, तभी सृष्टि का विकास होता है। साख्य सत्कार्यवादी होने से सृष्टि को नवीन उत्पत्ति नहीं स्वीकार करता है, वह अभिव्यक्ति ही मानता है।

योगमत —

योग–दर्शन, सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर (God) की सत्ता भी स्वीकार करता है। योग प्रतिपादित ईश्वर एक विशेष पुरुष हैं वह जगत् का कर्ता, धर्ता संहर्ता और नियन्ता नहीं है। असंख्य नित्य पुरुष तथा नित्य अचेतन प्रकृति स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में ईश्वर के साथ–साथ विद्यमान है। प्रत्यक्ष रूप में ईश्वर का प्रकृति से या पुरुष के बन्धन और मोक्ष से कोई लेना–देना नहीं है। 'योगसूत्र' मे ईश्वर

---

१ मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या. प्रकृतिविकृतय: सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति· पुरुष· ।।

—सा० का०, ३

के स्वरूप का वर्णन करते हुए महर्षि पतजलि ने कहा है —— 'क्लेष, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्म–सस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट पुरुष–विशेष ईश्वर है। [१]

चार्वाक मत ——

चार्वाक–दर्शन की तत्त्वमीमासा का आधार उसके द्वारा मान्य चार महाभूत हैं —— पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। [२] चार्वाक दर्शन जडवादी है। प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण मानने के कारण 'आकाश' की सत्ता का निषेध करता है। उल्लेखनीय है कि अन्यान्य भारतीय दार्शनिक अनुमान के आधार पर आकाश की सत्ता स्वीकार करते हैं। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, परलोक, जीवन की नित्यता तथा अदृष्ट आदि तत्त्व अप्रत्यक्ष हैं, इस कारण चार्वाक इन तत्त्वो को अस्वीकार करता है। चार्वाक चतुर्भूतो को केवल स्थूल रूप ही मानता है और उनके अणुरूप का निषेध करता है, क्योकि अणुरूप का प्रत्यक्ष संभव नहीं है।

चार्वाक दार्शनिको की मान्यता है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि चार भूतो–पृथ्वी, जल, तेज और वायु से हुई है। ये महाभूत ही जगत् के उपादान कारण हैं। इन महाभूतों का विभिन्न अनुपात में समिश्रण होने से वाह्यजगत्, भौतिक शरीर, चेतना, बृद्धि और इन्द्रियॉ उत्पन्न होती है। रूप, रस, गध आदि गुणो की उत्पत्ति का आधार भी महाभूतों का संयोग ही है। विनाश के उपरान्त सम्पूर्ण जड़ एवं चेतन जगत् उन्ही चतुर्भूतों में विलीन हो जाता है। इनके संयोग के लिए किसी निमित्त कारण की आवश्यकता नहीं होती। चार्वाक चैतन्य युक्त शरीर को ही आत्मा कहता है। [३]

जैन मत ——

जैन–दर्शन में सात प्रकार के तत्त्वो का वर्णन मिलता है, जिससे समस्त विश्व की रचना मानी गयी है। ये तत्त्व हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा

---

१ 'क्लेषकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो पुरुषविशेष ईश्वरः।'

— यो० सू०, १, २४

२ 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि' — बृहस्पति

३ 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।' — बृहस्पति

तथा मोक्ष। इनमे से प्रथम दो तत्त्व-जीव और अजीव को 'द्रव्य' कहा गया है। 'द्रव्य वह है, जिसमे गुण और पर्याय दोनो मौजूद हो। [१]

जैन दार्शनिक न्याय-दर्शन की इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि द्रव्य एव गुण मे नितान्त भेद है। जैन-दर्शन मे द्रव्य का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया गया है।
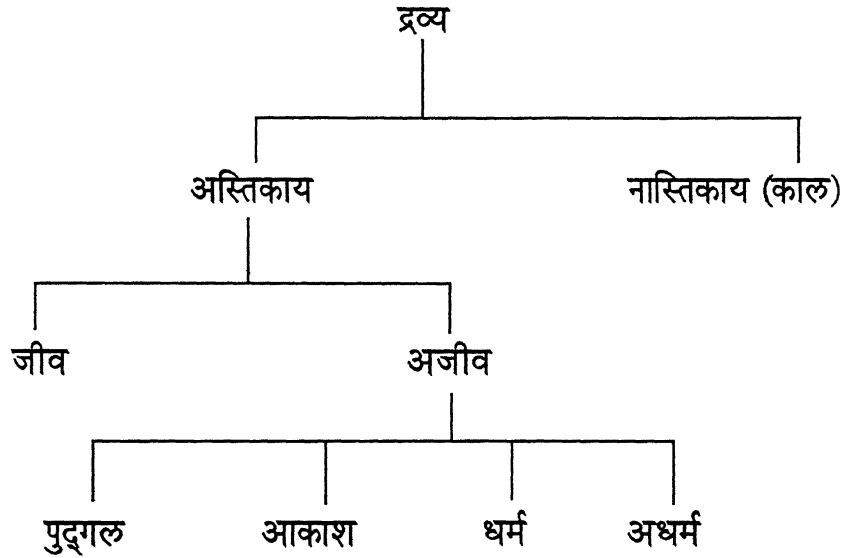
जैन-दर्शन के अनुसार बन्धन का अर्थ है, जन्म ग्रहण करना या जीव का शरीर से सबध स्थापित होना। कर्म ही बन्धन का कारण है। जीव की ओर कर्म-पुद्‌गलो का प्रवाह ही 'अस्रव' कहलता है, जिससे जीव कर्म के बन्धन में बंध जाता हैं जैन दार्शनिकों ने जीव को बन्धन से मुक्ति दिलाने के लिए 'संवर' एवं 'निर्जरा' नामक तत्त्वों का विधान किया है। जिससे कर्मपुद्‌गलों का जीवन की ओर आस्रव बन्द हो जाता है तथा जीव में विद्यमान समस्त कर्मो का नाश होने से जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। इन तत्त्वों का अनुशीलन करने के लिए जैन 'त्रिरत्न' का विधान करता है, जो मोक्ष मार्ग कहे गये है। [२] सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चरित्र ही 'त्रिरत्न' कहे जाते है।

---

१. 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' – तत्तवर्थाधिगमसूत्र, ५/३८

२. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः' — त० सू०, १/१

प्रभाकर मत ——

प्रभाकर मीमासक आठ पदार्थ मानते हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सादृश्य एवं सख्या।[१] द्रव्य, गुण एवं कर्म के विषय में प्रभाकर के विचार न्याय–वैशेषिक के विचारों से मिलते–जुलते हैं। प्रभाकर के अनुसार सामान्य प्रत्येक व्यक्ति में पूर्णरूपेण विद्यमान रहता है और इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है। व्यक्ति से पृथक् सामान्य का अस्तित्त्व नहीं है। 'शक्ति' नामक पदार्थ की व्याख्या करते हुए प्रभाकर ने कहा है —— 'शक्ति' उस क्षमता का नाम है, जिसके द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य, वस्तुओं के कारण बनते है शक्ति नित्य वस्तुओं में नित्य रहती है और अनित्य वस्तुओं मे अनित्य। जैसे, अग्नि मे रहने वाली 'दाहकता' अग्नि की शक्ति है जिसके अभाव में अग्नि का अस्तित्त्व संभव नहीं है। 'सादृश्य' समवाय से भिन्न है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमान और उपमान द्वारा होता है। 'सादृश्य' द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य में रहता है और उनसे भिन्न पदार्थ है।

प्रभाकर मीमांसक का मत है कि 'सख्या' भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह द्रव्य एवं गुण में रहती है। यदि प्रभाकर के पदार्थो को न्याय–वैशेषिक के पदार्थो के साथ तुलना करें तो न्याय–वैशेषिक के पदार्थो में से विशेष एवं अभाव को निकालकर तथा शेष को स्वीकार करते हुए शक्ति, सादृश्य एवं संख्या को पदार्थ के रूप मे माना है। प्रभाकर 'अभाव' को पदार्थ नहीं मानते, क्योंकि 'अभाव' किसी भाव पदार्थ की अनुपस्थिति के रूप में समझा जा सकता है। 'विशेष' भी पदार्थ नहीं है, क्योंकि यह गुण बोधक है।

कुमारिल भट्ट मत ——

भाट्ट मीमांसक पाँच प्रकार के पदार्थो में विश्वास करते हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।[२] कुमारिल भट्ट का मत है कि सामान्य एवं विशेष को दो

---

१. प्र० प०, पृ० ७८

२. 'वयं तावत् प्रमेयं तु द्रव्यजातिगुणक्रियाः।
अभावश्चेति पञ्चैतान् पदार्थानाद्रियामहे ॥' — मा० मेयो०, पृ १५०

पृथक-पृथक पदार्थ मानने के बजाय एक ही 'सामान्य' पदार्थ मानना चाहिए 'विशेष' कोई अतिरिक्त पदार्थ नही।[१] इसी प्रकार 'समवाय' को भी एक पृथक् पदार्थ नहीं माना जा सकता, उसका प्रयोजन स्वरूप-सबन्ध से ही सिद्ध हो जाता है।[२]

द्रव्य पदार्थ के विषय मे कुमारिल और प्रभाकर एक मत नहीं हैं। प्रभाकर ने नौ द्रव्य माने हैं - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन। उल्लेखनीय है कि प्रभाकर का द्रव्य विचार, न्याय-वैशेषिक के द्रव्य विचार के समान है। जबकि आचार्य कुमारिल ने इन नौ द्रव्यो के अतिरिक्त 'तमस' (अन्धकार) एवं द्रव्य 'शब्द' को भी द्रव्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। इस प्रकार भाट्ट मत से ग्यारह द्रव्य माने गये। कुमारिल के अनुसार 'तमस' में भी गुण एव कर्म होता है। अत: तमस् भी द्रव्य है। 'शब्द' को द्रव्य मानने का आधार कुमारिल ने साक्षात् इन्द्रिय-सबन्ध से उसका ग्रहण बताया है। वे इस विचारधारा के विपरीत हैं, जिसमें 'शब्द' को गुण माना जाता है। वे शब्द को नित्य एवं सर्वगत मानते है। नैयायिको ने कुमारिल भट्ट के 'तमस्' एवं 'शब्द' को द्रव्य नहीं माना है क्योंकि तमस् (अन्धकार) प्रकाश का अभाव है। इसी प्रकार 'शब्द' भी आकाश का विशेष गुण है। अत· तमस् एवं शब्द को द्रव्य मानना उचित नहीं।

अरस्तू द्वारा पदार्थ विचार —

पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम अरस्तू ने पदार्थों का वर्गीकरण किया है। 'पदार्थ' के पद के लिए 'कैटेगरी' पद का प्रयोग किया है। उसके वेही अनुसार पदार्थ कहे जा सकते है; जो 'विधेय' हो।[३] अरस्तृ द्वारा माने गये पदार्थो की संख्या दस है

---

१. श्लो० वा०, आकृतिवाद, श्लो०, ९-११, पृ० ३८६-३८७

२. अभेदात् समवायोऽस्तु स्वरूप धर्मधर्मिणो।

— श्लो० वा०, प्रत्यक्षसूत्रम्, श्लो० १४९, पृ १३०

3. Aristotle (384 - 322 B.C.) is credited with being the first to use it in it's philosophical ecceptation, 'Mode of predication'

– Narain, ENVC, P. 64

— द्रव्य, गुण, सख्या, सम्बन्ध, स्थान, काला, सस्थानविशेष, जाति, कर्म और अभाव।[१]

ध्यातव्य है कि अरस्तु का पदार्थ-विभाजन तार्किक अधिक है और तात्त्वक कम। इन दस पदार्थों मे से द्रव्य के अतिरिक्त सभी दूसरे की विशेषता प्रकट करते हैं। अत: केवल द्रव्य को ही स्वत: स्थायी अथवा सत् पदार्थ कहा जा सकता है। इस प्रकार द्रव्य के अतिरिक्त अरस्तू के पदार्थ केवल अभिधेय होने से वैशेषिक के पदार्थों जैसे ही हो जाते हैं, अन्तर मात्र सख्या का रह जाता है।[२]

न्याय के षोडश पदार्थ —

न्याय-दर्शन के प्रथम सूत्र मे ही महर्षि गौतम ने इन ष्योडश-पदार्थों का निर्देश किया है-प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह-स्थान।[३] इन पदार्थों का सूक्ष्म अन्वीक्षण से स्पष्ट होता है कि ये सोलह तत्त्वत: पदार्थ नहीं है, बल्कि वाद-विद्या पर अधिकार पाने के लिए जिन विषयों का अध्ययन अनिवार्य है, उनकी सूची मात्र हैं। वैशेषिक दर्शन के अनेक आचार्यो जैसे-पद्मनाभ मिश्र, अन्नं भट्ट आदि ने भी यह सिद्ध किया है कि न्याय के इन सोलह पदार्थो का अन्तर्भाव वैशेषिक के सात पदार्थो मे ही हो जाता है।[४] दूसरी ओर न्याय-दर्शन के आचार्यों ने सोलह-पदार्थ मानते हुए भी वैशेषिक के सात पदार्थो को भी सम्मति प्रदान की है।[५]

---

1. Substance Quality, Quantity, Relation, Place, Time, Posture, Appurtence or Property, Activity, Possivity.

— Categories (In Organon, Vo 1), ii 6.

२. अवस्थी, भा० न्या० शा०, पृ० १५

३. न्या० सू० १/१/१

४. त० दी० (त० स०), पृ० ६४-६५, दिन० (न्या० सि० मु०) पृ० ३१।

५. 'अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया: प्रमेयम् तद्भेदेन चाऽपरिसख्येयम्।'

— न्या० भा० (न्या० सू० १/१/९) पृ० ४३ तथा त० भा०, पृ० २३५

वैशेषिक के सप्त पदार्थ —

वैशेषिक-दर्शन में 'सत्त-पदार्थ-सिद्धान्त' ही सर्वाधिक प्रसिद्ध एव प्रचलित है। ये सात पदार्थ हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। महर्षि कणाद एवं प्रशस्तपाद ने केवल छह ही पदार्थ स्वीकार किये हैं। अभाव को पदार्थ नहीं माना। उदयनाचार्य और शिवादित्य आदि परवर्ती आचार्यों ने 'अभाव' को भी पदार्थ के रूप मे स्वीकार किया है।

वैशेषिक दार्शनिकों की मान्यता है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट सात पदार्थो मे जगत् के सभी ज्ञेय तथा अभिधेय तत्त्वों का सन्तोषजनक वर्गीकरण हो गया है। इस सन्दर्भ में डॉ० गगानाथ झा का कथन है- ''इन पदार्थों के निरूपण का उद्देश्य समग्र जागतिक व्यवस्था का विश्लेषण ही है।''[१] कार्ल पॉटर का भी यही मत है कि-''वैशेषिकानुसारी पदार्थ-विभाजन जगत् के स्वरूप विश्लेषण मे आने वाले सभी तत्त्वो को अन्तर्भूत कर लेता है तथा वे पदार्थ प्रस्तुत· सत् तत्त्व हैं, जिनसे अन्य सब कार्य निर्मित हैं।''[२]

रघुनाथ शिरोमणि का मत —

नव्य-न्याय के प्रसिद्ध तार्किक, रघुनाथ शिरोमणि ने 'दीधिति' आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त 'पदार्थतत्त्वनिरूपणम्' नाम ग्रन्थ उनके उद्भट पाण्डित्य एवं प्रखर विचार स्वातन्त्रय का नमूना है। रघुनाथ ने वैशेषिक के सातो पारम्परिक पदार्थों की परीक्षा करते हुए अनेक परिवर्तन किया है, जिसका विषद् विवेचन ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है, किन्तु यहाँ 'पदार्थ-संख्या' के संबंध में उनका मत द्रष्टव्य है।

'विशेष' नामक पांचवा पदार्थ, जो वैशेषिक दर्शन की मौलिक स्थापना है तथा जिस पर 'वैशेषिक' नाम आधारित है- रघुनाथ को सर्वथा अमान्य है।[३] इस प्रकार 'विशेष' पदार्थ को हटा देने पर रघुनाथ वैशेषिक पदार्थ-सूची में से-द्रव्य, गुण,

---

1 Jha, J. N.. Translation of Nyayasutras' 1/2/1
2. Potter, Encyclopaedia of Indian Philosophy, Vol II p, 43
३. 'विशेषोऽपि च न पदार्थान्तरं, मानाभावात्।' — प० त० नि०, पृ० ४३

कर्म, सामान्य, समवाय तथा अभाव-ये छः ही पदार्थ स्वीकार करते है; किन्तु उनके भी कई उपभेदो का वे खण्डन करते हैं।

'द्रव्य' नामक प्रथम पदार्थ के तीन भेद — आकाश, काल एव दिक्, रघुनाथ की दृष्टि से पृथक-पृथक नहीं, एक ही अभिन्न वस्तु हैं और अभिन्न रूप मे भी वे तीनो ईश्वर से भिन्न नही, अपितु तादात्म है।[१] इस प्रकार पारम्परिक नौ द्रव्यो के स्थान पर केवल छह द्रव्य ही मानते हैं। 'परमाणु' एव 'द्व्यणुक' का भी रघुनाथ शिरोमणि ने खण्डन किया है, क्योकि प्रत्यक्ष न होने वाले किसी द्रव्य की सत्ता मे उन्हे विश्वास नहीं है।[२]

वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुण माने गये हैं। इन चौबीस गुणो की सूची मे से रघुनाथ शिरोमणि ने पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व और सख्या-इन चार गुणों को स्वीकार नहीं किया है।[३] रूप गुण काएक प्रभेद 'चित्र' भी उन्हे अमान्य हैं कर्म, सामान्य, समवाय एवं अभाव-इन चारों पदार्थो का रघुनाथ ने खण्डन तो नहीं किया, किन्तु उनमें भी कुछ-कुछ परिवर्तन सुझाये हैं। इसके अतिरिक्त तार्किक शिरोमणि आठ नये पदार्थ माने हैं- क्षण, स्वत्व, शक्ति, कारणत्व, कार्यत्व, संख्या, वैशिष्ट्य तथा विषयता।[४]

वेणीदत्त का मत-अठारहवीं शताब्दी में वेणीदत्त ने रघुनाथ शिरोमणि के इन विचारों का खण्डन करने के लिए 'पदार्थमिण्डनम्' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें पदार्थ के विषय में कुछ मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। वेणीदत्त ने केवल पॉच पदार्थ ही माने हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, धर्म और अभाव।[५] इनमें से द्रव्य की संख्या नौ इन्होंने भी मानी है। गुणो की संख्या उन्नीस बतायी है। चूँकि पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व

---

१ प० त० नि०, पृ० २३-२६

२ वही, पृ० ४०-४२

३ वही, पृ० ४४ तथा ८६

४ वही, पृ० ७२, ७६, ७८, ८४, ८५, ८६, ८७ तथा ८८।

५. प० म०, पृ० ३६

तथा सख्या को वे भी गुण नहीं मानते एवं धर्म-अधर्म के स्थान पर एक अदृष्ट को ही स्वीकार करते हैं। वेणीदत्त ने कर्म को केवल एक ही प्रकार का माना है - गमन।

उक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि के पहले वैशेषिक-दर्शन द्वारा प्रतिपादित 'सप्त-पदार्थ' ही प्रसिद्ध रहा है। प० आनन्द झा ने सप्त-पदार्थो के विषय मे कहा है –– ''इन सप्त पदार्थों के विवेचन के अनन्तर कोई पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता। विवेचन या अन्वेषण भले ही नया हुआ करे, पर सात पदार्थों के अतिरिक्त विवेच्य, अन्वेष्य कोई विषय ही नहीं बचता''

दीधितिकार शिरोमणि ने अपनी तार्किक कुशलता का परिचय देते हुए 'विशेष' नामक पदार्थ का खण्डन किया है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय एव अभाव के अतिरिक्त क्षण, संख्या, स्वत्व, शक्ति, कारणत्व, कार्यत्व, वैशिष्ट्य तथा विषज्ञयता आदि अतिरिक्त पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता का भी प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत अध्याय मे न्याय-दर्शन के प्रमाण मीमासा एवं तत्त्वमीमांसा का विवेचन करते हुए यह प्रतीत होता है कि न्याय-दर्शन का इतना महत्व है कि बिना न्यायशास्त्र का अध्ययन किये हुए भारतीय-दर्शन को समझ पाना संभव नहीं है। उक्त दर्शन मे प्रतिवादी को परास्त कर अपना मत स्थापित करने हेतु तर्क करने की कला को बतलाया गया है, जो अन्यान्य भारतीय दर्शन में असभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय-दर्शन के षोडष पदार्थ तत्त्वत: पदार्थ नहीं हैं, बल्कि वाद-विद्या पर अधिकार पाने के लिए सोपान हैं।

❑❑❑

द्वितीय अध्याय

द्रव्यतत्व - विवेचन

द्रव्यतत्त्व-विवेचन

वैशेषिक-दर्शन द्वारा प्रतिपादित सात पदार्थों मे सर्वप्रथम एव सर्वप्रधान पदार्थ 'द्रव्य' है। श्रीधराचार्य का कथन है कि यह अन्य सभी पदार्थों का आश्रयभूत है, इसलिए सर्वप्रथम 'द्रव्य' पदार्थ पर ही विचार किया गया है।[१] महर्षि कणाद ने 'द्रव्य' को पारिभाषित करते हुए लिखा है —— 'द्रव्य, गुण और कर्म का अधिष्ठान है तथा अपने कार्यो का उपादान कारण है।'[२] अत· द्रव्य - सिद्धि मे वैशेषिक - दर्शन की प्रमुखतम युक्ति यही है कि रूप, रंग शब्द आदि गुण तथा चलना, फिरना, देखना, बोलना आदि क्रियाऍं निराधार तो नहीं हो सकतीं, उसका कोई–न–कोई आश्रय तो स्वीकार करना ही होगा; वही आश्रय ही 'द्रव्य' है। आचार्य शिवादित्य ने द्रव्य के पारम्परिक लक्षण के साथ-साथ सामान्य परक लक्षण भी प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार - 'जो द्रव्यत्व जाति से सम्पन्न है, गुण का अधिकरण व कार्य मात्र का समवायिकारण है; वही द्रव्य है।[३] दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने भी 'वैशेषिक–सूत्र' में प्रतिपादित सप्तपदार्थों में से सर्वप्रथम द्रव्य-पदार्थ का ही विवेचन किया है।

विज्ञानवादी बौद्धों ने सिद्ध किये गये द्रव्य-पदार्थ के स्वरूप का पूर्णत: खण्डन किया है और उसके लिए अनेक युक्तियाँ भी दी है।[४] व्योमवतीकार ने बौद्ध मत प्रस्तुत करते हुए कहा है -- 'गुणों से पृथक् 'द्रव्य' की कोई सत्ता नहीं, चूँकि हमारा ज्ञान केवल गुणों तक ही सीमित है। चक्षु एवं त्वक् आदि इन्द्रियों के द्वारा रूप

---

१. आदौ द्रव्यस्योद्देश· सर्वाश्रयत्वेन प्राधान्यत्वात्।

-- न्या० क०, पृ० १७

२ क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।

-- वै० सू०, १/१/१५

३. द्रव्य तु द्रव्यत्वसामान्ययोगि गुणवत् समवायिकारण चेति

-- स० प०, पृ० ४८

४. तत्त्वसंग्रह, श्लो० ५६४-५७४, पृ० २३६-२३९

एव स्पर्श आदि गुणों का ही ग्रहण होता है, उससे पृथक् ऐसे किसी वस्तु का हमे प्रत्यक्ष नहीं होता, जिसमे वे गुण रहते हो। यह केवल हमारी मानसिक कल्पना है, जो वस्तुओ को सश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत कर देती है, अन्यथा गुणों से पृथक् 'द्रव्य' नामक कोई वस्तु नहीं।'[१] तत्त्वत: सब वस्तुएँ पृथक्–पृथक् धर्म हैं, धर्मी या द्रव्य सर्वथा असत् है और इसलिए द्रव्य केवल सर्वथा एक अनावश्यक एव अवास्तविक कल्पना है।[२]

बौद्धों के साथ–साथ श्रीहर्ष एवं चित्सुख जैसे आचार्यों ने भी इस लक्षण की आलोचना की है। उनके अनुसार उक्त लक्षण अव्याप्ति एव अतिव्याप्ति दोनों ही दोषो से सचालित है। उत्पत्ति–लक्षण मे विद्यमान घटादि कार्यों मे यह लक्षण घटित नहीं होता। क्योकि वैशेषिक मतानुसार घटादि कार्य अपनी उत्पत्ति क्षण मे निर्गुण व निष्क्रिय ही होते हैं। इसलिए निर्गुण घट में यह द्रव्य लक्षण अव्याप्त है। 'चतुविशतिर्गुणानि' ऐसा कहने पर चौबीस संख्या रूप गुण की आश्रयता गुणों मे भी प्रतीत होती है। अत: गुणादि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है।

द्रव्य लक्षण पर बौद्धों द्वारा लगाये गये उक्त आक्षेप का निराकरण करते हुए वैशेषिकाचार्यों ने कहा है कि यदि घट केवल रूप, स्पर्श आदि गुणों का समुदाय मात्र होता, उन गुणों से पृथक् 'अवयवी' या 'द्रव्य' की सत्ता नहीं होती, तो दो भिन्न–भिन्न गुणों का एक आश्रय द्रव्य के सम्बन्ध में निर्देश भी असंभव ही होना चाहिए। किन्तु हमने जिस घट को कल देखा था, उसे हम आज भी पहचान सकते हैं; तथा जिस घट को हम देखते हैं, उसे छू भी सकते हैं। अत· हमारा अनुभव ही यह सिद्ध कर देता है कि 'देखना' और 'छूना' (रूप एवं स्पर्श), ये दोनों गुण किसी एक आश्रय

---

१. व्योम०, पृ० ४४

२. आ० त० वि०, पृ ३२०

मे अवस्थित हैं।[१] वह आश्रय इन दोनो गुणो का समुदाय मात्र नहीं, उनसे पृथक् एक स्वतन्त्र अवयवी है – वही द्रव्य है।

अत· बौद्धो का मत हमारे अनुभव से सर्वथा विरुद्ध होने से अग्राह्य है। तार्किक–दृष्टि से भी यह मत सर्वथा विचार बाह्य स्थिति है कि जगत में केवल गुणो का ही अस्तित्त्व है, द्रव्य नाम की कोई वस्तु नहीं। इसलिए हमारे पास अपने सामान्य अनुभवजन्य ज्ञान को ठुकराने का कोई तार्किक आधार नहीं है, जिसके द्वारा द्रव्य की गुणो एव अवयवो से युक्त अवयवी के रूप मे अभ्रान्त प्रतीति होती है।[२]

अत: द्रव्य है और उसकी गुणो से पृथक्, उनके आश्रय रूप मे प्रतीति होती है —– यही न्याय–वैशेषिक का दृढ़ मन्तव्य है।

जिस प्रकार इस विशाल जगत में असख्य पदार्थ होने पर भी वैशेषिक–दर्शन मे वर्गीकरण के आधार पर उसकी सख्या सात स्वीकार की गयी है, उसी प्रकार विश्लेषण के अनन्तर अनन्त प्रतीत होने वाले द्रव्यों को भी वैशेषिक दर्शन ने नौ प्रकार का ही माना है – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।[३]

उल्लेख्य है कि उक्त नौ द्रव्यों को 'नित्य' एवं 'अनित्य' दो वर्गों में बॉटा जा सकता है। कणाद के अनुसार जो वस्तु किसी पर निर्भर होती है, वह 'अनित्य' है और जो भावरूप, किन्तु किसी कारण पर निर्भर नहीं, वह 'नित्य' होती है।[४] आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन एवं पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के परमाण रूप

---

१. (अ) युक्तिरपि दर्शनस्पर्शनयोरेकविषयत्वेन प्रतिसन्धानम्।

-- न्या० वा०, १/१/१४, पृ० ६५

(ब) न च द्वाभ्याम् इन्द्रियाभ्याम् एकार्थग्रहण बिना प्रतिसधानम् न्याय्यम्।

-- व्योम०, पृ० ४४

२ Bhaduri, SNVM, pp. 35-36.

३. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

-- वै० सू०, ४/१/१

४. सदकारणवन्नित्यम्।

-- वै० सू०, ४/१/१

द्रव्य नित्य होते हैं। अत: इनका 'नित्यत्व' साधर्म्य है तथा कार्यरूप मे पृथिवी, जल, तेज एव वायु इनका 'अनित्यत्व' साधर्म्य है। अनित्य द्रव्य कार्य-रूप होने के कारण अपने अवयवो मे समवेत रहते हैं, किन्तु नित्य द्रव्य असमवेत ही होते हैं। [१]

नव्य-नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने वैशेषिक-दर्शन द्वारा प्रतिपादित सप्त पदार्थों में से 'विशेष' नामक पदार्थ जो कि 'वैशेषिक' नामकरण का आधार है, को नहीं माना है। क्योकि 'विशेष' को द्रव्य, गुण आदि भाव पदार्थों से भिन्न भाव पदार्थ मानने के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं हैं। [२] उनके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय एव अभाव ही स्वतन्त्र पदार्थ हैं। इन पदार्थों के अतिरिक्त रघुनाथ शिरोमणि ने क्षण, संख्या, स्वत्व, शक्ति, वैशिष्ट्य विषयता आदि को भी स्वतन्त्र पदार्थ के रूप मे माना है।

वैशेषिक-दर्शन द्वारा प्रणीत पृथिव्यादि नौ द्रव्य-पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन को तार्किक शिरोमणि ने ज्यों का त्यो स्वीकार नहीं किया। उन्होंने आकाश, काल, दिक् एवं मन को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में नहीं स्वीकार किया। आकाश के स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि शब्द का समवायिकारण आकाश नहीं, ईश्वर है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक श्रवणेन्द्रिय को कर्णविवर देशावच्छिन्नखण्डाकाश के रूप में मानते हैं। परन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने श्रवणेन्द्रिय को खण्डाकाश के रूप में न मानकर 'कर्णविवरावच्छिन्नईश्वर' ही श्रवणेन्द्रिय

---

१ तत्र नवसु द्रव्येषु मध्ये पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणव· आकाश काल: दिक् आत्मा (जीव परमात्मा च) मनश्च एतानि नित्यद्रव्याणि। पृथिव्यादिचतुष्टयास्य द्वयणुकमारम्भ महत्पर्यन्तं सर्वाव्यनित्यद्रव्याणि भवन्ति। तत्र अनित्यद्रव्यं कार्यरूपत्वादवयवसमवेतम्, नित्यद्रव्यं त्वसमवेतमेव।

-- न्या० को०, पृ० ३७०

२ विशेषोऽपि च न पदार्थान्तरं मानाभावात्।

-- प० त० नि०, पृ० १२

है, ऐसा माना है। इसी प्रकार काल-दिक्[१] एव मन[२] के स्वतन्त्र द्रव्यंत्व का खण्डन कर दिया है।

पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश —— ये 'भूतद्रव्य' कहे जाते हैं। भूतत्त्व का अभिप्राय है कि उक्त पॉचो किसी न किसी बाह्यन्द्रिय के द्वारा अपने-अपने विशेष गुण को ग्रहण कराते हैं।[३] उल्लेख्य है कि रघुनाथ शिरोमणि 'आकाश' के भूतत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन - इन पॉचो द्रव्यो का 'मूर्त्तत्व' साधर्म्य है और ये परापरत्व क्रिया तथा वेग के भी आश्रय हैं।[४] यहॉ पर भी यह कहना समीचीन होगा कि रघुनाथ शिरोमणि 'मन' के मूर्त्तत्व को भी नहीं स्वीकार करते हैं। मूर्त्तत्व का अभिप्राय है —— परिच्छिन्न या सीमित परिमाण वाला होना तथा क्रियावान होना। अत· भूतत्त्व एवं मूर्त्तत्व में अन्तर स्पष्ट है - भूतत्त्व तो बाह्येन्द्रियग्राह्य होते हैं तथा अकेले या अन्य द्रव्यों के साथ मिलकर संसार के कार्यों का उपादान कारण बनते हैं। जबकि मूर्त द्रव्य सीमित परिमाण वाले होते हैं तथा सक्रिय या कर्मयुक्त होते हैं। इसलिए आकाश बाह्येन्द्रियग्राह्य होने से और श्रोत्रेन्द्रिय का उपादान होने से 'भूत' तो है, किन्तु कर्मरहित (निष्क्रिय) होने से 'मूर्त' नहीं है। इसी प्रकार मन 'अणु' परिमाण तथा क्रियाशील होने से 'मूर्त' तो है; किन्तु 'भूत' नहीं।

वैशेषिकाचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा —— ये चारों 'विभु' द्रव्य हैं। तात्पर्य है कि ये चारों द्रव्य सर्वव्यापक हैं, परमहत् हैं तथा

---

१. दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्।

-- वही, पृ० २

२. मनोऽपि चासमवेत भूतम्। अदृष्टविशेषोपग्रहस्य नियामकत्वाच्च नातिप्रसङ्ग इत्यावयो: समानम्।

-- वही, पृ० ४

३ पृथिवीव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वं साधर्म्यम्। तत्त्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्।

-- न्या० सि० मु०, पृ० ९७

४. क्षितिर्जलं तथा तेज: पवनो मन एव च।
परापरत्वमूर्त्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ।।

-- भा० प०, का० २५, पृ ९४-९५

सभी सयोगि द्रव्यो के समानदेशीय हैं।[१] विभुत्व का तात्पर्य है —— सभी मूर्त द्रव्यो से सयोगित्व।[२] इन चारो में से आकाश, काल और दिक् एक-एक ही हैं, परन्तु आत्मा अनेक है और उनमे से प्रत्येक विभु हैं। ध्यातत्त्वय है कि रघुनाथ शिरोमणि केवल आत्मा को ही विभु द्रव्य मानते हैं। आकाश, काल एवं दिक् की सत्ता को अस्वीकार करते हैं।

कुमारिल भट्ट व उनके अनुयायी मीमासक एवं चित्सुखाचार्य आदि वेदान्तियो का मत है कि 'तम' को भी भावरूप द्रव्य मानना चाहिए। क्योंकि इसमें गुण (श्यामवर्ण) एव क्रिया (गति) दोनों ही पाये जाते हैं। अत: 'गुणक्रियावत्' वैशेषिक का यह द्रव्य लक्षण 'तम' पर पूर्णत: लागू होता है।[३] न्यायकन्दलीकार ने 'तम' मे आठ गुणो की उपस्थिति मानी है - रूप, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व संयोग व विभाग।[४]

अन्नं भट्ट ने 'तम' के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि तम को द्रव्य मान लिया जाय, तो वह रूपवान द्रव्य होगा या रूपरहित? वह रूपरहित द्रव्य हो ही नहीं सकता, क्येंकि विपक्षी ने स्वयं ही उसमे श्यामवर्ण (रूप) की स्थिति स्वीकार की है। 'तम' रूपवान् द्रव्य भी नहीं हो सकता, क्योकि प्रत्येक रूपि द्रव्य को चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है, जबकि अन्धकार तो तभी देखने में आता है, जब प्रकाश नहीं होता। अत: अन्धकार या तम को वैशेषिक दर्शन में रूपवान् द्रव्य नहीं, अपितु प्रकाश या प्रकाशक तेज का अभाव कहा गया है।[५] अत· तम या अन्धकार कोई नया द्रव्य नहीं, तेज या प्रकाश का अभाव मात्र है।

---

१. आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्त्वं परममहत्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्व च।
-- प्र० पा० भा०, पृ० ११

तथा - कालखात्मदिशां सर्वगतत्त्वं परमं महत्। -- भा० प०, का० २६, पृ० ९५

२ सकलमूर्त्तसयोगित्वं विभुत्वम्। -- स० प०, पृ० १५१

३ मा० मेयो०, पृ० १६२, चित्सुखी, पृ० ४९-५०

४ न्या० क०, पृ० २१

५. त० दी०, पृ० ४

न्याय-वैशेषिक परम्परा के अद्भट विद्वान रघुनाथ शिरोमणि ने अपने 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' नामक ग्रन्थ में वैशेषिक दर्शन द्वारा मान्य पदार्थों का विवेचन कर उसे सशोधित रूप मे प्रस्तुत किया है, जो उनके प्रखर पाण्डित्य एव अद्भुत मौलिकता का परिचायक है। यहॉ पर द्रव्य के संदर्भ में तार्किक शिरोमणि के मत का विश्लेषण करना प्रासगिक होगा।

(i) पृथिव्यादिचतुष्टयद्रव्य

पृथिवी [१]

वैशेषिक-दर्शन मे वर्णित नौ द्रव्यों मे सर्वत्र पृथिवी का प्रथम उल्लेख हुआ है। लोक व्यवहार मे पृथिवी भूमि का पर्यायवाची है, किन्तु पृथिवी छोटे-से-छोटे पार्थिव कण से लेकर महापृथिवी पर्यन्त को भी समझना चाहिए। 'पृथिवीत्व' रूप जाति-विशेष के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध द्रव्य वैशेषिक-दर्शन में 'पृथिवी' कहा गया है। [२] अत: पृथिवीत्व जाति ही पृथिवी का लक्षण है। इस जाति की सिद्धि गन्ध की समवायिकारणता के अवच्छेद्क रूप में अनुमान प्रमाण से सम्पन्न होती है। इस अनुमान से गन्ध की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप मे पृथिवीत्व की सिद्धि होती है। तात्पर्य है कि गन्ध की उत्पत्ति पृथिवी में होती है; पृथिवी से भिन्न अन्यन्त्र संभव नहीं। अत: समवाय सम्बन्ध से गन्ध के प्रति पृथिवी को तादात्म्य संबंध से कारण माना जाता है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश —— ये ऐसे द्रव्य हैं, जिनमे एक-एक ऐसा गुण है; जो उस द्रव्य के शिवाय अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता है। इसलिए उस गुण को उस द्रव्य का विशेष गुण या असाधारण धर्म कहा जाता है। गन्ध पृथिवी का व्यावर्तक गुण है। इसे पारिभाषिक शब्दावली मे इस प्रकार कहा जा

---

१ कोशग्रन्थो मे पृथिवी, पृथवी, पृथ्वी – इन तीनो रूपो मे प्रयोग किया गया है। 'पृथवी पृथिवी पृथ्वी धरा सर्वसहा रसा'

-- श० क० द्रुम (तृतीय भाग), पृ० २२५

२. 'पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी' -- प्र० पा० भा०, पृ० १५

सकता है —— 'गन्धवती पृथिवी है'। पृथिवी का यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एव असम्भव आदि सभी दोषों से रहित निर्दोष लक्षण सिद्ध होता है तथा इसका तात्पर्य स्पष्ट है ——

गन्ध पृथिवी का असाधारण धर्म है।

गन्ध केवल पृथिवी में ही पाया जाता है।

अन्य द्रव्यों में गन्ध प्रतीति औपाधिक ही जाननी चाहिए।

'गन्ध' गुण विशेष के अतिरिक्त पृथिवी मे रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्त्व और संस्कार गुण पाये जाते हैं। [१]

पृथिवी के दो भेद किये गये हैं – नित्य पृथिवी और अनित्य पृथिवी। [२] नित्य पृथिवी परमाणु रूप एव अनित्य पृथिवी परमाणुओं के सयोग से उत्पन्न कार्यरूप होती है। परमाणु रूप पृथिवी इसलिए नित्य है कि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह निरवयव (Partless) है। जो सावयव है, वह परमाणु नहीं हो सकता। परमाणु के दो टुकड़े नहीं किये जा सकते हैं। जो द्रव्य विभक्त नहीं किया जा सकता, उसका नाश भी नहीं हो सकता। फूल, फल आदि द्रव्य नाशशील इसलिए हैं कि वे अनेक भागो मे विभक्त किये जा सकते हैं।

परमाणु को नित्य स्वीकार करने में एक युक्ति यह भी दी जा सकती है कि जिस प्रकार महत् परिमाण का तारतम्य आकाश, आत्मा आदि व्यापक वस्तु मे जाकर अपनी अन्तिम सीमा पर विश्रान्त हो जाता है। उससे बड़ी कोई भी वस्तु नहीं होती। उसी प्रकार अणु भी अपनी अन्तिम सीमा पर कहीं सीमित होगा, जिससे और छोटा अणु विभाजित नहीं हो सकता; वही परमाणु कहलाता है। परमाणु अनादि और

---

१. त० भा०, पृ० २२२

२. सा द्विविधा – नित्या अनित्या च।

—— त० सं०, पृ० ७

अनन्त है। परमाणु निरवयव होने से अनुमानगम्य है। प्रत्यक्ष के लिए महत् परिमाण की आवश्यकता होती है। अत: परमाणु रूप नित्य पृथिवी का प्रत्यक्ष नहीं होता।

अनित्य या कार्यरूपा पृथिवी को पुन· तीन भागो मे बॉटा गया है — शरीर, इन्द्रिय और विषय। [१] 'शरीर' एवं 'इन्द्रिय' उपभोग के साधन हैं, क्योकि शरीर एव इन्द्रियो के बिना जीवात्मा सुख या दु:ख का भोग एव अन्य अनुभव नहीं कर सकता। 'विषय' रूप पृथिवी के अन्तर्गत सभी (निर्जीव) शरीर रहित एव इन्द्रिय रहित वस्तुएँ आ जाती हैं। मृत्तिका, पाषाण एवं स्थावर पार्थिव विषय हैं।

पार्थिव शरीर दो प्रकार के बताये गये हैं — योनिज व अयोनिज। [२] शुक्र–शोणित संयोग से गर्भाशय में जन्म लेने वाला शरीर 'योनिज' कहलाता है तथा शुक्र–शोणित संयोग के बिना उत्पन्न होने वाला शरीर 'अयोनिज' कहलाता है। ध्ययातव्य है कि जरायुज एवं अण्डज योनिज शरीर के तथा स्वेदज एवं उद्भिज्ज अयोनिज शरीर के भेद हैं। गर्भस्थ बच्चे जिस थैली मे रहते हैं, उसे 'जरायु' कहते हैं। मनुष्य, पशु आदि के शरीर गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं। अत: उन्हें 'जरायुज' कहा जाता है। पक्षी एव सर्प आदि के शरीर अण्डे से उत्पन्न होते हैं, अत· उन्हे 'अण्डज' कहते हैं। [३] शरीरिक एव अशारीरिक वाष्पों से उत्पन्न होने वाले जीव 'स्वेदज' कहलाते हैं। जैसे जूँ, खटमल आदि। जो पृथिवी का भेदन करके उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'उद्भिज्ज' कहा जाता है। लता, वनस्पतियॉ आदि इसके उदाहरण हैं।

प्रशस्तपाद के अनुसार शरीर में अधिष्ठित वह यन्त्र, जिसके द्वारा प्रत्यक्ष विषय का ज्ञान होता है, 'इन्द्रिय' कहलाती है। उक्त लक्षण वाली इन्द्रिय जलादि से अनभिभूत शुद्ध पार्थिव परमाणुओं से बनी होती है तथा सब प्राणियो को गन्ध की प्रतीति

---

१. भा० प०, का० ३७, पृ० ११७ तथा त० सं०, पृ० ७

२. वै० सू०, ४/२/५

३. प्र० पा० भा०, पृ० १८, किरणा० पृ० ५७

कराती है; 'घ्राण' नामक पार्थिव इन्द्रिय कहलाती है।[१] पृथिवी का विशेष गुण गन्ध केवल घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। अन्य इन्द्रियो से संभव नही। साधारणत: लोग जिसे नाक कहते हैं, वह घ्राण नहीं; घ्राण तो नासिका के अग्रभाग मे रहने वाली अप्रत्यक्ष वस्तु है। घ्राण गन्ध के पास नहीं जाती, किन्तु विषयभूत गन्ध ही अपने आश्रय के साथ घ्राण के सन्निकट आती है, जिससे उसका प्रत्यक्ष होता है।

शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न जो उपभोग साधन है, उसे विषय कहते हैं। मृत्तिका, पाषाण, स्थावर आदि विषय हैं। मृत्तिका से बने ईटं, भवन आदि विषय हैं। पत्थर, हीरा, वज्र, मणि आदि पाषाण विषय हैं। घास, वृक्ष, लताएॅ आदि वनस्पतियॉ स्थावर विषय के अन्तर्गत है। उक्त विषयों के अन्तर्गत सारी उपभोग सामग्री आ जाती है।

जल

पृथिवी के समान जल भी भूत द्रव्य है। शीतल स्पर्श इसका स्वाभाविक गुण है। सूत्रकार कणाद ने 'जल' द्रव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है —— रूप, रस, स्पर्शवाला, स्निग्ध, द्रव द्रव्य ही जल है।[२] जहॉ कहीं भी शीतल स्पर्श उपलब्ध होता है, वह जल के सम्मिश्रण का ही प्रतिफल है। जैसे —— चन्दन आदि मे शीतलता जल के सम्पर्क से ही प्रतीत होती है। 'सीता-कुण्ड', 'गौरी-कुण्ड' आदि का जल यद्यपि उष्ण पाया जाता है, तथापि उसकी उष्णता स्वाभाविक नहीं, गन्धक आदि उष्ण खनिज द्रव्यो के सम्पर्क से ही वह उष्ण प्रतीत होता है। वह उष्ण जल भी कुण्ड से निकल कर अलग रख देने पर शीतल हो जाता है। अत: जल में शीलत स्पर्श उसका स्वाभाविक गुण है। उष्णता आदि औपाधिक हैं।

---

१. 'इन्द्रिय गन्धव्यञ्जकं सर्वप्राणिनां जलाद्यनभिभूतैः पार्थिवावयवैरारब्धं घ्राणम्।'

-- प्र० पा० भा०, पृ १९

२. 'रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवा: स्निग्धा:'

-- वै० सू०, २/१/२

वैशेषिक–दर्शन के अनुसार जल का स्पर्श केवल शीतलता है, अर्थात् शीत स्पर्श जल का स्वाभाविक गुण है।[१] जल का कोई आकार नहीं होता। आधार के अनुसार जल आकार धारण करता है। यदि किसी त्रिकोण–पात्र मे जल भरकर रख दिया जाय तो जल भी त्रिकोण प्रतीत होता है। आधुनिक अन्वेषको का कहना है कि जल मे पदार्थों का गुरुत्व घट जाता है। पदार्थों मे भारीपन के बदले हल्कापन आ जाता है। उदाहरण के लिए, जल से भरे घड़े को जल से बाहर उठाकर ले आने में जितना आयास करना होता है, उससे कहीं कम आयास जल में उतरा–डूबाकर ले आने मे होता है।

उक्त मत असंगत प्रतीत होता है कि जल में किसी वस्तु के वजन में कमी हो जाती है। इतना जरूर कहा जा सकता है कि जल में और उसके बाहर भरे घड़े के भार मे न्यूनता एवं अधिकता का भान होता है और आयास में भी तारतम्य होता है। किन्तु भान और वास्तविकता दोनो एक नहीं। मरुमरीचिका में जल का भान होता है, परन्तु तत्तवत: वहाँ जल नहीं रहता। जल में पदार्थ के वजन मे जो कमी मालूम पड़ती है, इसका कारण है, जल की विलक्षण धारण–शक्ति, जिसके सहारे नौका, जहाज आदि भारी–से–भारी पदार्थों को जल धारण कर सकता है। जल में विधारित होने के कारण ही किसी पदार्थ का भार घट गया सा मालूम पड़ता है, किन्तु घटता नहीं।

पृथिवी की भाँति जल भी प्रथमत: दो प्रकार का माना गया है —— नित्य और अनित्य। इनमें से परमाणु स्वभाव जल तो नित्य है तथा कार्यस्वभाव जल अनित्य।[२] अविभाज्य सूक्ष्मतम जल–कण परमाणु जल कहलाता है। कार्यरूप अनित्य जल के भी पृथिवी की भाँति तीन भेद किये गये हैं —— शरीर, इन्द्रिय और विषय।[३]

---

१. 'अप्सु शीतलता:'

-- वै सू०, २/२/५

२. न्या० क०, पृ० ९४

३. 'पुनस्त्रिविधा: – शरीरेन्द्रियविषयभेदात्'

तर्क संग्रह: शेषराज शर्मा (अनु०), पृ० ८

प्रश्न उठता है कि जलीय शरीर योनिज है या अयोनिज? योनिज-शरीर शुक्र-शोणित संयोग जन्य होता है और शुक्र-शोणित नियमत: पार्थिव ही होते हैं। अत: सिद्ध है कि जलीय शरीर अयोनिज ही होता है। पार्थिव शरीर में गन्ध उपलब्ध होती है।

अत: वह हम सब लोगों का शरीर है, जो प्रत्यक्षगम्य है। किन्तु जलीय शरीर केवल वरुण लोक में उपलब्ध होता है। उसमे शास्त्र या आगम ही प्रमाण हैं। जलीय इन्द्रिय रसनेन्द्रिय है, जो जिह्वा के अग्रभाग में रहती है। उल्लेखनीय है कि इन्द्रिय शरीर का एक अंग नहीं है, अपितु उस शरीर के अंग विशेष (जिह्वा) पर रहने वाली एक विशेष शक्ति है, जो केवल इसलिए 'रसना' कहलाती है कि 'रस' को ग्रहण करने वाली होती है। कभी-कभी वायु आदि अन्य तत्त्वों से रसनेन्द्रिय के अभिभूत हो जाने से 'रस' का ग्रहण नही हो पाता और जिह्वा जड़तत्त्व हो जाती है।[१] नदी, समुद्र, हिम आदि जलीय विषय हैं।

तेज

तेज का लक्षण है : तेजस्त्वजाति, यह जाति जिसमें रहती है, उसे तेज कहा जाता है।[२] तेजस्त्व नामक जो सामान्य विशेष जाति है, उसमे समवाय सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध द्रव्य तेज है। उष्ण स्पर्श इस तेज द्रव्य का विशेष गुण होता है। अत: यह कहा जा सकता है कि 'उष्ण स्पर्श वाला द्रव्य तेज है।[३] आचार्य विश्वनाथ ने तजस्त्व

---

१. किरणा०, पृ० ७२

टिप्पणी · इस विषय पर भट्टाचार्य की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं -

" It is to be repeated that according to the Nyayavaisesika School, a sense-organ is not the part of the organisuer and is not the same thing as a senscorgan in the physiological sense of the term. The watery organ is called 'rasana' or the organ by which taste is cognised"

-- Bhattacarya, T. S. D. p. 63

२. तेजस्त्वसामान्यवत् तेज: -- तर्कभाषा, पृ० २२८

३. उष्णस्पर्शवत् तेज: -- मा० मनो०, पृ० १९

जाति की सिद्धि उष्णस्पर्शवत्व हेतु से इस भाँति की है कि परमाणु मे रहने वाला उष्णस्पर्श नित्य होता है और द्वयणुकादि मे रहने वाला अनित्य। इसलिए उस उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता अवच्छेदक होने से 'तैजस्त्व' जाति सिद्ध होती है।

'वैशेषिक-सूत्र' के प्रणेता महर्षि कणाद ने तेज का लक्षण किया है —— 'जिसमे रूप (भास्वर शुक्ल) एव स्पर्श (उष्ण) गुण रहते हैं, वही द्रव्य तेज है।[१] उक्त लक्षण के विश्लेषण से तेज के दो गुण स्पष्ट होते है —— आस्वर शुक्ल एव उष्ण-स्पर्श। इन दो गुणों के अतिरिक्त वैशेषिक-सूत्र में तेज के नौ गुण और माने गये हैं। इस प्रकार तेज कुल ग्यारह गुणो से युक्त है —— रूप (भास्वर शुक्ल), स्पर्श (उष्ण), सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रव्यत्व एवं संस्कार। इनमे से भास्वर शुक्ल रूप तथा उष्ण स्पर्श, ये दोनों तेज के विशेष गुण माने गये हैं, जो तेज के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाये जाते।

तेज द्रव्य दो प्रकार का माना गया है —— परमाणु रूप में नित्य एव कार्यरूप में अनित्य। कार्यरूप में अनित्य भेद पुनः तीन प्रकार का हो जाता है —— शरीर, इन्द्रिय और विषय।[२]

परमाणु रूप नित्य तेज में रूप, स्पर्श, एकत्वसख्या, परिमाण और एकपृथक्त्व, ये गुण नित्य होते हैं। शेष सभी गुण अनित्य होते हैं। अनित्य तेज के सम्पूर्ण गुण अनित्य होते हैं। तेज का रूप भास्वर शुक्ल होता है। भास्वर का अर्थ है —— पर-प्रकाश। परमाणु रूप नित्य तेज में केवल दैशिक परत्व-अपरत्व रहते हैं, कालिक परत्व-अपरत्व नहीं रहते। अनित्य तेज में दैशिक एवं कालिक दोनों प्रकार के परत्व-अपरत्व रहते हैं। तेज का द्रव्यत्व नैमित्तिक होता है, अग्नि संयोग रूप निमित्त को पाकर उत्पन्न होता है। जैसे सुवर्ण आदि का द्रव्यत्व। तेज का संस्कार वेगात्मक होता है, कुछ आचार्य उसमें स्थिति स्थापक संस्कार भी मानते हैं।

---

१. तेजो रूपस्पर्शवत् -- वै० सू०, २/१/३

२. प्र० पा० भा०, पृ० २२

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार अनित्य तेज के प्रकार मे तैजस शरीर आदित्य लोक या सूर्यलोक मे पाये जाते हैं। भोग मे उपयोगिता ही तैजस शरीर को मानने का आधार है, किन्तु यह भी सत्य है कि यदि शरीर केवल तैजस हो, तो वह भोग साधन नहीं बन सकेगा। अत: वैशेषिक-दर्शन की मान्यता है कि सामान्य रूप से तो केवल पार्थिव शरीर ही भोग-साधन होता है, किन्तु कुछ ऐसे भी कर्म होते हैं, जिनके लिए अन्य तत्त्वो से बने शरीर को भोग करना होता है। उस दशा मे भी पार्थिव परमाणु भी उन अन्यान्य तत्त्वों के साथ मिलकर शरीर को भेग-योग्य बनाते हैं। इस प्रकार तैजस शरीर में भी पार्थिव परमाणुओ की सत्ता माननी पड़ती है, ताकि वे भोग-योग्य बन सके। प्रशस्तपाद के अनुसार तैजस शरीर केवल अयोनिज ही होते हैं, योनिज नहीं। क्योंकि योनिज शरीर केवल पार्थिव शरीर ही होते हैं। तैजस शरीर पृथ्वी पर नहीं, अपितु आदित्यलोक में ही पाये जाते हैं तथा पार्थिव अवयवों के उपष्टम्भ से ही उपभोग योग्य बनते हैं। [१]

उदयनाचार्य ने तैजस इन्द्रिय के विषय में कहा है —– 'वह इन्द्रिय जो रस, गंध या स्पर्श गुण को ग्रहण नहीं करती, केवल रूप को ही ग्रहण करती है। तैजस इन्द्रिय (चक्षु) कहलाती है।' [२] उक्त लक्षण के आधार पर हम कह सकते हैं कि जो इन्द्रिय रूप के ग्रहण का असाधारण कारण हो, वही तैजस चक्षुरिन्द्रिय है। अन्नं भट्ट ने स्पष्टत: तर्कसग्रह नामक ग्रन्थ में कहा है कि 'चक्षुरिन्द्रिय ऑख के कृष्णतारक के अग्रभाग में रहती है।' [३]

चक्षुरिन्द्रिय के 'विषय' में न्याय-वैशेषिक का प्रत्यक्ष सम्बन्धी मत उल्लेखनीय है; जिसके अनुसार चक्षु प्राप्यकारी इन्द्रिय है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रक्रिया में

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० २२-२३

२. किरणा०, पृ० ७३

३. इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्ण ताराग्रवर्ति

-- त० सं०, पृ० ९

दृगिन्द्रिय ऑख से बाहर दृश्य पदार्थ तक जाकर उसका ग्रहण करती है —— उसी सिद्धान्त को चक्षुरिन्द्रिय का प्राप्यकारित्व [१] कहा गया है।

उक्त मत के विरुद्ध दिङ्०नागादि बौद्ध दार्शनिको ने आपेक्ष उठाये हैं कि अक्षिगोलक ही चक्षुरिन्द्रिय है। वह सर्वथा एक भौतिक उत्पत्ति है। अतः दृश्य वस्तु दूर होने पर, उसके ग्रहण के लिए वह वस्तु के पास नहीं जा सकती। इसलिए यही सिद्ध होता है कि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारी भी नहीं है और तैजस भी नहीं है।

उदयनाचार्य ने बौद्धों के उपर्युक्त मत का खण्डन किया है और अपने सिद्धान्त को स्थापित करते हुए कहा है कि चक्षु प्राप्यकारी तैजस इन्द्रिय है। इसलिए उसमें एवं दृश्य वस्तु में विशेष सम्बन्ध है। [२]

पदार्थशास्त्रियों ने पृथिवी, जल एवं तेज तीनों को शरीर, इन्द्रिय एवं विषय - तीन भेदों में बाँटा है। विषय रूप तेज को उन्होंने पुनः चार भागों में विभक्त किया है - भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज। [३] भौम तेज वह है तो भूमि पर उत्पन्न होता है तथा भौम ईधन से उत्पन्न होता है। अग्नि, जुगनू आदि इसके उदाहरण हैं। दिव्या तेज वह है, जो जलीय ईधन से उत्पन्न होता है या जो द्युलोक में पाया जाता है। जैसे —— सूर्य का तेज, विद्युत आदि। उदर्यतेज वह है, जो शरीर से ही उत्पन्न होता है। खाये-पिये गये भोजन को पचाने में सहायक होता है। जैसे —— जठराग्नि। खान से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ आकरज तेज के अन्तर्गत आ जाती हैं। जैसे —— सोना, चाँदी, ताँबा आदि।

---

१. अथ प्राप्यकारित्वे चक्षुषः किं प्रमाणम्? इन्द्रित्वमेव। प्राप्यकारि चक्षुः इन्द्रियत्वात् घ्राणदिवत्। घ्राणादीन्द्रियं प्राप्यकारि दृष्टम्। तथा चक्षुः तस्मात् प्राप्यकरोति।

-- न्या० वा०, १/१/४, पृ० ३८

२. किरणा०, पृ० ७४-७६

३. प्र० पा० भा०, पृ० २३

पूर्वपक्षी मीमासक का मत है कि सुवर्ण (अन्य धातुएँ) के तैजसत्व मे कोई प्रमाण नहीं है। अत· यही मानना उचित है कि सुवर्ण एक पार्थिव द्रव्य है, क्योकि उसमे घृतादि पार्थिव द्रव्यो की भाँति औपाधिक तरलता पायी जाती है।[१]

मीमांसकों की शंका का समाधान करते हुए न्याय-वैशेषिकाचार्यों ने कहा है कि अग्नि-संयोग होने पर पार्थिव वस्तु का रूप बदल जाता है। जैसे कि कच्चे घड़े के साथ अग्नि-संयोग होने पर उसका रूप बदल कर लाल हो जाता है। परन्तु सुवर्ण के विषय मे हम देखते हैं कि उसके अन्दर विद्यमान पार्थिव अंश का पीला रग अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी नहीं बदलता। अत: रूप के बदलने को रोकने वाला कोई विजातीय द्रव द्रव्य मानना पड़ता है और वह द्रव द्रव्य जल या पृथिवी हो नहीं सकते, क्योंकि जल या पृथिवी का द्रव्यत्व अग्नि संयोग होने पर नष्ट हो जात है। परन्तु इस द्रव द्रव्य का द्रव्यत्व अग्नि-संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होता। इसलिए वह द्रव द्रव्य तैजस ही हो सकता है। पीतवर्ण और गुरुत्व के आश्रय पार्थिव भाग से भिन्न वह द्रव द्रव्य ही वस्तुत: सुवर्ण है, जो कि तैजस है। अत: व्यतिरेकानुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि उष्णतम अग्नि संयोग से भी तेज का द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता, जबकि पार्थिव पदार्थों मे ऐसा नहीं देखा जाता। अत: मीमांसको का यह मत कि - 'सुवर्ण एक पार्थिव द्रव्य है'; सर्वथा खण्डित हो जाता है।

वायु

तर्कभाषाकार ने वायु का लक्ष्ण करते हुए लिखा है — 'वायुत्व जाति के अभिसम्बन्ध का जो आश्रय होता है, उसे वायु कहा जाता है।' वायु के इस लक्षण में यदि 'अभि' का सन्निवेश न कर 'वायुत्व के सम्बन्धमात्र' को वायु का लक्षण माना जाय तो काल में अतिव्यप्ति हो जायेगी, क्योंकि वायुत्व का कालिक सम्बन्ध उसमें रहाता है। अत: वायुत्व के सम्बन्ध-मात्र को वायु का लक्षण न मानकर 'वायुत्व के

---

१. लक्षणा०, पृ० १०

अभिसम्बन्ध' को ही वायु का लक्षण माना गया है। [१] अभिसम्बन्ध का अर्थ है 'अभिमत-सम्बन्ध'; अभिमत सम्बन्ध वही हो सकता है, जिसका ग्रहण करने पर कोई दोष न हो। वायुत्व का समवाय वायु मे ही रहता है, अन्यत्र नहीं। अत· 'वायुत्व के अभिमत सम्बन्धसमवाय' को वायु का लक्षण ही माना जाना चाहिए।

वायु वह है, जिसमें रूप नहीं, किन्तु स्पर्श गुण है। रूप न होने से वायु का स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श का प्रत्यक्ष होने पर, उस स्पर्श के आश्रय के रूप मे जिसका अनुमान किया जाता है, वह वायु है। आकाश आदि द्रव्यों में रूप नहीं है, किन्तु स्पर्श भी नहीं है। अत: वे वायु नहीं। पृथिवी, जल एवं तेज मे रूप एवं स्पर्श दोनों गुण हैं; अत: वे भी वायु नहीं। सूत्रकार कणाद ने वायु-साधक-लिंग केवल स्पर्श को ही कहा है। [२] उदाहरण के लिए, प्राणियों की श्वास-प्रश्वास एक प्रकार की वायु ही है, जिसे 'प्राणवायु' कहा जाता है। उसका रूप तो नहीं दिखता, स्पर्श मालूम पड़ता है। पूर्ववर्ती तेजद्रव्यादि प्रकरण मे तेज का स्वरूप बतलाया गया है कि वह 'उष्ण स्पर्श युक्त होता है'। तदनुसार श्वास-प्रश्वास भी तेज माना जाना चाहिए, क्योकि उसमें भी उष्ण स्पर्श का अनुभव होता है। किन्तु नैयायिकों ने उसे तेज इसलिए नहीं माना कि श्वास-प्रश्वास की उष्णता स्वाभाविक नहीं होती। 'जठरानल' से सम्बन्ध प्राप्त कर बाहर निकलने के कारण गरम मालूम पड़ती है। तत्त्वत: श्वास-प्रश्वास का स्पर्श न उष्ण है न ही शीत; वह तो तृतीय प्रकार का अनुष्णाशीत है। अत: ऐसे विलक्षण स्पर्श का आधार वायु है, जो अनुष्णाशीत, अपाकजस्पर्शवाला द्रव्य है। [३]

---

१. वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायु.

-- त० भा०, पृ० २३३

२. स्पर्शश्च वायो·

-- वै० सू०, २/१/९

३. तथा च सत्यनुष्णाशीतापाकजस्पर्शवान् वायुरिति सिध्यति।

-- किरणा०, पृ० ८१

वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। सन – सन की आवाज सुनने से पृथ्वी, जल अथवा तेज के स्पर्श से प्रभावित विलक्षण स्पर्श के प्रत्यक्ष होने से, हल्की वस्तुओ (रूई आदि) को निराधार उड़ते देखने से और वृक्षो की शाखाओ मे कम्पन देखकर वायु चलने का अनुमार किया जाता है।[१] वल्लभाचार्य ने वायु की सिद्धि में उक्त चारो हेतुओ को तो स्वीकार किया ही है, किन्तु वायु–सिद्धि हेतु एक भिन्न युक्ति भी प्रस्तुत की है ––

'अत एव ग्राह्यजातीयविशेषगुणवत्त्वेन स्पर्शवत्त्वाद्
द्रव्यान्तरप्रकृतिकत्वेन वायुसिद्धिः।'[२]

महर्षि कणाद की उक्ति है कि वायु रूपरहित द्रव्य है, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उसमें रहने वाले स्पर्श गुण के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व आदि गुण भी अप्रत्यक्ष ही होते हैं।[३] यदि पूर्वपक्षी को यह शंका हो कि फिर से ये वायु के ही गुण हैं –– इसमें क्या प्रमाण है? उक्त शंका का समाधान करते हुए न्यायकन्दलीकार कहते हैं कि वायु का द्रव्यारम्भकत्व ही इसमे प्रमाण है। क्योकि उपर्युक्त गुणों (स्पर्श, सख्या, परिमाण एवं पृथक्त्व) के बिना वायवीय परमाणु वायवीय कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि ये वायु आदि अचाक्षुष द्रव्यों के गुण न हों, तो रूप शून्य द्रव्यों के संख्यादि गुणों के अचाक्षुषत्व की सूत्रकार की उक्ति ही असंगत हो जायेगी।[४] अतः सिद्ध होता है कि ये वायु के ही गुण हैं और वायु की भॉति अप्रत्यक्ष है।

वैशेषिक–सूत्रकार ने किसी भी द्रव्य के प्रत्यक्ष हेतु तीन निवार्य स्थितियॉ बतायी हैं –– महत्परिमाणवत्त्व, एक से अधिक द्रव्यों से बना होना और किसी विशेष 'रूप से युक्त' होना।[५] सूत्रकार ने अगले सूत्र में स्पष्टतः घोषित किया है कि द्रव्यत्व

---

१. स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्ग· -- प्र० पा० भा०, पृ० २७

२. न्या० ली०, पृ० १७३

३. अरूपिष्वचाक्षुषाणि -- वै० सू०, ४/१/१२

४. न्या० क०, पृ० ११२

१. महत्यनेकद्रव्यवत्वात् रूपाच्चोपलब्धिः। -- वै० सू०, ४/१/७

तथा महत्व होने पर भी रूप सस्कार के अभाव से ही वायु का प्रत्यक्ष संभव नहीं हो पाता है।[१] यद्यपि प्रशस्तपाद ने पृथक् रूप से इस समस्या पर विचार नहीं किया, किन्तु वायु का नानात्वसिद्धि के अवसर पर स्पष्टतः वायु को 'अप्रत्यक्ष' कहकर अपनी सहमति ही व्यक्त की है।[२] चूँकि वायु की सिद्धि स्पर्श, शब्द, धृति एवं कम्प — इन चार हेतुओं से की है। अत. सिद्ध है कि वे वायु को अनुमेय ही मानते हैं।

रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार वायु में स्पर्श का अस्तित्त्व ही वायु के स्पार्शन प्रत्यक्ष का हेतु है। कणाद आदि आचार्यों का मत है कि किसी द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए उसमें 'रूप' का होना अनिवार्य है, किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने इस मत का खण्डन किया है और अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहा है कि उद्भूत रूप न होते हुए भी वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष संभव है। चूँकि 'वायु शीत है' आदि से वायु में स्पर्श का होना सिद्ध ही है तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष के लिए वायु में उद्भूत रूप मानने की आवश्यकता नहीं है। वैसा मानने में गौरव होगा।[३]

पदार्थमण्डनकार वेणीदत्त भी रघुनाथ शिरोमणि के उक्त मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि चाक्षुष द्रव्य के प्रत्यक्ष में तो 'रूप कारण है, किन्तु स्पार्शन द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'स्पर्श' कारण है। जिस प्राकर चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'स्पर्श' का निवेश गौरव-ग्रस्त है, उसी प्रकार स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'रूप' का हेतुत्व भी गौरव-दोष से अग्राह्य है। अतः 'वायु बहती है' आदि सार्वलौकिक प्रत्यक्ष तो त्वाव्यापार के अनन्तर ही हो जाता है - यही मानना उचित है।[४]

---

१. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः

-- वै० सू०, ४/१/७

२. तस्याप्रत्यक्षस्यापि .... ।

-- प्र० पा० भा०, पृ० २७

३. द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शवत्वमेव प्रयोजकम्। .... गौरवान्मानाभावात् त्वग्व्यापारान्तरं वायुर्वातीति सार्वलौकिक प्रत्यक्षस्यान्यथानुपपत्या च रूपं तत्र न निवेशनीयम्।

-- प० त० नि०, पृ० २०

४. प० मं०, पृ० २०

वायु भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। परमाणुरूप वायु नित्य है और कार्यरूप वायु अनित्य। अनित्य वायु पुन· तीन प्रकार की है —— वायव्य शरीर, वायव्य इन्द्रिय और वायव्य विषय। [१] पिशाच आदि के शरीर वायवीय हुआ करते हैं और वायुलोक में रहते हैं। ये शरीर योनिज नहीं होते, क्योकि केवल पार्थिव शरीर ही योनिज होता है। अत· वायव्य शरीर अयोनिज होते हैं। इन्द्रिय रूप वायु त्वक् है। त्वक् को चर्म नहीं समझना चाहिए, वह तो केवल आवरण होता है। त्वक् मास तक मे वर्तमान है। यही कारण है कि शरीर में जहॉ चर्म बिल्कुल हट जाता है, वहॉ भी मांस पर किसी वस्तु का संयोग होने से स्पर्श-ज्ञान होता है। शरीर एवं इन्द्रिय (त्वक्) से भिन्न जितना भी अनित्य वायु है, वह सब साक्षात् अथवा परम्परया भोग का साधन होने से, विषय है।

कुछ न्याय-वैशेषिकाचार्यों ने पृथिवी, जल, तेज इन तीन भूतों को शरीर, इन्द्रिय एवं विषय रूप में तीन-तीन भागों में विभक्त किया है और वायु को शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा प्राण इन चार भागों मे। न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार वायु को भी पृथिवी आदि भूतों की तरह शरीर, इन्द्रिय और विषय - इन तीन भागों में विभक्तकर प्राण को भी विषय के ही अन्तर्गत मानते है। [२] किन्तु यह विभाजन उचित नहीं, क्योंकि विषय पद का अर्थ है 'उपभोग का विषय'। अत: प्राण उपभोग का विषय नहीं हो सकता। यदि उपभोग साधन मानें तो वह वैसा हो सकता है; क्योंकि प्राणी को ही उपभोग होता है। परन्तु, तब शरीर एवं इन्द्रियॉ भी उपभोग-साधन होने के कारण विषय कही जायेंगी। फिर उक्त तीन प्रभेद नही बनेगे।

शरीर में प्राणवायु तत्त्वत: एक ही है; किन्तु विभिन्न स्थानों मे वही प्राणवायु —— प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान नाम से जानी जाती है। प्राणवायु

---

१. तर्कसंग्रह, पृ० ११

२. न्या० सि० मु०, पृ० १४०

हृदय मे, अपान वायु गुदा में, समान वायु नाभि में, उदान वायु कंठ में तथा व्यान वायु सारे शरीर मे रहती है।[१]

निष्कर्ष

पृथिव्यादि चारो द्रव्य नित्यानित्य भेद से दो प्रकार के प्रदर्शित किये गये हैं। ये चारों भौतिक द्रव्य समस्त दार्शनिकों द्वारा 'भूत' पद वाच्य हैं। भूत से तात्पर्य वाह्यन्द्रियों से गृहीत होने वाले जो विशेष गुण हैं — रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनके वे आश्रय हैं। इन चारो मे भूतत्त्व सर्वसम्मत है। चार्वाक दर्शन भी इन चार भूत तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार करता है। इनमें किसी भी दार्शनिक का, बौद्धातरिक्त असहमति नहीं है। इन पदार्थों की सत्ता जिस प्रकार वैशेषिक-दर्शन ने प्रतिपादित किया है, उसी प्रकार से न्याय-दर्शन के आचार्यों ने भी सत्ता स्वीकार की है। ये चारों द्रव्य बाह्य प्रत्यक्ष के विषय हैं तथा सृष्टि के लिए प्रथमकारणत्वेन अपेक्षित परमाणुस्वरूपता भी इन्हीं की होती है। अत: इन द्रव्यों की सत्ता किसी न किसी रूप में समस्त दर्शनों में वर्णित है। नव्य नैयायिक आचार्य रघुनाथ शिरोमणि ने भी इनकी सत्ता पूर्वाचार्यों के प्रदर्शित स्वरूप से विलक्षण नहीं स्वीकार किया है। इनमें सृष्टि कार्य समवायिकारणता दीधितिकार के अनुसार भी यथावत् सिद्ध है। इसमे किसी प्रकार का विवाद नहीं दिखलाई देता।

(ii) आकाश द्रव्य

आकाश का स्वरूप एवं सिद्धि : वैशेषिक दृष्टि

पंचमहाभूतों में आकाश अन्यतम है। पृथिव्यादि की भाँति इसका नित्य एवं अनित्य विभाजन संभव नहीं। आकाश एक, नित्य, विभु व अखण्ड है। एक

---

१. हृदि प्राणो, गुदेऽपान:, समानो नाभिसंस्थित:।
उदान: कण्ठदेशस्थ व्यान: सर्वशरीरग:।।

-- अमरकोश, १/१/६३

होने से इसकी कोई 'आकाशत्व' जैसी जाति नही होती। वैशेषिक-दर्शन में सर्वत्र 'आकाश' शब्द गुण का आश्रय है' —— आकाश का यही लक्षण प्राप्त होता है और इसी 'शब्द-गुण' को ही आकाश की सिद्धि का हेतु भी माना गया है।[१] किन्तु उसके स्वरूप के विषय मे विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो मे मतभेद है। जैनियों के अनुसार आकाश 'Empty Space' (अवकाश) है।[२] यह लोकाकाश एवं अलोकाकाश भेद से दो प्रकार का माना गया है।[३] स्वच्छ क्रिया हेतु जैन दार्शनिक आकाश को अनिवार्य स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं। वैभाषिक बौद्धों ने भी आकाश के विषय में यह धारणा व्यक्त की है कि आकाश एक असंस्कृत एवं सत् धर्म है, जो न तो अन्यों को बाधित करता है और न ही उनसे बाधित होता है। अन्य शब्दो में, आकाश केवल आवरणाभाव है।[४]

सांख्य-दर्शन के अनुसार आकाश एक, नित्य व विभु द्रव्य नहीं, अपितु शब्द-तन्मात्र से उद्भूत महाभूत के रूप में स्वीकार किया गया है। मीमांसा दर्शन मे प्रभाकर मत तो न्याय-वैशेषिक के सदृश ही है, किन्तु भाट्ट मत मीमांसकों के अनुसार आकाश एक तत्त्व तो है, किन्तु शब्द गुण का आश्रय नहीं, क्योंकि 'शब्द' स्वयं एक द्रव्य है। वेदान्त दर्शन में केवल ब्रह्म ही सत् तत्त्व है, अन्य सभी पदार्थ माया के विकार जन्य विवर्तमात्र हैं। अत: वहॉ आकाश की वास्तविक सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है। व्यावहारिक दृष्टि से आकाश सगुण ब्रह्म से उद्भूत है एवं उसका प्रयोजन जागतिक वस्तुओ को अधिकरण प्रदान करना ही है।[५]

---

१. स०प०, पृ०-६४, तर्क-संग्रह, पृ०-११, न्या० सि० मु०, पृ०-१४१

२. अवगासदाणजोग्गं,जीवादीण वियास आयसम्।
   जेण्ण लोगागासं अल्लोगासमिदि दुविहम्।।

   —— द्र० सं०, पृ० १९

३. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ५/६/१८

४. अभिधर्मकोशव्याख्या, पृ०-१५

५. शां० भा०, १/१/२२

उल्लेखनीय है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन मे आकाश की सिद्धि केवल तार्किक आवश्यकता पूर्ति हेतु नहीं की गयी है, अपितु एक वास्तविक भौतिक द्रव्य के रूप में उसका वर्णन किया गया है। आकाश की सिद्धि 'शब्द गुण' के आश्रय के रूप मे की गयी है तथा उसकी सिद्धि का हेतु भी शब्द को ही माना गया है। 'आकाश' के विषय में न्याय-वैशेषिक की यह मान्यता सभी दार्शनिक सम्प्रदायों से विशिष्ट एव भिन्न हैं; क्योंकि केवल यही दर्शन आकाश को एक स्वतन्त्र सर्वव्यापक (विभु) तथा नित्य द्रव्य माना है।[१] महर्षि कणाद ने परिशेषानुमान-प्रक्रिया से यह सिद्ध किया है कि शब्द गुण अन्य कहीं रह नहीं सकता; अत: उसके आश्रय रूप में आकाश को द्रव्य मानना ही पड़ता है।[२] प्रशस्पाद ने सूत्रकार का समर्थन करते हुए शब्द गुण को ही आकाश के अधिगम में लिङ्ग माना है।[३]

पाश्चात्य दर्शन मे आकाश द्रव्य के लिए अंग्रेजी के शब्द 'Eather or Space' की कल्पना की गयी है। किन्तु यह 'शब्द' का आश्रय न होकर प्रकाश व उष्णता का आश्रय है। ध्यातव्य है कि आधुनिक शिक्षाविदों के सदृश कुछ मीमांसको ने शब्द को आकाश का गुण न मानकर वायु को गुण माना है। उनका विचार है कि प्रवहमान वायुधारा के मार्ग में स्पर्शयुक्त विषय के अवरोध से शब्द की उत्पत्ति होती है। अतीन्द्रिय शब्द वायु के अवयव परमाणुओं में उत्पन्न होता है और फिर उन अवयवों में रहने वाला शब्द गुण स्थूल वायु में आ जाता हैं। भेरी आदि की ध्वनि में

---

१. द्रष्टव्य – Jhaveri Indukala, H.'The Concept of Akasha in Indian Philosophy' Annals of BORI, Vol 36, P. 300-307

२. वै०सू०, २/१/२५, २६, २७

३. वायुरेव यावद्वेगंचलन् शब्दनिमित्तयाऽभ्युपगताऽस्त्वाश्रय:।
अणुण्वतीन्द्रियोध्वनिरस्तु, स्थूलष्वकेन्द्रियक: कारणगुणपूर्वक:। स चोत्पात्तौ भेरीदण्डायभिघातसापेक्षो यावद्द्रव्यभावी च आश्रय एवोपलभ्यते चेति किमसङ्गतमिति।
–न्या० ली०, पृ० २७७-२७८

वायु तो निमित्त होता ही है। इसलिए कहा जाता है —— 'वायुरापद्यते शब्दताम।', अर्थात् शब्द वायु का ही गुण है।[१]

उक्त आक्षेप का खण्डन वैशेषिक-दर्शन इस प्रकार करता है कि यदि 'शब्द' वायु का गुण होता, तो उसे वायु में प्रत्यक्षत: अनुभूत होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। वायु सदा 'स्पर्श-युक्त' प्रतीत होती है, परन्तु 'शब्दयुक्त' नहीं।[२] इसके अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय एक बहिरिन्द्रिय है, वह केवल एक ही गुण 'शब्द' को ही ग्रहण कर सकती है। यदि 'शब्द' को वायु का गुण माना जाय, तो श्रोत्रन्द्रिय को भी वायवीय इन्द्रिय मानना पड़ेगा और उससे शब्द एवं स्पर्श दोनों गुणों का प्रत्यक्ष स्वीकार करना पड़ेगा, जो कि बहिरिन्द्रिय के स्वरूप के विरुद्ध है। अत: शब्द वायु का गुण नहीं हो सकता।[३]

'शब्द' श्रवणेन्द्रियग्राह्य तथा उसका विशेष गुण होने से दिक्, काल एवं मन का भी गुण नहीं हो सकता; क्योंकि इनका कोइ विशेषगुण होता ही नहीं।[४] ब्योमवतीकार ने अनुमान प्रयोग द्वारा युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि जो-जो विशेष गुण हैं, वे दिक्, काल एव मन के गुण नहीं हो सकते। 'शब्द' एक विशेष गुण है। अत: यह दिशा, काल एवं मन-इन तीन द्रव्यों में से किसी का भी गुण नहीं हो सकता।[५]

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० ३७-३९

२. प्र० पा० भा०, पृ० ३७

३. न, श्रोतस्य प्रतिनियतार्थग्राहकत्वेन बहिरीन्द्रियत्वात्। बहिरिन्द्रियस्य च प्रतिनियमग्राह्यजातीय विशेषगुणत्वनियमात्। अन्यथा सर्वस्य सर्वार्थत्वेऽन्धबधिराद्यभाव प्रसंगात्।

—— किरणा०, पृ० १९७

४. श्रोत्रग्राह्यत्वाद्वैशेषिकगुणभावाच्च न दिक्कालमनसाम्।

-- प्र०पा०भा०, पृ० ३६

५. तथा च शब्द: दिक्कालमनसां गुणो न भवति-विशेषगुणत्वात्। यो तो विशेषगुण:स दिक्कालमनसां गुणो न भवति, यथा रूपादि। तथा चायं विशेषगुणस्तस्मान्न गुण: शब्द इति।

-ब्योम०:, पृ० ३२८

भाट्ट मीमांसक तथा वैयाकरण सम्प्रदाय आकाश की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से मानते हैं। इस मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं-यदि आकाश प्रत्यक्ष का विषय न होता, तो 'इह पक्षी' व 'इह पक्षी न' आदि हमारी अनुभूतियॉ ही संभव न होतीं। अत: इन अनुभूतियो से सिद्ध होता है कि 'इह' के संकेत का आधार आकाश है तथा उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सिद्धान्त पक्ष उक्त शंका का समाधान किया है कि 'इह पक्षी' इत्यादि प्रतीतियों में जिस दृश्यमान आधार की ओर संकेत है, वह वस्तुत: आकाश नहीं, 'आलोकमण्डल' है।[१] आकाश का अस्तित्त्व प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल रूपवान द्रव्यों का ही होता है। आकाश में 'रूप' गुण नहीं होता। अत: प्रत्यक्ष के लिए 'रूपयोग्यता' अनिवार्य है, अन्यथा आत्मा का भी प्रत्यक्ष स्वीकार करना पड़ेगा।

आकाश की अनुमेयता को सिद्ध करते हुए न्याय-वैशेषिकाचार्यो का कहना है कि आकाश में 'रूप' गुण नहीं होता। आकाश में दिखाई पड़ने वाली नीलिमा वस्तुत: आकाश की नहीं, अपितु सुमेरु पर्वत पर स्थित इन्द्रनीलमणि की कान्ति है, जो आकाश के नीलत्व रूप में प्रतीति होती है। यदि वह नील रूप आकाश का गुण होता, तो हमे अपने अत्यन्त समीप उसका अनुभव होना चाहिए था; किन्तु ऐसा नहीं होता। अत: सिद्ध होता है कि आकाश रूपरहित द्रव्य है। इसका ज्ञान अनुमान द्वारा होता है और उस अनुमान का लिङ्ग 'शब्द' को माना गया है।[२] वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश में कुल छह गुण होते हैं — शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग। उक्त गुणों में से शब्द गुण से आकाश का स्वरूप एवं संख्यादि पॉच गुणों से उसका द्रव्यत्व सिद्ध होता है।

---

१. किरणा०, पृ० १०६; प्रभा (न्या०, सि० मु०), पृ० १२१

२. आकाशसत्त्वे प्रमाणमनुमानम्। तच्च शब्द:।

सिद्धान्तचन्द्रोदय, (न्या० को०), पृ० ११४

आकाश के स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि मत

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आकाश की सिद्धि शब्द के समवायिकारण के रूप में की गयी है। रघुनाथ शिरोमणि का कथन है कि 'वस्तुत: कार्य मात्र के प्रति साधारण निमित्त कारण के रूप में स्वीकृत ईश्वर ही शब्दरूपी कार्य का समवायिकारण है।' [१] इसलिए शब्द के समवायिकारण के रूप में आकाश को अतिरिक्त पदार्थ के रूप मे स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। ईश्वरगत शब्द कारणता उभयवादी सिद्ध है। ईश्वर जिस प्रकार से शब्द का निमित्तकारण है, उसी प्रकार शब्द की समवायिकारणता भी ईश्वर से कल्पित है।

कुछ दार्शनिकों द्वारा शंका की जाती है कि ईश्वर शब्द कि समवायिकारण के समान ही जीवात्मा में भी उसी प्रकार कारणत्व को स्वीकार कर लेने पर विनिगमनाविरह (किसी भी पक्ष की सिद्धि न होने) से रघुनाथ शिरोमणि के मत का निराकरण हो जाता है। [२] अभिप्राय यह है कि यदि प्राचीन नैयायिक यह कहें कि ईश्वर जिस प्रकार चेतन एवं विभु पदार्थ है, उसी प्रकार जीवात्मा भी चेतन और विभु पदार्थ है। अत: जीवात्मा मे शब्द की समवायिकारणता को स्वीकार न करके ईश्वर में ही समवायित्व क्यों होगा? इसका समाधान यह हो सकता है कि जीवात्मा मे शब्द का समवायिकारण कल्पित करने पर समवायित्व एवं कारणत्व दोनों की ही कल्पना करने से 'गौरव' होगा। [३] ईश्वर को शब्द का समवायिकारण मानने पर विरोध नहीं उत्पन्न होता है, क्योकि ईश्वर की कारणता उभयवादी सिद्ध होने से वहाँ पर केवल समवायित्व की कल्पना का आलम्बन लाघव रूप है। अत: ईश्वर में ही शब्द का समवायित्व स्वीकृत है। आचार्य रघुदेव का

---

१. शब्दनिमित्तकारणत्वेन क्लृप्तस्येश्वरस्यैव शब्दसमवायिकारणत्म्।

— प० त० नि०, पृ० ३

१. 'ईश्वरस्यैव शब्दसमवायिकारणत्व जीवस्य तथात्वमादाय विनिगमनाविरहेन निरस्तम्।'

— प० खं० व्या०, पृ० ३

३. '................ जीवानां तथात्वे कारणत्व समवायित्वयोर्द्वयो: कल्पने गौरवादितिभाव:'

— वही, पृ० ३

कथन है कि जीवात्मा मे कारणत्व की कल्पना करने पर जीवो का आनन्त्य ही इस कल्पना का प्रतिबन्धक है, क्योकि तब प्रत्येक जीव को लेकर विनिगमनाविरह होने से सिद्धान्त पक्ष दूषित हो जाता है।[१]

इस प्रकार पूर्व पक्ष का कथन है कि जिस प्रकार ईश्वर में समवायिकारण निश्चित रूप मे स्वीकृत हुआ है, उसी प्रकार जीवात्मा में भी शब्द का समवायिकारण उभयवादी सिद्ध रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। इसका साधक अनुमान प्रमाण भी है —

प्रतिज्ञा — शब्दःतद् जन्यः

हेतु — तददृष्टजन्यत्वात्

दृष्टान्त — सुखादिवत्

अभिप्राय यह है कि अदृष्ट जब जन्ममात्र का निमित्त कारण है, तब शब्द के प्रति भी अदृष्ट कारण होगा। अतः जो धर्म जिस कार्य का जनक है, वही धर्म का आश्रयी धर्मी भी उसी कार्य के जनक रूप में कल्पित होगा। इस व्याप्ति के अनुसार सुख, दुःख आदि दृष्टान्त के मूल मे शब्द के अदृष्ट जन्य हेतु के द्वारा जीवात्मजन्य अनुमिति होगा। इस प्रकार अन्वय दृष्टान्त मूलक अनुमान प्रमाण की सहायता से जीवगत जनकता ईश्वरगत जनकता की तरह उभयवादी सिद्ध होगा। अत· विनिगमनाविरह प्रयुक्त ईश्वर की तरह जीव को भी शब्द का समवायिकारण माना जा सकता है।

उक्त अनुमान के मूल में सिद्धान्त पक्ष यह है कि अपने-अपने अदृष्ट के कारण ही व्यक्ति वस्तुओं का उपभोग कर पाता है। अदृष्ट के कारण ही बधिरता आदि दोष उत्पन्न होते हैं। जीवात्मा के गुणों का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। इसलिए शंकर

---

१. न च जीवानामानान्त्यमेव विनिगमकमिति वाच्यम्। प्रत्येकं जीवमादाय विनिगमनाविरहसम्भवादिति सिद्धान्तमतं दूषयति।

— वही, पृ० ३

मिश्र ने कहा है कि 'यदि शब्द आत्मा का प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुण हो तो बधिर व्यक्ति को भी सुखादि गुणो के समान शब्द सुनायी देना चाहिए।' [१] इस प्रकार पूर्वपक्ष के अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द अदृष्ट से जन्य है। अदृष्ट अर्थात् धर्म–अधर्म आत्मा के गुण माने गये हैं। अत· शब्द का जनक अदृष्ट के होने से जीवात्मा शब्द की निमित्त कारणता का साधक है, यह अनुमान है। लाघव से शब्द की समवायि कारणता जीवात्मा मे ही सिद्ध होती है। अन्यथा जीवो मे निमित्त कारणता के होने पर भी ईश्वर में निमित्त और समवायि दोनों कारण की कल्पना में गौरव होगा। [२]

रघुनाथ शिरोमणि इस अनुमान को अप्रयोजक मानते हैं। [३] यहाँ शब्द को पक्ष मानकर, जीव को साध्य मानकर तथा अदृष्ट को हेतु रूप मे ग्रहण करके यथार्थानुभाव सम्भव नहीं हैं। अत: ईश्वर मे जिस तरह शब्द का जनकत्व उभयवादी सिद्ध है, उसी प्रकार जीवात्मा मे भी शब्द के जनकत्व होने की सिद्धि की सभावना नहीं है। प्राचीन नैयायिक अदृष्ट को ही शब्द का जनक स्वीकार किया है। रघुनाथ शिरोमणि अदृष्ट के जनकत्व का खण्डन करते हुए कहते हैं –– "अदृष्ट शब्द का जनक होने पर भी अदृष्ट के आश्रय जीवात्मा में जनकत्व रहेगा, इस प्रकार कोई प्रमाण नहीं है।" [४]

तार्किक शिरोमणि के उक्त कथन का अभिप्राय है कि व्यक्ति अदृष्ट के कारण ही सुख, दुख आदि का अनुभव करता है और यह सुख अथवा दु:ख वस्तुओ के उपभोग से उत्पन्न होता है। उसका अनुभव आत्मा को होता है। इसे इस उदाहरण द्वारा

---

१ वैशेषिक सूत्रोपस्कार, पृ० १५०

२. अथ शब्दजनकादृष्टवतो जीवस्य शब्दकारणतां साधयनुमानं लाघवाच्छब्दसमवायिकारणतामेव साधयति। अन्यथा ईश्वरे निमित्तसमवायिकारणतयोर्जीवेषु निमित्तकारणताया कल्पने गौरव स्यात्।

—— प० त० वि० प्र०, पृ० ८४

३. 'शब्दस्यज्जन्यस्तददृष्टजन्यत्वात् सुखादिवदिति पुनरप्रयोजकम्'

—— प० त० नि०, पृ० ३

४. 'अदृष्टस्य शब्दजनकत्वेऽपि तदाश्रयस्य जनकत्वे मानाभावात्।'

—— वही, पृ० ३

समझा जा सकता है —— पुस्तक मे रूप एव गुण व्यक्ति के अदृष्ट के कारण से है और वह व्यक्ति पुस्तक मे समवाय सम्बन्ध से रहता है। वहाँ व्यक्ति की आत्मा समवेत नहीं है। अत आत्मा अदृष्ट का जनक नहीं कहा जा सकता है। वस्तुत· कहीं भी उसके अदृष्ट के जनक होने का प्रमाण नहीं है। यहाँ आचार्य रामभद्र सार्वभौम पूर्वपक्ष की ओर से शका करते हैं कि 'कार्यतावच्छेदक (समवायिकारण के) भेद से एव प्रत्यासक्ति (असमवायिकारण) भेद से कारणता के अनेक भेद माने गये हैं, जिससे कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति जो निमित्तकारणत्व है, उसके अतिरिक्त किसी अन्य (जीवात्मा) से ही शब्दत्वावच्छिन्न के प्रति समवायिकारणत्व स्वीकार किया गया है और वहाँ प्रत्येक जीव को लेकर के विनिगमक नहीं है।' [१]

टीकाकार रघुदेव कारण को अनेक प्रकार का स्वीकार करने पर भी जन्यत्व अवच्छिन्न के प्रति ईश्वर की कारणता कालिक सम्बन्ध से मानते हैं। ईश्वर में शब्द की समवायिकारणता स्वीकृत होने पर उक्त कारणता तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न होगी। क्योकि समवाय सम्बन्धावाच्छिन्न कार्यता निरुपित तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न कारणत्व को ही समवायिकारणत्व कहा गया है। ध्यातव्य है कि जीवात्मा में जिस प्रकार का समवायित्व एव कारणत्व कल्पित होगा, ईश्वर में भी उसी प्रकार समवायित्व एवं तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न कारणत्व दोनों की कल्पना करनी होगी। अत: ईश्वर में समवायिकारण की कल्पना के पक्ष में किसी प्रकार की लाघव की संभावना नहीं है। अतएव विनिगमनाविरह प्रयुक्त जीवात्मा में शब्द के समवायिकारणत्व की कल्पना क्यों नहीं होगी। [२]

---

१. 'अथ कार्यतावच्छेदकभेदेन प्रत्यासत्तिभेदेन च कारणताया भेदात् कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति यन्निमित्तकारणत्व ततोऽन्यदेव शब्दत्वावच्छिन्नं प्रति समवायिकारणत्वं तच्च प्रत्येकजीवमादाय विनिगमकरहितमिति नोक्तलाघवावतार इत्यत आह।'

—— प० त० वि० प्र०, पृ० ८४

२. प० ख० व्या०, पृ० ३

रघुनाथ शिरोमणि उक्त शका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'यदि जीवात्मा सुख–दुःख आदि गुणो की भाँति शब्द का भी समवायिकारण होता है तो 'अह सुखवान्' (मैं सुखी हूँ) आदि प्रतीति की तरह 'अहं शब्दवान्' (मैं शब्दवाला हूँ) इस प्रकार की प्रतीति भी अवश्य होती, जो कि नहीं होती है।[१] तात्पर्य यह है कि यदि शब्द को जीवात्मा का गुण स्वीकार कर लिया जाय, तो जीवात्मा मे समवेत ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा एव प्रयत्न रूप गुण समूह का जो रूप 'मैं इच्छा करता हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं जानता हूँ', 'मैं करता हूँ', है वही 'मैं शब्दवाला हूँ' का भी रूप मानना पड़ता, जो अनुचित है। अतएव शब्द को ईश्वर का ही गुण स्वीकार करना उचित होगा।

दीधितिकार ने श्रोत्रेन्द्रिय का स्वरूप न्याय–वैशेषिक सम्मत ही प्रतिपादित किया है, किन्तु कर्णशष्कुली विवरावच्छिन्न श्रोत को आकाश रूप न मानकर ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं। पूर्वपक्ष की शंका है कि आकाश को अतिरिक्त द्रव्य के रूप में न स्वीकार करने पर कार्णविवरावच्छिन्न आकाश के श्रोत्रत्व की सिद्धि कैसे होगी? रघुनाथ शिरोमणि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं —— 'श्रोत्रमपि कर्णशष्कुली विवरावच्छिन्न ईश्वर एव',[२] अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय भी कर्णशष्कुली विवर के द्वारा अवच्छिन्न ईश्वर ही है।

आकाश के समान ईश्वर के भी व्यापक एवं नित्य होने से पुनः वही शंका होती है कि ईश्वर के व्यापक एवं नित्य होने पर सर्वत्र शब्दो का प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। रघुनाथ शिरोमणि उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है —— जिस प्रकार प्रतिपक्षी श्रवणेन्द्रिय को कर्णविवर देशावच्छिन्न खण्डाकाश के रूप में मानते हैं, उसी प्रकार हमारे मत मे कर्णविवरावच्छिन्न ईश्वर ही श्रवणेन्द्रिय है।'[३]

---

१ 'अस्मदादेश्च शब्दसमवायिकारणत्वे अहं सुखादिमानितिवदहं शब्दवानिति प्रतीत्यापत्तिः।'
—— प० त० नि० पृ० ३

२ प० त० नि०, पृ० ३

३ 'यथा परेषा तथाविधमाकाशम्' —— वही, पृ० ३

(iii) काल एवं दिक् द्रव्य

काल का अतिरिक्त द्रव्यत्व सिद्धि : पूर्वपक्ष

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त मे काल भी आकाश की तरह एक पृथक, स्वतन्त्र, नित्य एव विभु द्रव्य है। महर्षि कणाद ने काल की सिद्धि के लिए परत्व, अपरत्व, युगपत्, चिर तथा क्षिप्र प्रतीतियों को काल का हेतु बताया हैं।[१] भाष्यकार प्रशस्तपाद ने इन्हीं पॉच प्रकार के ज्ञान को काल का अनुमापक हेतु कहा है।[२] काल ही वह स्थिर आश्रय है, जिस पर आश्रित होकर सभी क्रियाएॅ घटित होती हैं तथा काल में ही उनका पौर्वापर्य, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिरत्व, क्षिप्रत्व आदि निर्धारित होता है। अत: काल एक द्रव्य है।

काल का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु अनुमान से होता है तथा उस अनुमान मे परत्वापरत्वादि ही हेतु है। यदि यहॉ प्रतिपक्षी द्वारा यह शंका की जाय कि उन परत्वापरत्वादि प्रतीतियों के साथ काल की व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती तो, वे कैसे काल के अनुमापक हेतु हो सकते हैं? इस शंका का समाधान सिद्धान्त-पक्ष के अनुसार यह होगा कि परत्वापरत्वादि काल की ज्ञापक प्रतीतियो के विषय द्रव्यादि से विलक्षण इस ज्ञान की उत्पत्ति में काल को छोड़कर और कोई कारण नहीं है। वे द्रव्य उनके कारण नहीं हो सकते; क्योंकि केवल द्रव्यादि विषयक प्रतीतियो से परत्वादि विषयक प्रतीतियॉ विलक्षण होती हैं। निमित्त के बिना तो कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। अत· उन विलक्षण प्रतीतियों का कारण ही 'काल' है-यह सिद्ध हो जाता है।

संसार की प्रत्येक घटना को हम अतीत या अनागत, पहले या बाद में, शीघ्र या विलम्ब से-इत्यादि रूप में देखते हैं। हमारा यह अनुभव काल नामक एक

---

१. अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि।

-- वै०सू०, २/२/६

२. 'काल : परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्'

-- प्र० वा० भा०, पृ० ४१

पृथक् द्रव्य की अनिवार्यता प्रतिपादित करता है। क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन, सवत्सर, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय आदि हमारे व्यवहार भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-इन द्रव्यों मे से किसी के साथ संयुक्त नहीं हो सकते और न ही इन अनुभवो की सत्यता पर संदेह कर सकते है। अत: वह द्रव्य जिनके साथ हमारा यह क्षणादि का ज्ञान संयुक्त हो सकता है, काल ही है। अथवा सभी कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु काल है, क्योकि वे काल से युक्त होते हैं।[१]

वैशेषिकाचार्यों ने काल मे पॉच गुणों की सत्ता स्वीकार की है —— संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग।[२] वस्तुत: काल एक नित्य द्रव्य है, परन्तु उपाधिभेद के कारण क्षण, दिन, मास आदि अनेक रूपो में प्रतीत होता है। अनेकत्व की कल्पना में गौरव-दोष है। 'काल'सब जन्य वस्तुओं का आश्रय है, निमित्त कारण है। अत: उसके स्वरूप से ही स्पष्ट है कि उसका परिमाण विभु या परमहत् होना चाहिए।[३] काल की एक संख्या से ही सिद्ध होता है कि उसमें 'पृथक्त्व' गुण भी है। यह वैशेषिक उक्ति है कि जो एक होता है, वह अन्यों से पृथक् भी अवश्य होता है।[४] इसके अतिरिक्त सयोग एव विभाग गुण भी काल मे सन्निहित हैं।

आकाश भी काल नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश किसी एक वस्तु के धर्म को उस द्रव्य के साथ नहीं जोड़ सकता; जिसका उस प्रथम वस्तु के साथ संयुक्त-समवाय संबंध है। आत्मा भी काल द्रव्य नहीं है, क्योंकि उसमें भी किसी एक

---

१. क्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहर्त्तयामाहोरात्रार्द्धमासमासर्त्वयनसंवत्सरयुगल्प-मन्वन्तरप्रलयमहाप्रलयव्यवहारहेतु:।

-- प्र० पा० भा० (न्या०कं०टीका), पृ० १५६

२. तस्य गुणा: संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा:।

-- प्र०पा०भा०, पृ० ४३

३. वै० सू०, २/१/२३

४. य: एक: सोऽन्यस्मात्पृथगिति अनुविधानम्।-सूक्ति, पृ० ३४५

वस्तु के धर्म को दूसरी वस्तु के धर्म मे आरोपित करने की शक्ति नहीं है। यदि आत्मा मे यह शक्ति होती, तो किसी वस्तु का एक स्थान पर उपलब्ध होने वाला रूप दूसरे स्थान पर भी उसी सयुक्त-सयुक्त समवाय से उपलब्ध हो जाना चाहिए। जैसे-वाराणसी मे विद्यमान नीलवर्ण से पटना में स्थित स्फटिक मणि नीली हो जानी चाहिए, जो कि सर्वथा असभव है।[१] इसी प्रकार दिक् भी काल द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि दिक् तो अभी स्वय ही असिद्ध है और सिद्ध हो जाने पर भी वह हेतु की दृष्टि से तो सिद्ध नहीं हैं।

न्यायकन्दलीकार श्रीधर का मत है कि जागतिक वस्तुओ में दृश्यमान परिवर्तन दिखाई पडने से काल का अनुमान होता है। मनुष्य के शरीर मे बालक से युवा और युवा से वृद्धावस्था का भेद कालजन्य ही है। श्रीधराचार्य ने काल सिद्धि-हेतु पारम्परिक युक्ति 'सूर्य-परिवर्तन' को न मानकर अपनी मौलिक प्रतिभा से उपर्युक्त तर्कों की उद्‌भावना करके वैशेषिक सम्मत काल-द्रव्य की सिद्धि एव स्वरूप स्पष्ट किया है।

कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी मीमांसक काल को प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। उनके अनुसार पदार्थ ज्ञान के साथ विशेषतया काल का भी ज्ञान होता है। यद्यपि काल का ग्रहण स्वतन्त्र रूप में नहीं होता; किन्तु पदार्थों के गुण अथवा विशेषण रूप में होने से उसे प्रत्यक्ष का विषय मानना चाहिए।[२] इसके विपरीत बौद्ध दार्शनिक काल का ग्रहण न होने से काल का अस्तित्त्व ही नहीं मानते हैं।

नैयायिको के अनुसार उपर्युक्त दोनों मत भ्रामक हैं। रूपादि विशेष गुणों से रहित काल द्रव्य किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता। इसकी अप्रत्यक्षता अनुभव सिद्ध है। किन्तु प्रत्यक्ष न होने से यह मान लेना कि काल का

---

१. किरणा०, पृ० ११५-११६

२. प्रत्यक्षगम्यतामेव केचित्कालस्य मन्वते।
विशेषणतया कार्यप्रत्यये प्रतिभासनात्।।

-- न्या० म० (भाग-१), पृ० १२४

अस्तित्त्व ही नहीं है, एक भूल है। सर्वत्र वस्तु का अभाव ही अनुपलब्धि के प्रति कारण नहीं होता; अपितु कारणान्तर का वैकल्प एव विषय की अयोग्यता भी अनुपलब्धि का प्रमुख कारण है।[१] तत्स्वरूप कालद्रव्य के ग्रहणाभाव का हेतु कारणान्तर का वैकल्प ही है। अतीत, वर्तमान एव भविष्य की प्रतीति सर्वजनीन है। अत: काल की सत्ता का अपलाप कथमपि संभव नहीं है।

दिक् का अतिरिक्त द्रव्यत्व : वैशेषिक सम्मत मत

दिक् भी काल के सदृश अभौतिक एव विभु द्रव्य है। साधारणत: दिक् को एक आधार के रूप में देखा जाता है, जिसमें सभी भौतिक वस्तुएँ स्थित हैं तथा जिसमें वे वस्तुएँ भिन्न-भिन्न स्थान को प्राप्त करती हैं। न्याय-वैशेषिकाचार्यों ने दिक् की इस व्याख्या को अपूर्ण माना हैं वस्तुत: दिशा को मात्र धारक मानने पर आकाश से अतिरिक्त पृथक भाव पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी; क्योंकि आकाश शब्द का समवायिकारण होने के साथ-साथ सभी परिमित वस्तुओं का आधार भी है।

वैशेषिक सिद्धान्त में पूर्वापरादि प्रत्यय को दिक् का अनुमापक लिंग माना गया है।[२] दिक् एक अतीन्द्रिय द्रव्य है। उसका प्रत्यक्ष सभव नहीं। अत: उसकी सिद्धि कुछ हेतुओ के आधार पर अनुमान द्वारा की गयी है। पूर्व, अपर आदि प्रतीतियॉ ही दिक् के साधक हेतु हैं। जिस द्रव्य के कारण 'यह पूर्व है', 'यह पश्चिम है' आदि प्रतीतियॉ होती है, वही दिक् है। शिवादित्य ने दिक् का लक्षण दिया है-'आदित्यसंयोगानुत्पाद्यपरत्वापरत्वासमवायिकरणाधार· परत्वापरत्वानधिकरणं दिक्।'[३] अर्थात् सूर्य के संयोग से अनुत्पाद्य, परत्वापरत्व के समवायिकारण का आधार एवं परत्वापरत्वगुण का अनधिकरण ही दिक् है अन्नम्भट्ट ने दिक् को पारिभाषित करते हुए

---

१ 'ननु चानुपलब्धि: कालासत्वं प्रतिपादयति? न प्रतिपादयति, व्यभिचारात् त्रिकारणेयमनुपलब्धि:, तत्रानुपलब्ध्या कारणवैकल्पं गम्येत् .... ।'
-- न्या० वा०, पृ० २५३

२. 'दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा' – प०ध०स०, पृ० ४५

३. सप्तपदार्थी, पृ० ६६

कहा है-"प्राची (पूर्व दिशा), अवाची (दक्षिण दिशा), प्रतीची (पश्चिम दिशा) और उदीची (उत्तर दिशा) इत्यादि व्यवहार के असाधारण कारण को दिक् कहते है।"[१] दिक् स्वरूपत एक ही है, किन्तु आदित्य संयोगादि रूप उपाधियो के आधार पर उसका विभाग किया जाता है।[२] जिस प्रकार महेश नामक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त पाठक, नर्तक आदि संज्ञाओं के प्रति पाठ व वादनादि क्रियाएँ ही निमित्त होती हैं, उसी प्रकार दिक् के औपाधिक भेदों के प्रति पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन-ये पाँच मूर्त द्रव्य कारण हैं।

दिक् के एकत्व के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि पूर्वापरादि प्रत्यय विभिन्न प्रकार के हैं, अतः दिशाओ को अनेक मानना चाहिए। किन्तु प्रतिपक्षी द्वारा लगाया गया यह आक्षेप उचित नहीं। ऊपर दिक् के जिन भेदों की परिगणना की गयी है, वह दिक् के वास्तविक प्रभेद नहीं हैं, मात्र प्रतीतियाँ हैं। पूर्व पश्चिमादि भेद वस्तु भेद हैं, न कि दिक् के। यदि ये दिक् के वास्तविक भेद होते तो पूर्व-दिशा मे वर्तमान, वस्तु में पश्चिम-दिशा की प्रतीति कभी न होती। परन्तु ऐसा देखा जाता है कि जो वस्तु एक व्यक्ति की ओर से पूर्व-दिशा में विद्यमान है, वही वस्तु दूसरे व्यक्ति की ओर से पश्चिम-दिशा में वर्तमान प्रतीत होती है। अतः पूर्वापरादि भेद दिक् का नहीं, बल्कि वस्तुओं का है।

प्रशस्तपाद का कथन है कि दिक् के दस औपाधिक भेद प्राची प्रभृति महर्षियों ने बनाये हैं, जो उनके अधिष्ठाता लोकपालो के अनुसार इस प्रकार हैं-माहेन्द्री (पूर्व), वैश्वानरी (दक्षिण-पूर्व), याम्या (दक्षिण), नैर्ऋति (दक्षिण-पश्चिम), वारुणी (पश्चिम), वायवी (उत्तर-पश्चिम), कौबेरी (उत्तर), ऐशानी (उत्तर-पूर्व), ब्राह्मी (उर्ध्व), नागी (अधः)।[३]

---

१. 'प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्'-त०सं०, शेषराजशर्मा (टीका०), पृ० १४

२. 'उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशमाम्'-भा०प०, पृ० ४७

३. तासामेव देवतापरिग्रहात् पुनर्दश संज्ञा भवन्ति-माहेन्द्री, वैश्वानरी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी वायव्या, कौबेरी, ऐशानी, ब्राह्मी नागी च।

-- प्रा०पा०भा० (न्याय कन्दली व्याख्या), पृ० १६६-१६७

प्रशस्तपादभाष्य की 'सेतु' व्याख्या के रचयिता पद्मनाभ मिश्र ने उक्त दस दिशाओ के अतिरिक्त एक ग्यारहवीं दिशा का भी उल्लेख किया है, जो प्राची (पूर्व) और अवाची (दक्षिण) के मध्य है; अथवा उर्ध्व ओर अधोभाग के मध्य है। [१] सप्तपदार्थीकार शिवादित्य ने भी ग्यारह दिग्भाग माने हैं। उपर्युक्त दस के अतिरिक्त ग्यारहवीं को उन्होंने 'रौद्री' नाम दिया है, जो उर्ध्व एव अधोदिशा के मध्य स्थित है तथा जिसे सामान्यत: 'अन्तरिक्ष' कहा जाता है। [२]

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार दिशा मे वस्तुत· 'एक' ही सख्या पायी जाती है। किन्तु उपाधिवश उसके दस या ग्यारह भेद किये जाते हैं। केवल तार्किक लाघव हेतु ही नहीं, अपितु तार्किक आवश्यकता वश भी यह अनिवार्य है कि दिक् को एक ही माना जाय, क्योंकि यदि दिक् को अनेक माना जायेगा, तो विश्व मे सर्वत्र ऐसी अव्यवस्था व्याप्त हो जायेगी, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जयन्तभट्ट आदि नैयायिक तथा भाट्टमीमांसको ने काल की तरह दिक् को भी प्रत्यक्ष का विषय माना है। पार्थसारथि मिश्र की स्पष्ट उक्ति है कि श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द के शिषण के रूप मे दिक् का भी साक्षात् ग्रहण हो जाता है। [३] सूत्रकार इनसे सहमत नहीं हैं। जिसे ये दिक् का प्रत्यक्ष मानते हैं, वस्तुत: वह परिमित वस्तुओं का प्रत्यक्ष है, जो निश्चित् दिक सम्बन्ध से एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। दिक् मे वर्तमान मूर्त वस्तुओं के प्रत्यक्ष के अतिरिक्त दिक् का प्रत्यक्षात्मक अनुभव हमे नहीं होता। इसका ज्ञान अनुभव द्वारा ही सभव है।

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त उक्तियों से ऐसा सिद्ध हो चुका है कि काल की भाँति दिक् भी एक द्रव्य है। वैशेषिक के अनुसार द्रव्य का लक्षण गुणयुक्त होना

---

१. सेतु, पृ० ३५६

२. स०प०, पृ० १८

३. शब्दे गृह्यमाणे तद्विशेषणतया दिगपि गृह्यते।

-- शा० दी०, पृ० २९८

है। अत ही काल की भाँति दिक् द्रव्य के भी पाँच गुण हैं–सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग व विभाग।[1] सख्या की दृष्टि से दिक् एक है। उसका परिमाण विभु या परमहत् होना चाहिए, क्योकि दिक् समस्त जन्य वस्तुओ का निमित्तकारण है। दिक् की एक सख्या से सिद्ध होता है कि उसमे पृथक्त्व गुण भी है। क्योकि जो एक होता है, उसमे पृथक्त्व गुण भी अवश्यम्भावी हैं। दिक् मे सयोग व विभाग गुण भी परत्वादि के कारण है। अत: दिक्, काल की तरह पचगुण सम्पन्न है।

दिक् एवं काल के स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि मत

कणाद ने द्रव्यों का परिगणन करते समय दिक् एवं काल को भी द्रव्य माना है। परवर्ती न्याय–वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने कणाद के मत का अनुसरण करते हुए उनको अतिरिक्त द्रव्य के रूप में ही प्रतिष्ठित किया है। परन्तु नव्य नैयायिकों ने इन द्रव्यों की समीक्षा करते हुए उन्हें अतिरिक्त द्रव्य के रूप मे स्वीकार करने का कोई औचित्य न देखकर इनका अन्तर्भाव ईश्वर में कर दिया है। अपने मत को प्रस्तुत करने से पूर्व नव्यनैयायिको के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वप्रथम वे काल एव दिशा के अतिरिक्त द्रव्यत्व का निराकरण करे तत्पश्चात् उनका अन्तर्भाव ईश्वर मे मानें। रघुनाथ शिरोमणि ने 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' मे काल एवं दिशा का अन्तर्भाव ईश्वर में करने वाले तर्कों को प्रस्तुत किया है। अत: इनके अतिरक्ति द्रव्यत्य का निराकरण मे प्रयुक्त युक्तियो के लिए उनके अन्य ग्रन्थ मे भी प्रमाण उपलब्ध हैं।

श्रीधराचार्य ने 'न्यायकन्दली' टीका मे काल को विभु सिद्ध करते हुए कहा है —— 'कारणेकाल:' सूत्रकार की इस उक्ति से काल मे परममहत्परिमाणवत्त्वरूप विभुत्व की भी सिद्धि समझनी चाहिए। कथित 'उक्ति' शब्द से "कारणे कालाख्या"[2] इस सूत्र को समझना चाहिए। इस सूत्र का अर्थ है कि यौगपद्यादिविषयक प्रतीतियों के

---

१ तस्यास्तु गुणा:सख्या परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा:कालवदेते सिद्धा:।

-- प्र० पा० भा० (न्या० क० टीका), पृ० १६४

२. वै० सू०, ७/१/२५

असाधारण कारण का ही नाम 'काल' है, चूँकि ये यौगपद्यादि की प्रतीतियाँ सभी स्थानो मे होती हैं, अतः यह समझना चाहिए कि काल व्यापक है।[१] काल एवं दिक् के व्यापक होने के कारण ही इसे परत्वापरत्व की प्रतीतियो का कारण कहा गया है। उद्योतकर ने भी दिशा आदि को नित्य एवं व्यापक कहा है। अन्नं भट्ट ने भी दिशा की एक विशेषता उसका विभु होना बतलाया है।[२]

रघुनाथ शिरोमणि काल एवं दिशा के परममहत् परिमाण का खण्डन करते हुए कहते हैं — 'दिशा एवं काल के वृत्तिमत् (सम्बन्ध) मात्र के अधिकरण (आश्रय) होने से उसके परिमाण का अत्यन्ताभाव भी वहाँ विद्यमान रहता है।'[३] तात्पर्य यह है कि सूर्य संयोगों के अधिकरण रूप में कालादि की सत्ता को स्वीकार किया गया है और इन संयोगों का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। इसलिए कालिक एवं दैशिक परत्वापरत्व की सिद्धि हेतु एक अतिरिक्त 'संयुक्त-संयुक्त समवाय' सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है। द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए 'परिमाण' का होना अनिवार्य है, तभी इन्द्रिय एवं अर्थ का संयोग होने पर वस्तु का प्रत्यक्ष संभव होगा। परन्तु काल एवं दिक् में महत् परिमाण न होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और न ही यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष का विषय है। यही कारण है कि रघुनाथ शिरोमणि दिशा एवं काल मे परिमाण का अत्यन्ताभाव मानते हैं।

काल एवं दिक् दोनों पदार्थ विशेष गुण रहित, विभु एवं परापर प्रतीतियो के कारण हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि दैशिक पूर्वापर की प्रतीति किसी को अवधि बनाकर होती है, अतः इनका स्वरूप नियत नहीं है। जबकि सूर्य-परिस्पन्दों का

---

१. 'कारणेकाल इति वचनात्। परममहत्परिमाणमित्यनेन "कारणे कालाख्या" इति सूत्रं लक्षयति। युगषदादिप्रत्ययानां कारणे कालाख्या कालसंज्ञेति सूत्रार्थः। तेन व्यापकः कालो लभ्यते।'
— न्या० क०, पृ० १६०

२. 'सा चैका नित्या विभ्वी च'
— त० सं० (शेषराज शर्मा टीका०), पृ० १४

३. 'दिक्कालयोवृत्तिमन्मात्राधिकरणत्वात्तदीयपरिमाणात् अत्यन्ताभावोऽपि तत्र वर्तते।'
— किरणावलीप्रकाशदीधिति, पृ ३९

व्यक्तित्व से संयोग होने पर कालिक परापर उत्पन्न होते हैं। इसलिए व्यक्ति से सम्बद्ध होने के कारण वे नियत स्वरूप वाले नहीं हैं। यही कारण है कि रघुनाथ शिरोमणि ने युक्तियो के द्वारा उनके अतिरिक्त द्रव्यत्य का खण्डन किया है और समान युक्तियो के द्वारा उनका अन्तर्भाव ईश्वर मे सिद्ध किया है। रघुनाथ का कथन है —— 'तत्रदिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्।' [१]

उपर्युक्त उक्ति मे 'तत्र' से अभिप्राय प्राचीन न्याय–वैशेषिक मत मे स्वीकृत नौ द्रव्यों के मध्य में दिक् एवं काल का अतिरिक्त द्रव्यत्व नहीं है। [२] रघुनाथ शिरोमणि का कथन है कि प्राचीन नैयायिकों ने जो दिक् एवं काल को अतिरिक्त द्रव्य के रूप में सिद्ध किया है, वह युक्तिसिद्ध नहीं है। अत: उसके अतिरिक्त द्रव्य होने मे प्रमाण का अभाव है। कुछ टीकाकारों ने यह कहा है कि रघुनाथ ने दिक् एवं काल के अतिरिक्त द्रव्यत्य का खण्डन करने के लिए काल एवं दिशा को पदार्थ रूप में स्वीकार करके ही पक्ष बनाया है, इस प्रकार वे सिद्ध हैं। साथ ही साथ उसके अतिरिक्त पदार्थत्व का अभाव भी प्रदर्शित किया जा रहा है अर्थात् इनकी असिद्धि भी प्रदर्शित की जा रही है। इस प्रकार यहॉ सिद्धि एवं असिद्धि दोनों के होने पर व्याघात दोष हो सकता है किन्तु यह शंका निष्प्रयोजन है। इसका कोई औचित्य ही नहीं है।

'पूर्वस्यां दिशि घट:' इस व्यवहार मे विभुत्व ही प्रतीति का विषय है और विभुत्व ही दिक् है। विभुत्व के अतिरिक्त दिशा का कोई स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार काल को पक्ष बनाकर उसके अभाव साधन में भी व्याघात दोष का निराकरण हो जाता हैं यथा —— 'इदानीं घट:' इस प्रकार के व्यावहार के समय विभुत्व ही प्रतीति का विषय है और इस विभुत्व की प्रतीति के लिए प्राचीन मत में काल एवं दिशा इन दो अतिरिक्त द्रव्यों को स्वीकार किया गया है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि विभुत्व क्या

---

१. प० त० नि०, पृ० २

२. प्राचीनमताभ्युपेतपदार्थेषु मध्य इत्यर्थ:।

—— प० ख० व्या०, पृ० १–२

है? विभुत्व की तार्किक सम्मत परिभाषा 'सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व विभुत्वम्' [१] की गयी है। जिसका अभिप्राय है कि जो सभी मूर्त द्रव्यों मे सयोग सम्बन्ध से रहे, वह विभु है। अत· पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन भूत द्रव्यो से इतर विभु द्रव्य हैं। यहॉ यह दृष्टिगत है कि विभुत्व कभी भी परममहत् परममहत् परिमाणयान नहीं होता, क्योकि परममहत् परिमाणवान द्रव्य निष्क्रिय होते हैं। जबकि विभु द्रव्य सक्रिय होते हैं। प्राचीन मत मे आकाश, दिक्, काल, और आत्मा इन चार द्रव्यो को परममहत् परिमाण के आधार पर विभु मान लिया गया है। इन चारों मे सक्रिय द्रव्य एक ही है और वह है आत्मा। आत्मा के दो भेद हैं —— जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा विभु होने पर भी व्यक्ति विशेष में रहती है। परमात्मा ही सर्वव्यापक है। यही कारण है कि रघुनाथ शिरोमणि दिक् एवं काल के अतिरिक्त द्रव्यत्व का निराकरण करके 'पूर्वस्यां दिशि घट:' और 'इदानीं घट:' इस प्रकार की प्रतीतियों का आधार ईश्वर को ही मानते हैं। यद्यपि प्राचीन न्याय में ईश्वर को भी परममहत् परिमाणवाला माना गया है, परन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने ईश्वर के परममहत् परिमाण होने का खण्डन किया है, उन्होंने ईश्वर को एक मात्र विभु द्रव्य मान है।

प्राचीन न्याय में काल एव दिक् को दो रूपों मे स्वीकार किया गया है —— महाकाल, महादिक् एवं खण्डकाल, खण्डदिक्। महाकाल अथवा महादिक के रूप में काल एवं दिक् समस्त जगत् की उत्पत्ति का निमित्त कारण है। निमित्तकारणता उसी द्रव्य मे हो सकती है, जो परममहत् परिमाणवान अर्थात् विभु हो। 'महा' रूप में ये द्रव्य निष्क्रिय भी हैं। उनका कार्य क्षेत्र खण्ड रूप मे ही निर्धारित किया गया है। खण्डकाल वृद्ध एव युवक में परत्व और अपरत्व को दर्शाता है एवं इस परत्वापरत्व का निर्धारण क्षणों की अधिकता एवं न्यतनता के आधार पर किया गया है। इन्हीं को महाकाल की उपाधियॉ कहा गया है। फलत: काल का एकत्व खण्डित नहीं होता। इसी प्रकार दिक् स्थान की निकटता और दूरी को बतलाता है। प्राची, प्रतीची आदि दस भेद भी दिशा की उपाधियॉ ही हैं। अत: दिशा अनेक नहीं एक ही है।

---

१. त० स० (शेषराज शर्मा टीका०), पृ० १३

रघुनाथ शिरोमणि ने दिक् एवं काल के खण्डन के लिए प्रीचीन न्याय-वैशेषिक के इस मत को पुन: प्रतिष्ठापित किया है कि जगत् के निमित्त कारण के रूप में आकाश, काल दिशा एव ईश्वर को मानते हैं और इन चारो को परममहत् परिमाणवाला कहते हैं। दीधितिकार शिरोमणि का मन्तव्य है कि जो द्रव्य स्वय की निष्क्रिय है, वह सृष्टि प्रक्रिया कैसे मे सक्रिय हो सकता है। सक्रियता केवल विभु द्रव्य मे ही हो सकती है। समस्त न्याय-वैशेषिक दर्शन मे ईश्वर को विभु माना गया है। अत: वही समस्त कार्यों का उत्पत्तिकर्ता है। परन्तु न्याय-वैशेषिक में परममहत् परिमाणवान एवं विभुत्व के अन्तर को ध्यान मे रखे बिना ही कालादि को जगत् का निमित्तकारण कह दिया गया है। अत: रघुनाथ शिरोमणि 'महा' रूप में काल एवं दिशा को स्वीकार नहीं करते और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एव विनाश का आधार एक ही ईश्वर को मानकर उसमें काल एवं दिशा का अन्तर्भाव स्वीकार किया है।

वस्तुत: ये दोनों द्रव्य 'खण्ड' रूप में ही सक्रिय हैं। इनका यह पक्ष रघुनाथ शिरोमणि को भी स्वीकार्य है। वे खण्ड रूप में काल की क्षण, लव आदि उपाधि ाायो को तथा दिशा की प्राची, प्रतीची इत्यादि उपाधियों को ईश्वर की ही उपाधि मान लेते हैं। काल की 'क्षण' उपाधि को एक नवीन स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्थापना भी करते हैं।

(IV) मन द्रव्य

न्याय-वैशेषिक सम्मत मत : पूर्वपक्ष

स्पर्श गुण से रहित, परमाणु-परिमाण वाले द्रव्य का नाम 'मन' [१] है। मन का लक्षण है- 'मनस्त्व जाति का अभिसम्बन्ध।' [२] अर्थात् समवाय सम्बन्ध से मनस्त्व जाति जिसमें रहे, वह मन है। मन अणुपरिमाण का आश्रय, आत्मा से संयुक्त, आन्तर इन्द्रिय, सुख आदि के प्रत्यक्ष आदि का कारण और नित्य है। सप्तदार्थीकार शिवादित्य के अनुसार 'मनस्त्व जाति से युक्त स्पर्श शून्य, किन्तु क्रिया का अधिकरण द्रव्य ही मन है। [३] प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में मन की सिद्धि के लिए दो हेतु उपस्थापित किये हैं —— पहला स्मृति का हेतु ही मन है। स्मृति किसी अन्द्रिय से उत्पन्न होती है, क्योंकि वह भी गन्धादि की तरह ज्ञान है। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ स्मृति की हेतु नहीं है; क्योंकि श्रोत्रादि व्यापार के न होने पर भी बधिर व्यक्ति को स्मृति तो होती है। अत· स्मृति का हेतु जो इन्द्रिय है, वही मन है। दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हुए प्रशस्तपाद ने कहा है कि सुखादि साधक इन्द्रिय ही मन हैं; क्योंकि सुख आदि प्रत्यक्ष में चक्षुरादि अन्य इन्द्रियो का व्यापार असंभव हैं।

वादिवागीश्वर ने अपने ग्रन्थ 'मान मनोहर' में मन के छ: लक्षण प्रस्तुत किये हैं ——

(क) स्पर्शरहित त्वेसति अणु मनः।

(ख) विज्ञानासमवायिकारणसयोगाधारत्वे सति मूर्तं वा।

(ग) सुखग्राहकेन्द्रियं वा।

---

१. अग्रेजी में इसे 'Mind' या 'Internal Organ' कहा गया है।
   द्रष्टव्य – Potter, EIP. Vol. II, p.33

२. 'मनस्त्वाभिसम्बन्धवान् मन:'-त०भा०, पृ० २५९

३. 'मनस्त्वजातियोगि स्पर्शशून्यं क्रियाधिकरणं मनः।'

-- स० प०, पृ० ६८

(घ) ज्ञानाजनक संयोगाश्रयं जड मनः।

(ङ.) ज्ञानासमवायिसयोगाश्रयमिन्द्रिय वा।

(च) अण्विन्द्रिय वा।[१]

तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट मन के निम्नलिखित दो लक्षण दिये हैं ——

(१) सुखाद्यपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मन·।

(२) स्पर्शरहितत्त्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम्।[२]

शंकर मिश्र ने अपने 'कणादरहस्य' नामक ग्रन्थ मे अन्य द्रव्यों की भॉति मन के भी लक्षण प्रस्तुत किये हैं —— 'मन वह द्रव्य है, जिसका अणु परिमाण है तथा जो आरम्भक संयोग का अधिकारण नहीं है अथवा स्पर्श का अत्यन्ताभाव होने पर जो मूर्त है, वही मन है। 'सर्वदर्शनसंग्रहकार' ने मन को इस प्रकार पारिभाषित किया है- यद्वा द्रव्यसमवायिकारणत्वरहिताषुसमवेतद्रव्यत्वापरजातिः।[३] मन की द्रव्य रूप मे सिद्धि हो जाने के बाद गुणो की चर्चा सर्वथा अभीष्ट एव प्रासगिक है। क्योकि वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुणों का आश्रय ही द्रव्य होता है। अतः मन के आठ गुण स्वीकार किये गये हैं —— सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व एव सस्कार। ये आठ गुण मन के असाधारण धर्म हैं।[४]

मन की संख्या अनन्त है। क्योकि प्रत्येक जीवात्मा के साथ एक-एक मन का नियत सम्बन्ध है। श्रीधराचार्य के अनुसार मन की अनेकत्व-सिद्धि में यही प्रमाण है कि मनस्त्व जाति की सिद्धि तभी हो सकती है, जब हम प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न मन की सत्ता माने।[५] एक काल मे, एक ही आत्मा में दो ज्ञानों और दो

---

१ मा० मनो०, पृ० ४८

२. त० स० तथा त० दी०, पृ० १३

३ स० द० स०, पृ० ४१५

४ 'तस्य गुणाः सख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः।'

-- प्र० मा० भा०, पृ० २२१

५. न्या० क०, पृ० २१६

प्रयत्नो की उत्पत्ति नहीं होती। अत· एक शरीर मे एक ही मन सिद्ध होता है। इस प्रकार मन अनेक होने पर भी एक शरीरस्थ मन मे एकत्व-सख्या ही सिद्ध होती है।

वैशेषिक मत के अनुसार मन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है, उसका अणुपरिमाणत्व का होना। मन मे विभुत्व के न होने से अणुत्व की ही सिद्धि होती है। जो नित्य द्रव्य विभु न हो, वह अवश्य ही अणु परिमाण होता है। इस नियम मे कोई व्यभिचार नहीं है।[१] अत· मन एक नित्य द्रव्य है तथा उसका परिमाण अणु है। यही सिद्धान्त मत है।

वेदान्तियों का आक्षेप है कि यदि मन 'विभु' नहीं माना जा सकता तो उसे 'मध्यम-परिमाण' क्यों नहीं मानते? उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए न्याय-वैशेषिक का मत है कि यदि मन को मध्यम-परिमाण माना जाय तो उसके अवयव भी स्वीकार करने होंगे, और तब एक से अधिक इन्द्रियों के साथ उसका एक कालिक संयोग भी मानना पड़ेगा। फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति या तो हो ही न सकेगी और या युगपत् ज्ञानोपत्ति स्वीकार करनी होगी, जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त मध्यम परिमाण होने पर मन नित्य भी नहीं हो सकेगा और मन की अनित्यता मान लेने पर अनेक प्रकार की तार्किक विसंगतियॉ उपस्थित हो जायेगी। अत· इन सब संभावित कठिनाइयो के निवारण हेतु यही मानना संगत एव युक्तियुक्त है कि मन अणुपरिमाण है। इसी से उसकी नित्यता भी स्वत· सिद्ध हो जायेगी।

प्रशस्तपाद का कथन है कि चूँकि मन में संख्या गुण है, इसलिए उसमे पृथक्त्व की सिद्धि भी हो जाती है। क्योंकि जहॉ संख्या पायी जाती है, वहॉ पृथक्त्व अवश्य होता हैं। भाष्यकार का कहना है कि मन का एक शरीर से 'उपसर्पण' (हटना) एवं दूसरे शरीर में 'अपसर्पण' (जाना), ये दोनों ही अदृष्ट से होते हैं। अत: मन में संयोग एवं विभाग इन दोनों गुणों की सिद्ध हो जाती हैं। उक्त गुणो के अतिरिक्त परत्व, अपरत्व एवं संस्कार नामक गुण भी मन में विद्यमान होते हैं; क्योंकि मन मूर्त द्रव्य है।

---

१. न्या० क०, पृ० २२३

तात्पर्य है कि विभुत्व हेतु से घटादि की भॉति मन मे भी परत्व, अपरत्व और सस्कार ये तीनो गुण सिद्ध होते है।

मन मे पाये जाने वाले उक्त आठ गुणो के अतिरिक्त वैशेषिक ग्रन्थो मे मन की कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं, जिससे मन के स्वरूप पर प्रकाश पडता है। मन अतीन्द्रिय द्रव्य है, क्योंकि अणुरूप है। इसलिए हमारी किसी बाह्य इन्द्रियो से मन का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता हैं। अणु रूप होने से मन का स्पर्श भी संभव नहीं है। अत: किसी अन्य सजातीय द्रव्यों का आरम्भक भी नहीं हो सकता। मन मूर्त द्रव्य है, यद्यपि अणु परिमाण की सिद्धि कर लेने से ही मन के मूर्तत्त्व की भी सिद्धि हो जाता हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार मन जड़ द्रव्य है, उसमें चैतन्य नहीं है। मन को चेतन मानने पर तो आत्मा की भॉति मन को भी शरीर का अधिष्ठाता मानना पड़ेगा, जो असंभव एवं असंगत है। अत: मन को चैतन्य नहीं माना जा सकता।

सांख्या–दर्शन में भी मन को मनन का साधन, अन्तरिन्द्रिय माना गया है। वह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी, अर्थात् उभयात्मक इन्द्रिय है। मन दोनो प्रकार की इन्द्रियो को अपने–आपने कार्यों में प्रवृत्त कराता है। इन्द्रियॉ केवल निर्विकल्पक ज्ञान को प्रकट करती हैं; किन्तु मन सकल्पात्मक हैं।[१] सांख्या–दर्शन मे मन का स्थान बाह्ययेन्द्रियो एव आत्मा के मध्य निर्धारित किया गया है मन को इन्द्रियो से उच्च स्तर पर रखा गया हैं, परन्तु वैशेषिक–दर्शन मे मन की स्थिति सर्वथा बाह्येन्द्रियो के तुल्य ही प्रतीत होती है। क्योंकि इसे केवल एक साधन या मध्यस्थ इन्द्रिय माना गया है। मन चैतन्य या ज्ञान का अधिकरण नहीं, अपितु माध्यम मात्र है। अत वैशेषिक मन परिकल्पना मे ज्ञान–प्रक्रिया को कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ। वह क्षेत्र मन से परे 'आत्मा' का माना गया है।

---

१. उभयात्मकमत्र मन: संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च।।

-- सां० का०, २२, पृ० २४

इस प्रकार हम कह सकते है कि साख्य एव वैशेषिक सिद्धान्त मे यह मुख्य अन्तर है कि सांख्य दर्शन मन को एक महत्वपूर्ण, उभ्यात्मक, एकादश इन्द्रिय स्वीकार किया है; जबकि वैशेषिक-दर्शन मे केवल एक मध्यगत इन्द्रिय माना गया है। यद्यपि वैशेषिक-दर्शन मे मन ही प्रत्यक्ष का करण है। अन्य सभी स्थितियो के होने के बावजूद भी मन के अभाव मे प्रत्यक्ष नही होता। यह उल्लेखनीय है कि मन एक स्वतन्त्र द्रष्टा के रूप मे कार्य नही कर सकता, अपितु वास्तविक द्रष्टा आत्मा ही माना गया है। मन केवल उसका सहायक है।

मन के स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि दृष्टि

प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन मे मन को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। रघुनाथ शिरोमणि मन के अतिरिक्त द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए कहा है —— 'मनोऽपि चासमवेतं भूतम्', [१] अर्थात् मन का अन्तर्भाव पृथ्वी, जल, तेज एव वायु रूपी चार भूतद्रव्यों में ही हो जाता है। टीकाकार रघुदेव का कथन है कि प्राचीन मत मे जो असमवेत भूत परमाणु रूप है, वह नव्य नैयायिको के अनुसार त्रुटि स्वरूप है, और यही मन पद का वाच्यार्थ है। तात्पर्य यह है कि रघुनाथ शिरोमणि मत में अतिरिक्त मन की कल्पना करने से गौरव है। [२]

इस प्रकार रघुनाथ के मत में त्र्यणुक परिमाण जो पूर्व उक्त भूतवर्ग है, वही मन है। पृथिव्यादि के अतिरिक्त मन प्रमाणसिद्ध नहीं है। मन को असमवेत पार्थिव आदि परमाणु अर्थात् त्रुटि स्वरूप असमवेत भूत द्रव्य विशेष में स्वीकार करने से जब मानसिक कार्य समुदाय उत्पन्न हो सकता है, तब अतिरिक्त मन की कल्पना करने पर अनुचित गौरव स्वीकार करना होगा। भूत मात्र को मन न कह करके असमवेत भूत द्रव्य को रघुनाथ शिरोमणि ने मन कहा है।

---

१. प० त० नि०, पृ० ४

२. प० ख० व्या०, पृ० १०

पूर्वपक्ष की शंका है कि मन के अतिरिक्त तत्त्व स्वीकार न करने पर घट आदि के चक्षु संयोग, त्वक् संयोग आदि के होने पर एक साथ ज्ञान के यौगपद्य की आपत्ति होगी। नव्य नैयायिकों के मत मे मन के त्रसरेणु रूप होने से अर्थात् उसके महत् परिणाम वाला होने से मन का नानात्व भी स्वीकार करना होगा। तब एक ही क्षण में नाना ज्ञान का उत्पादक विभिन्न इन्द्रिय सहित विभिन्न मन संयोग रूप कारण के फलस्वरूप ज्ञान का यौगपद्य स्वीकार करना आवश्यक हो जायेगा। प्रत्यक्ष में चक्षु, इन्द्रिय एवं मन के संयोग होने पर भी ज्ञान की अयुगमत् उत्पत्ति मे जिस हेतु को प्राचीन नैयायिकों ने स्वीकार किया है, उसी हेतु द्वारा रघुनाथ शिरोमणि उक्त शंका का समाधान करते हुए कहते हैं ––

''अदृष्टविशेषोपग्रहस्य नियामकत्वाच्च नातिप्रसङ्ग इत्यावयोः समानम्।'' [१]

अर्थात् 'एक काल मे एक ही आत्मा रूप अधिकरण में एकाधिक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकते' ––– इस सिद्धान्त को अखण्डित रखने के लिए जिस प्रकार प्राचीन न्याय–वैशेषिक दार्शनिक 'अदृष्ट' विशेष रूपी सहकारी कारण को नियामक के रूप में स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि भी उस सन्दर्भ में 'अदृष्ट' विशेष के सहकारी कारण की नियामकता मानते है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीन न्याय–वैशेषिक में मन को अन्तरिन्द्रिय माना गया है, जो आत्मा के गुणों का प्रत्यक्ष करवाने के साथ ही साथ अन्य बहिरिन्द्रियों के विषयों का ज्ञान भी करवाती है। इस प्रकार ज्ञानो की युगपत् प्रतीति के लिए मन को 'अणु' रूप में स्वीकार किया गया है। अणु के निरवयव होने पर इसे 'असमवेत' भी कहा गया है। रघुनाथ शिरोमणि परमाणु का खण्डन करके 'त्रसरेणु' रूप में ही मन को असमवेत मानते हैं तथा अदृष्ट के नियामक धर्म को स्वीकार करके ज्ञान की युगपत प्रतीति का खण्डन प्राचीन न्याय सम्मत ही करते हैं।

---

१. प० त० नि०, पृ० ४

सर्वप्रथम उद्योतकर ने मन के भौतिकत्व का खण्डन किया है। भौतिकत्व कार्य का धर्म है, मन किसी कार्य का धर्म नहीं है। अतः इसमें भौतिकत्व नहीं। इस प्रकार उन्होंने अन्य बहिरिन्द्रियो से भिन्न मन को पृथक् इन्द्रिय सिद्ध किया है। इसके विपरीत रघुनाथ शिरोमणि मन को भौतिक मानते हैं। वस्तुतः वे पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूत द्रव्यों को ही स्वीकार करते हैं। अतः मन के अणुत्व का तथा अतिरिक्त द्रव्यत्व का निराकरण करके इन्हीं भूत द्रव्यों में ही मन को अन्तर्भुत मान लेते हैं। टीकाकारों का कथन है कि तार्किक शिरोमणि ने श्रुति प्रतिपादित मन के परम सूक्ष्मत्म सिद्धान्त की रक्षा के लिए ही मन को 'असमवेत' माना है।

(v) परमाणु एवं द्व्यणुक के अस्तित्त्व का खण्डन

वैशेषिक सम्मत परमाणुवाद

परमाणुवाद वैशेषिक-दर्शन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। पृथ्वी,जल, तेज और वायु इन चारों भूत द्रव्यों का मूल उपादान अन्तिम अविभाज्य, अतीन्द्रिय, अविनाश्य व अवयवरहित तत्त्व 'परमाणु' है। यद्यपि अन्यान्य भारतीय दर्शनों में भी परमाणुवाद का किसी न किसी रूप में उल्लेख हुआ है; परन्तु 'परमाणुवाद' के सिद्धान्त की सर्वप्रथम सुव्यवस्थित व्याख्या वैशेषिक-दर्शन में हुई है। 'परमाणु' पद दो शब्दो के योग से बना है — परम और अणु। इन शब्दों का अर्थ है, नितान्त छोटा। अर्थात् जिनके अवयव संभव नहीं, ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म, निरवयव, नित्य तत्त्व परमाणु है।

सत्पदार्थीकार शिवादित्य ने निरवयव, क्रियावान् तत्त्व को परमाणु कहा है।[१] मानमनोहरकार वादिवागीश्वर के शब्दों में कार्यद्रव्य से अजन्य मूर्त तत्त्व अणु है;

---

१. निरवयवः क्रियावान् परमाणुः।

-- स०प, पृ० ८८

अथवा निम्य मूर्तद्रव्य परमाणु है।[१] न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की टीका 'प्रभा' के टीकाकर नृसिहदेव का विचार है कि परमाणु वह परम्सूक्ष्म आदि अवयव है, जो स्वयं निरवयव, अतीन्द्रिय व नित्य है।[२] परमाणु की व्याख्या दृश्यमान द्रव्य के रूप में इस प्रकार की गयी है कि खिड़की की जाली से से छनकर आती हुई धूप मे जो सूक्ष्म रजकण दिखाई देते हैं, वे ही जागतिक तत्त्वों के सूक्ष्मतम दृश्यतत्त्व हैं, उनका छठा-भाग परमाणु कहलाता है।[३]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ ने परमाणु एवं उसके निरवयवत्व की सिद्धि करते हुए कहा है कि जिस प्रकार महत् परिमाण के अधिकतर और अधिकतम होने की पराकाष्ठा आकाश में समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार अणु परिमाण के न्यूनतर-न्यूनतम भाव की कहीं तो समाप्ति होती ही है। अर्थात् जिसके परिमाण से छोटा और कोई परिमाण न हो सके, वहीं उस परमाणु की सिद्धि हो जाती है।[४]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के प्रथम आग्ल टीकाकार डॉ० रोअर ने परमाणु सिद्धि के लिए उक्ति दी है- "To say that the point where the end is obtained is not eternal would be to admit the production of an effect from a thing which is not in the connection of intimate relation. Therefore, this point is eternal. As the continual progress from one great thing to

---

१. कार्यद्रव्याजन्यं मूर्त्तमणु : नित्यो मूर्त्तः परमाणुः

-- मा० मनो०, पृ० १४

२. परमाणुः परमसूक्ष्म आदिरवयवः स्वय निरवयव अतीन्द्रियो नित्य इति।

-- प्रभा (न्या० सि० मु० की टीका), पृ० ८९

३. 'जालसूर्यरीचिस्थं यत्सूक्ष्यं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते।।'

-- वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपणः शशि प्रभा कुमार, पृ० ६१२

४. न्या० सि० मु०, पृ० ११४-११५

another still greater finds its end in the assumption of the sky and other infinite substances, so there must also be ultimately a cessation of the progress from small to a smaller thing. Thus, the necessity of atoms in proved. " [१]

अन्नम्भट्ट ने परमाणु-सिद्धि हेतु युक्ति बतलायी है कि जाली मे से छनकर आती हुई सूर्य की किरणों मे से जो धूल के कण दिखाई देते है, वे चाक्षुष होने से पट की भाँति सावयव हैं। उन त्र्यणुकों के अवयव (द्व्यणुक) भी पहत्परिमाण के आरम्भक होने से तन्तु की भाँति सावयव ही हैं। अत: जो द्व्यणुक का अवयव है, वही परमाणु है और वह नित्य है। [२]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु परिमण्डालाकार या गोलाकार (spherical) हैं। वे देश रहित हैं तथा उनके अन्दर और बाहर कुछ भी नहीं है। परमाणुओ में परिमाणात्मक और गुणात्मक भेद स्वीकार किया गया है। यह विशेषता अन्य समकालीन एवं पूर्वकालीन परमाणुवादी विचारधाराओं से न्याय वैशेषिक दर्शन को अलग करती है। ग्रीक परमाणुवादी दार्शनिक ल्यूसिपस और डिमॉक्रिटस परमाणुओं में केवल परिमाणात्मक भेद मानते हैं, गुणात्मक नहीं। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु चार प्रकार के परमाणु होते हैं तथा उनमें परिमाण के साथ-साथ गुण की दृष्टि से भी न्यूनाधिक भेद होता है। वायु के परमाणु सर्वाधिक सूक्ष्म होते हैं और उनमें केवल 'स्पर्श' गुण पाया जाता है। [३] इसके अतिरिक्त अग्नि [४] मे 'स्पर्श' और 'रूप' गुण; जल में 'स्पर्श' 'रूप' और 'रस' तथा पृथिवी [५] में 'स्पर्श', 'रूप', 'रस' तथा 'गन्ध' गुण पाये जाते हैं। परमाणुओं के ये गुण भी द्रव्य के समान नित्य है। वस्तुओं में

---

१ Roer's Trans of Biblotheca Philosophy, Biblotheca India, p. 16

२. तर्क दीपिका, पृ० १०

३. किरणा०, पृ० १८१

४. न्या० कु०, पृ० २३७

५ तर्क संग्रह, प्र० पा० भा०, पृ० ७१

पाये जाने वाले गुणो के कारण, परमाणु ही हैं। इसके अतिरिक्त इन परमाणुओ मे गौण गुण (secondary qualities) भी पाये जाते हैं, किन्तु ये गौण गुण अनित्य होते हैं।

न्याय-वैशेषिक दार्शनिक सृष्टि एवं प्रलय के एक क्रम में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक सृष्टि के पूर्व प्रलय की अवस्था होती है और प्रलय के पूर्व सृष्टि की अवस्था। सृष्टि एवं प्रलय का यह क्रम चलता रहता है। सृष्टि की उत्पत्ति का कारण परमाणुओं का परस्पर संयोग ही है। उत्पत्ति प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम एक ही द्रव्य के दो परमाणु संयुक्त होकर द्व्यणुक बनाते हैं। द्व्यणुक का परिमाण परमाणु के समान ही अणु होता है। तीन द्व्यणुक संयुक्त होकर 'त्र्यणुक' या 'त्र्यसरेणु' बनाते हैं। त्र्यणुक का परिमाण महत् दीर्घ एवं दृश्य होता है। चार त्र्यणुक मिलकर एक 'चतुर्णक' बनाते हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक पृथिवी, जल, तेज एवं वायु के स्थूल पदार्थों का आविर्भाव नहीं हो जाता है।

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार इस भौतिक जगत् के मूल उपादान कारण के रूप में स्वीकार किये गये परमाणु की कुछ विशेषताएँ अधोलिखित हैं —

(क) परमाणु नित्य एवं अविभाज्य हैं।

(ख) परमाणु इस भौतिक जगत् के अन्तिम उपादान कारण हैं।

(ग) परमाणु सामूहिक रूप से एवं व्यष्टिगत रूप से अप्रत्यक्ष ही माने गये हैं।

(घ) परमाणुओं में अन्त्यविशेष पदार्थ समवेत रहता है, जिसके कारण एक परमाणु दूसरे से व्यावृत्त हो पाता है।

(च) परमाणुओं की भाँति उनमें रहने वाले गुण भी नित्य ही होते हैं, केवल पृथिवी-द्रव्य के परमाणुओं में रूपादि (Secondary quality) ही अनित्य होते हैं।

(छ) परमाणु स्वत: किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकता, क्योंकि उसका नित्यत्व प्रतिहत होगा।

(ज) परमाणु अतीन्द्रिय हैं, उनका किसी भी बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष संभव नहीं।

(झ) योगिजनों को परमाणु का प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य जन हेतु परमाणु अप्रत्यक्ष ही है।

(ट) स्थूल रूप से वैशेषिक–दर्शन मे परमाणु चार प्रकार के माने गये है —— पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों मे अनुभूयमान गुण (गन्ध) उनके परमाणुओं में भी स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि कारण के ही गुण कार्य में पाये जाते हैं।

(ठ) परमाणु अविच्छेद्य अर्थात् अविनाश्य है। इसलिए भूत द्रव्यो के प्रकरण में कहा गया है कि वे द्रव्य कार्य रूप में तो अनित्य हैं, किन्तु परमाणु रूप में नित्य।

दो परमाणुओ के संयोग से उत्पन्न होने वाले 'द्व्यणुक' का परिमाण वैशेषिक–दर्शन में अणु ही माना गया है, महत् नहीं। परमाणु को अनारम्भक एवं अकारणवान ही स्वीकार किया गया है।[१] अर्थात् परमाणु–परिमाण अपने कार्यों के परिमाण का जनक (हेतु) नहीं होता। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि यदि परमाणुओं के परिमाण से उनके कार्यों में परिमाण की उत्पत्ति मानी जायेगी तो कार्यगत अणुत्व कारणगत अणुत्व से प्रकृष्ट होना चाहिए, क्योंकि परिमाण अपने से उत्कृष्ट परिमाण का ही जनक होता है। उदहारण के लिए, दो स्थूल भूतों के महपरिमाण से जन्य कार्य का महत्त्व उन दोनों भूतों की अपेक्षा अधिक ही होता है। इसलिए वैशेषिक दर्शन के अनुसार

---

१. (क) 'परमाणुपरिमाणस्य चारम्भकत्वप्रतिषेधे'

-- व्योम, पृ० ४७९

(ख) 'परिमण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्'

-- भा० परि०, कारिका १५, पृ० ७८

अणुत्व न तो महत्त्व का जनक है और न ही उससे जन्य है, क्योंकि दोनो परिमाण सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।[१]

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त भारतीय-दर्शन के अन्य सम्प्रदायों मे भी परमाणुवाद का उल्लेख मिलता है, जिसका विवेचन करना यहाँ पर प्रासंगिक होगा —

बौद्ध-दर्शन में परमाणुओ का अस्तित्त्व स्वीकार किया गया है। तथा 'मूर्त्तत्वे सति निरवयवत्वम् परमाणुत्वम्' यह परमाणु लक्षण दिया गया है। उक्त लक्षण न्याय-वैशेषिक द्वारा मान्य परमाणु-लक्षण के प्रतिकूल नहीं है, किन्तु बौद्ध दार्शनिको ने परमाणु को नित्य नहीं माना, उत्पत्तिविनाशशील होने से क्षणभंगुर कहा है।[२] यह मत सर्वथा वैशेषिक के विरुद्ध है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है।

जैन-दर्शन परमाणुओं को इस विश्व का अन्तिम उपादान स्वीकार किया है। जैन परमाणुवाद का सम्पूर्ण विकसित सिद्धान्त 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में उपलब्ध है। तद्नुसार परमाणु एक जातीय ही है, किन्तु पृथिवी, जल, तेज व वायु द्रव्यों के रूप में वे पृथक् हो जाते हैं। उनमें वे ही गुण रहते हैं, जो परिवर्तनीय होते हैं।[३] उल्लेखनीय है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार नित्य परमाणुओ मे पाये जाने वाले गुण भी नित्य ही

---

१ परिमाणस्य विजातीयात्म प्रतियोगिप्रकर्षजननविरोधात् अन्यथा महतामपि क्वचिदणुपरिमाणारम्भकतापत्तेः। हृस्वत्वस्य चामहद्वृत्तित्त्वेन महत्त्वानारम्भकत्वात् अणुत्ववत्, अन्यथाऽत्रापि तत्त्वतापत्तेः।

— न्या० ली०, पृ० ८४३

२ 'मूर्तत्वे सति निरवयवत्वम् परमाणुत्वम्'-इत्यत्र तु न परमाणुवादिनां विवादः, ऋते बौद्ध सिद्धान्तात्। तेषां मते उत्पत्तिविनाशवन्त· क्षणभङ्गराश्च परमाणवः।

-- प्रभा (न्या० सि० मु० की टीका), पृ० ८९

३. धातुचतुष्कस्य कारणं यस्तु स ज्ञेय परमाणु : परिणामगुणः।

-- पचास्तिकाय, पृ० १३२

होते है, जबकि जैन दर्शन गुण को परिवर्तनशील मानता है। दोनो दर्शनो में प्रमुख अन्तर यह है कि जैन परमाणुवाद निरीश्वरवादी है। वहाँ पर परमाणुओ की नित्यता के लिए किसी चेतन कर्ता को नहीं माना गया है; जबकि वैशेषिक-दर्शन परमाणुओ मे प्रथम क्रिया का उत्पादक ईश्वर को स्वीकार किया है।

योग-दर्शन में परमाणु स्थूल-भूत के विभाजन पर प्राप्त होने वाले सूक्ष्मतम कण माने गये हैं। किन्तु वे अन्तिम व अविभाज्य नहीं है; अपितु अपरमाणवीय सूक्ष्मतर, तन्मात्राओ के संयोग से निर्मित भौतिक तत्त्व कहं गये हैं। योगभाष्यकार व्यास के अनुसार वस्तुओं का संघात युतसिद्ध होता है, जबकि परमाणुाओं का संघात 'अयुतसिद्धसंबंध' से सम्बन्धित हैं। [१]

मीमांसा-दर्शन में परमाणुवाद यद्यपि स्वीकार किया गया है, किन्तु प्राचीन मीमासा ग्रन्थों में परमाणुवाद का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता है। कुमारिल भट्ट ने 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ में एक स्थल पर परमाणु की चर्चा की है। पर यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि कुमारिल परमाणु को अन्तिम तत्त्व मानते है या त्र्यणुक को। पार्थसारथि मिश्र ने तो परमाणु को अन्तिम इकाई के रूप मे स्वीकार किया है। किन्तु मानमेयोदयकार नारायण भट्ट ने वैशेषिक परमाणुवाद का खण्डन करके त्र्यणुक को ही अन्तिम तत्त्व के रूप में सिद्ध किया है। [२]

अद्वैत-वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को ही इस जगत का एक मात्र मूलतत्त्व एव उपादान माना गया है तथा परमाणुरूप जडतत्त्व को जगत् का मूल स्वीकार करने के कारण वैशेषिक-दर्शन की कटु आलोचना की है। शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में परमाणुकारणवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप लगाये हैं [३] —

---

१. युतसिद्धावयत: समूहो वनं संघ इति। अयुतसिद्धावयव: संघात: शरीरं वृक्ष: परमाणुरीति।
— यो० भा०, पृ० ३६५

२. मा० मेयो०, पृ० १६६-१६७

३. ब्र० सू० भा०, २/२/१५, १६, १७

१- शकराचार्य के अनुसार प्रलयकाल में परमाणुओ में गति का आरम्भ विचार मे नहीं आ सकता। परमाणु या तो सक्रिय हैं या निष्क्रिय या उभयरूप (सक्रिय और निष्क्रिय) हैं या अनुभयरूप (न सक्रिय-न निष्क्रिय) हैं। यदि परमाणुओ को सक्रिय स्वीकार किया जाय तो सृष्टि शाश्वत हो जायेगी। यदि उन्हें निष्क्रिय रूप में स्वीकार किया जाय, तो सृष्टि हो ही नहीं सकती। परमाणुओ का सक्रिय एव निष्क्रिय दोनों स्वीकार करना आत्मव्याघातक (Self-contradictory) है। यदि उन्हें दोनों से रिक्त स्वभाव वाला माना जाय, तो गतिशील एवं निष्क्रिय बनाने वाला तत्त्व उनके बाहर होगा।

२- वैशेषिक-दर्शन मे अणुओ को नित्य स्वीकार करने के साथ-साथ उसमे रूपादि गुण भी स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु ऐसा संभव नहीं, क्योकि यह देखा जाता है कि जो गुण युक्त होता है, वह स्थूल होता है तथा जो स्थूल होता हैं, वह नाशवान होता है। इस प्रकार अणुओं में रूपादि गुणों की कल्पना उनके नित्यत्व के विरुद्ध है।

३- शंकराचार्य के अनुसार परमाणुओं मे गुणात्मक भेद की अवधारणा दोषजन्य है; क्योंकि इससे परमाणुओं की नित्यता प्रभावित होती है। वैशेषिक-दर्शन पृथिवी के परमाणुओं में चार गुण (रूप, रस, स्पर्श और गन्ध) जल के परमाणुओं मे तीन गुण (रूप, स्पर्श एवं रस), अग्नि के परमाणुओं में दो गुण (स्पर्श एवं रूप), तथा वायु के परमाणुओं में एक गुण (स्पर्श) मानता है। परमाणुओ में न्यूनाधिक भेद स्वीकार करने पर अधिक गुण वाले परमाणु स्थूल होगे और उनमें अपरमाणुत्व का प्रसंग उपस्थित होगा।

४- परमाणुवाद की पृष्ठभूमि में निहित असत्कार्यवादी कारणता का सिद्धान्त इसे असगत बना देता है। यह समझाना कठिन है कि परमाणुओं के मिश्रण दैशिक गुणों को कहाँ से प्राप्त करते हैं; क्योंकि परमाणुओं मे इसका अभाव है। वैशेषिक-दर्शन में अणु परिमण्डलाकार है। उनमें निर्मित द्वयणुक परमाणु में अणु होते हैं तथा द्वयणुक से निर्मित त्र्यणुक परिमाण में महत् होते हैं। किन्तु यह समझ पाना

अत्यन्त कठिन है कि परिमण्डलाकार अणु अपरिमण्डलाकार सृष्टि को कैसे उत्पन्न करते है? इस तथ्य की व्याख्या करना बुद्धि से परे है कि परमाणुओ के सयोग से उत्पन्न वस्तुओं में वे गुण कहाॅ से आये, जो उनमे पहले से नहीं थे।

परमाणु 'त्रयणुक' रूप में : रघुनाथ शिरोमणि

द्रव्य सम्बन्धी परिमाण भेदों, जैसे पर्वत एवं तिल, पट और तन्तु आदि की व्याख्या करने के लिए प्राचीन न्याय-वैशेषिक परम्परा मे अवयव अवयवी धारा के अन्तिम बिन्दु के रूप में सूक्ष्मतम चक्षुर्ग्राह्य द्रव्य त्रसरेणु को स्वीकार न करके नेत्र अग्राह्य द्व्यणुक एवं सूक्ष्मतम परमाणु को स्वीकार किया है। रघुनाथ शिरोमणि का कथन है कि परिमाण भेद को समझाने के लिए वस्तुत: त्रसरेणु से छोटे किसी अन्य द्रव्य को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। साथ ही परमाणु एवं द्व्यणुक की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण भी नहीं है। अवयव अवयवी श्रृंखला का विराम त्रसरेणु पर ही किया जा सकता है। [१]

न्याय-वैशेषिक दर्शन मे अन्तिम अवयव को नित्य माना गया है, परन्तु अन्त्यवयवी अनित्य है। नित्य अवयव एवं अनित्य अवयवी के औचित्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है — 'जहाॅ पर इस अवयव धारा की समाप्ति होती है, यदि उसे अनित्य माना जाय तो असमवेत 'भाव' कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी और उस पदार्थ की अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से न रहने के कारण नित्यता होगी।' [२] इस प्रकार न्याय-वैशेषिक के कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार कारण अवयव के गुण आदि ही कार्य में प्रस्फुटित होते हैं और कार्य मे कारण अवयव भी समवायि-कारणता के होने से ही संभव है। इस अवयवधारा की विश्रान्ति एवं

---

१. 'परमाणुद्व्यणुकयोश्च मानाभाव:, त्रुटावेव विश्रामात्।'

— प० त० नि०, पृ० ५

२. .... यत्र तु विश्रामस्तस्याऽनित्वेऽसमेतभावकार्योत्पत्ति प्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम्।'

— न्या० सि० मु०

कार्यकारणभाव के लिए इस अन्त्यवयव परमाणु का नित्य होना अनिवार्य है, जिससे प्रत्यक्ष गोचर त्रसरेणु की सावयवता को सिद्ध किया जा सके।

आचार्य वात्स्यायन का कथन है कि — यदि अवयव विभाग की कोई सीमा न माने तो अवयव परम्परा में द्रव्यों के असंख्य होने से त्रसरेणु का त्रसरेणु यह नाम ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योकि उसमें भी अत्यन्त विभागों की कल्पना करनी होगी।[१] इसलिए त्रसरेणु के सावयवत्व को सिद्ध करने के लिए न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने निम्नलिखित अनुमान प्रयोग किया है —

त्रसरेणुः सावयवः
चाक्षुषद्रव्यत्वात्
घटवत्[२]

ध्यातव्य है कि उक्त अनुमान को प्राचीन न्याय-वैशेषिको की ओर से रघुनाथ शिरोमणि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

त्रसरेणु सावयव है।
क्योंकि वह चाक्षुष द्रव्य है तथा चाक्षुष द्रव्य सावयव होते हैं।
उदाहरण, घट-पट आदि।[३]

इस प्रकार परमाणु और द्व्यणुक त्रुटि में (त्रसरेणु) समवेत हैं और समवेत एवं समवेतत्व में प्रमाण का अभाव है। अर्थात् त्रसरेणु (त्रुटि) में समवेत परमाणु और द्व्यणुक प्रमाण सिद्ध नहीं हैं।

---

१ 'अवयवविभागस्यानवस्थानाद् द्रव्याणामसंख्येयत्वात् त्रुटित्वनिवृत्तिरिति।'
— न्या० भा०, ४/२/१७

२. न्या० सि० मु०, पृ० ४८

३. त्रुटि समवेता चाक्षुषद्रव्यत्वात्, घटवत्।
— प० त० नि०, पृ० ५

टीकाकार विश्वनाथ का कथन है कि यह शंका नहीं करनी चाहिए कि परमाणु एव द्व्यणुक को न स्वीकार करने पर अवयव परम्परा की सिद्धि नहीं होगी। यहाँ त्र्यणुक, चतुर्णक आदि क्रम में अवयव धारा की सिद्धि का प्रसग होने में प्रमाण का अभाव है। अतएव रघुनाथ ने परमाणु एवं द्व्यणुक की कल्पना न करके 'त्रसरेणु' को ही नित्य एवं निरवयव माना है। इसी अभिप्राय से पदार्थतत्त्वनिरूपण में रघुनाणि शिरोमणि ने कहा है —

'परमाणुद्व्यणुकयोश्च मानाभावः, त्रुटावेव विश्रामात्।' [१]

अर्थात् प्राचीन न्याय-वैशेषिक जिसे त्रसरेणु कहते हैं और उसके बाद भी द्व्यणुक तथा परमाणु को मानते हैं, रघुनाथ के मत से इस अवयव धारा का विराम 'त्रसरेणु' पर ही किया जा सकता है, क्योंकि द्व्यगुक और परमाणु की सिद्धि संभव नहीं है। त्रसरेणु ही निरवयव द्रव्य है।

रघुनाथ शिरोमणि त्रसरेणु को निरवयव मानते हैं। निरवयव होने से उसमें महत् परिमाण भी नहीं हो सकेगा, जबकि प्राचीन नैयायिक त्रसरेणु मे महत् परिमाण मानते हैं, क्योंकि महत् परिमाण के न होने से ही परमाणु एवं द्व्यणुक अतीन्द्रिय होते हैं। दिनकरी टीका में रघुनाथ शिरोमणि के मत को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह शंका नहीं करनी चाहिए कि चाक्षुष के प्रति महत्त्व (परिमाण) कारण है। अतः त्रुटि मे महत्त्व का होना आवश्यक है। 'त्रुटि' का महत्त्व अवयवों की संख्या से जन्य है और वह अवयवो के बिना उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार अनुकूल तर्क के होने से अप्रयोजकत्व दोष नहीं हैं यही द्व्यणुक साधक अनुमान का तात्पर्य है। त्रसरेणु महत्त्व के नित्यत्व को स्वीकार करने से उक्त तर्क का कोई औचित्य नहीं है। [२]

---

१. प० त० नि०, पृ० ५

२. 'न च चाक्षुषं प्रति महत्त्वं कारणं, तथा च त्रुटौ महत्त्वमावश्यकं, तच्चऽवयवसंख्याजन्यमित्यवयवं विना जन्नोत्पद्यत इत्यनुकूलतर्कसत्वान्नाऽ प्रयोजकत्वं द्व्यणुकसाधकानुमानस्येति वाच्यम्। त्रसरेणुमहत्त्वस्य नित्यत्वस्वीकारेणोक्ततर्कानवतारात्।'

— दिनकरी, पृ० १५५

निष्कर्षत: वैशेषिक–दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त परमाणुवाद है। परमाणुवाद की पृष्ठभूमि में कार्य–कारण का सिद्धान्त है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु —— ये चार परमाणु जन्य द्रव्य हैं, इनके कारणतत्त्व नित्य परमाणु कहे जाते हैं। अत: पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय ये चार प्रकार के परमाणु जन्य 'भूत' कहे गये हैं। प्रलय के समय समस्त कार्य द्रव्य के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी इनमें कारण परमाणु निरवयव तथा सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। सृष्टि प्रक्रिया में ये परमाणु जगत् के उपादान तत्त्व बनते हैं। असमवेत परमाणु विविध प्रकार के होने के कारण इनके व्यावर्तक धर्म के लिए वैशेषिक आर्चार्यों ने 'विशेष' नामक एक पृथक पदार्थ की कल्पना की। परमाणु के क्रमश: संयोग से ही द्व्यणुक, त्रसरेणु, चतुर्णकादि उत्पन्न होकर घट, पट आदि अवयवी रूप में प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं।

रघुनाथ शिरोमणि परमाणु के स्थान पर 'त्रसरेणु' को ही अन्तिम अवयव मानते हैं। रघुनाथ का मत है कि जिस प्रकार त्रसरेणु चाक्षुष द्रव्य होने से घट की भाँति अपने कारण द्व्यणुक में समवेत होता है और वह द्व्यणुक भी चाक्षुष द्रव्य–समवायि होने से कहीं समवेत होना चाहिए —— ऐसा प्रीचीन मत अप्रयोजन है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो उस द्व्यणुक के समवायि परमाणु का भी कोई समवायि कारण मानना पड़ेगा और फिर अनवस्था दोष का प्रसंग होगा। अत: प्रत्यक्षगोचर त्रसरेणु को ही अन्त्यवयव मानना तर्कसंगत है।

वैशेषिक आचार्यों ने त्रसरेणु के छठे भाग के रूप मे परमाणु के परिमाण को परिभाषित करते हुए 'अणु' तथा 'महत्' परिमाण के प्रयोजन को स्पष्ट किया है। प्रत्यक्ष का विषय महत् परिमाणवान अवयव है तथा अणु परिमाण वाले तत्त्वों को अतीन्द्रिय माना गया है। रघुनाथ शिरोमणि का मत है कि परिमाणवाची शब्द अणु एवं महत् तुलनात्मक हैं। प्रत्यक्ष गोचर वस्तुओं में भी अपकृष्ट परिमाणवाली वस्तुओं के लिए 'महत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'त्रसरेणु' चतुर्णक से अपकृष्ट होने से 'अणु' परिमाण वाला कहलाता है। अत: रघुनाथ के मत में त्रसरेणु ही वैशेषिक सम्मत परमाणु रूप है, और यही सृष्टि का उपादान तत्त्व है।

(vi) ईश्वर

पूर्वपक्ष : न्याय वैशेषिक सम्मत ईश्वरवाद

मनीषियों ने जिसकी उपासना को स्वर्ग एवं नरक का मार्ग मानते हैं, उसी परमात्मा का निरूपण अभिप्रेत है।[१] यद्यपि प्रारम्भिक न्याय-वैशेषिक दर्शन के द्रव्य निर्देशपरक ग्रन्थस्थलों में परमात्मा या ईश्वर का नाम उपलब्ध नहीं होता, किन्तु प्रशस्तपाद एवं उनके व्याख्याकारों के अनन्तर सभी परवर्ती ग्रन्थों में 'आत्मा' नामक द्रव्य के निरूपण अवसर पर ही परमात्मा का भी वर्णन मिलता है। उदयनाचार्य के बाद तो ईश्वरवाद न्याय-वैशेषिक का एक सर्वमान्य सिद्धान्त ही हो गया, किन्तु कुछ दार्शनिकों का विचार है कि कणाद एवं प्रशस्तपाद द्वारा द्रव्य रूप में नामत: निर्दिष्ट न होने पर भी 'परमात्मा' की स्वीकृति रही होगी। आस्तिक अथवा वेदानुयायी दर्शन होने से वैदिक साहित्य एवं उपनिषदों में उपलब्ध ईश्वर-स्वरूप न्याय दर्शन के 'ईश्वरवाद' का मूल स्त्रोत है।

ईश्वर के दार्शनिक स्वरूप का विकास तो वैदिक सहिताओं में ही दृष्टिगत हो जाता है, यद्यपि वैदिककाल मे जड़ तथा चेतन के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा उपलब्ध नहीं होती। 'ब्रह्मन्' एवं 'आत्मन्' पद का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है तथा धीरे-धीरे दोनों पद समानार्थी होकर जगत् के सारतत्त्व के सूचक रूप बन गये। किन्तु वैदिक संहिताओं के अन्त तक पहुचँते-पहुचॅते 'सर्वेश्वरवाद' के दर्शन होते हैं। वैदिक काल के परिप्रेक्ष्य में आलोचाकों की चाहे जो धारणा रही हो, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन भारतीयों का तात्त्विक विन्यास बड़ा ही प्रबल था। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि जगत् की प्रत्येक घटना सोद्देश्य होती हैं; यही मान्यता परवर्ती चिन्तन का आदर्श आधार बनी। डॉ० बलदेव उपाध्याय का

---

१. 'स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिण:।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरुप्यते।।'

— न्या० कु० स्तवक १, कारिका १, पृ० ९

कथन है — "सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्शिाली नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियो का प्रतिनिधि बतलाता है। अत: वैदिक धर्म अद्वैत-तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नाना के बीच मे एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना, दार्शनिक जगत् मे एकदम मौलिक तत्त्व है और इन निगूढ़तम तत्त्व के अनुसंधान का समस्त गौरव हमारे वैदिक कालीन आर्ष-चक्षु-सम्पन्न महर्षियों को ही है।" [१]

उपनिषदों में सर्वत्र जड़ एवं चेतन के मध्य स्पष्ट एवं सुनिश्चित अन्तर प्रतिपादित किया गया है तथा वैयक्तिक एवं परम् आत्मा के बीच भेद की स्पष्ट कल्पना यहाँ प्राप्त होती है। ब्रह्म के स्वरूप के विषय मे अनेक काल्पनिक एवं परस्पर विरोधी वर्णन उपनिषदों में भरे पड़े हैं, जैसे — वह सर्वव्यापक आकाश है, सूर्य में स्थित पुरुष है, नेत्र में पुरुष है, उसका सिर स्वर्ग है, उसके नेत्र सूर्य व चन्द्र हैं, उसकी श्वास वायु है, उसकी चरणपीठिका पृथिवी है, वह सबसे बड़ा है और सबसे छोटा है आदि-आदि। विशेषत: वह ईश्वर है, जो मनुष्यो के कर्मानुसार उन्हें फल देने का अधिकारी है। [२]

वैदिक विचारो की भाँति ही औपनिषदिक चिन्तन मे भी ईश्वर को जगत् की भौतिक एवं नैतिक — दोनों की व्यवस्थाओं का नियामक माना गया है। वह जगत् का स्रष्टा है, ज्ञान बल एवं क्रिया उसके तीन रूप हैं, वह कर्माध्यक्ष है, सर्वभूताधिवासी है एवं सभी जागतिक क्रियाओं का साक्षी है। यहाँ यह ध्यातत्व है कि ईश्वर उपनिषद्कारों का मुख्य विषय नहीं था, अत: श्वेताश्वतरोपनिषद् के अतिरिक्त अन्य उपनिषदो में इस सम्बन्ध में चर्चा नहीं हुई, केवल 'ब्रह्म' पर विचार किया गया है। [३]

श्रीमद्भगवद्गीता में उपनिषदों का निर्विशेष ब्रह्म महाभारत के भागवत धर्म का वैयक्तिक ईश्वर 'कृष्ण' बन गया तथा उसकी प्राप्ति का साधन भक्तियोग को

---

१. भारतीय धर्म एवं दर्शन: डॉ० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४७

२. Paul Deussen Outlines of Indian Philosophy, P. 49.

३. Dr Balbir Singh · The Conceptual Framework of Indian Philosophy, p. 62

बताया गया है। गीता में ईश्वर को 'धर्म-गोप्ता' कहा गया और कर्मफल का अधिष्ठाता स्वीकार किया गया।[१] इस प्रकार वैदिक काल के बहुदेववाद का पर्यवसान उपनिषदो एवं गीता के 'एकेश्वरवाद' मे हुआ।

धार्मिक दृष्टि से ईश्वर एक प्रेरक शक्ति के रूप में तर्कातीत अनुभव का विषय है। किन्तु दर्शन के क्षेत्र में कोई भी तत्त्व युक्तियों के आधार पर ही स्वीकार किया जाता है, केवल श्रद्धा या लोकव्यावहार के आधार पर नहीं। इसलिए आस्तिक एवं नास्तिक प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने यह सिद्ध करने का प्रायास किया है कि ईश्वर का अस्तित्व तर्क के सहारे साध्य नहीं है। चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन तो ईश्वर को स्वीकार ही नहीं करते, किन्तु मीमांसा, सांख्य एवं वेदान्त भी उसे जगत् का अन्तिम तत्त्व नहीं मानते है।[२] केवल न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ही वह दार्शनिक विचारधारा है, जो इस विषय में प्रतिपक्षियों के तर्कों का खण्डन कर युक्ति पूर्वक ईश्वर की सिद्धि करते हैं।

महर्षि गौतम एवं कणाद ने कहीं भी ईश्वर के स्वरूप एवं गुणों का निर्देश नहीं किया है। बाद मे प्रशस्तपाद एवं वात्स्यायन ने स्पष्टत: ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। प्रशस्तपाद ने ईश्वर-स्तुति से ही अपने भाष्य का प्रारम्भ करते हैं।[३] धर्म की व्याख्या भी 'ईश्वरचोदनाभिव्यक्त धर्म' कहकर करते हैं। शिवादित्य ने

---

१ भगवद्गीता, अध्याय ११, श्लो० १८ तथा अध्याय ५, श्लो० ४
'सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।' ५/४
और
'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्यय. शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनस्त्व पुरुषो मते मे।।' ११/१८

२. Gopika Mohan, Bhattacharya : Studies inh Nyaya-Vaisesika Theism, Intro., P. XIII

३. प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वत:।
पदार्थधर्मसङ्ग्रह: प्रवक्ष्यते महोदय:।।

— प्र० प० भा०, पृ० १

अपने ग्रन्थ सप्तपदार्थी में आत्मा के विभाजन के अवसर पर ईश्वर का उल्लेख किया है।[१] किन्तु ईश्वर का विस्तृत विवेचन उन्होंने भी नहीं किया, केवल एक बार निर्देश मात्र किया है।

उदयनाचार्य एक मात्र ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होने ईश्वर की सिद्धि के लिए एक पृथक् ग्रन्थ 'न्यायकुसुमाञ्जलि' की रचना की और ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वरवाद का विकास क्रमश· धीरे-धीरे हुआ, जबकि प्रारम्भिक ग्रन्थों में ईश्वर की अवहेलना सी हुई प्रतीत होती है। इसलिए अनेक दार्शनिकों का मत है कि प्रारम्भ में न्याय-वैशेषिक में ईश्वर का कोई स्थान नहीं था। संभवत: इसी कारण शंकराचार्य आदि दार्शनिकों में न्याय-वैशेषिक को 'अर्ध-वैनाशिक' नाम दिया होगा।[२]

विश्वनाथ पंचानन ने 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में ईश्वर के आठ गुण बताये हैं —— संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न।[३] संख्या गुण का अर्थ है कि ईश्वर एक है, परिमाण का तात्पर्य ईश्वर परममहत् है, पृथक्त्व से अभिप्राय-ईश्वर एक द्रव्य है और वह अन्य द्रव्यों से भिन्न है। पृथक्त्व दो प्रकार का होता है —— एकवृत्ति और अनेकवृत्ति। ईश्वर का पृथक्त्व एक वृत्ति है। एकवृत्ति पृथक्त्व नित्य होता है। संयोग गुण का अर्थ है —— ईश्वर का अन्य सभी द्रव्यों से संयोग है, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापी है, अतएव वह विभु है। विभाग गुण से अभिप्राय —— ईश्वर अन्य द्रव्यों से विभक्त है। विभाग सभी द्रव्यों का गुण है, क्योंकि जो विभक्त नहीं है, वह द्रव्य ही नहीं हो सकता है। इन पॉच गुणों के अतिरिक्त ईश्वर मे अनन्त इच्छा, अनन्त ज्ञान और अनन्त प्रयत्न है।

---

१. 'आत्मा तु परमात्मा क्षेत्रज्ञश्चेति द्विविध·।।'

—— स० प०, पृ० २०

२. A B. Keith, Indian Logic and Atomism, P. 265-66.

३ डॉ० संगम लाल पाण्डेय·, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ० २५३

उदयनाचार्य ने अपनी प्रसिद्ध ईश्वर साधक कृति 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के प्रारम्भ में कहा है –– ''यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे सन्देह का अवकाश ही नहीं और न ही उसकी सिद्धि की कोई आवश्यकता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसे किसी न किसी रूप में जानता और मानता है। तथापि ईश्वर की सिद्धि का प्रयास यहाँ इसलिए किया जा रहा है कि श्रुति, स्मृति, पुराणो इत्यादि में अनेक बार उसका ''श्रवण' हो चुका है। अत: अब हम उसकी 'मनन' रूप उपासना ही कर रहे हैं। चूँकि 'श्रोतवयो मन्तव्य:' इत्यादि श्रुति तथा 'आगमेनाभ्यासेन' आदि स्मृति यही उपदेश देती है।'' [१] उदयनाचार्य ने ईश्वर की सिद्धि हेतु तर्क दिये हैं –– कार्यों से, आयोजन से, धारण आदि से, परम्परागत कलाओ से, प्रामाणिकता से श्रुतियों तथा श्रुतिगत वाक्यों से और विशिष्ट संख्याओ से एक नित्य, स्थायी और सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता सिद्धि होती है। [२]

जगत् एक कार्य है। इसका एक निमित्त कारण होना –– चाहिए, जो कोई चेतन तत्त्व ही हो सकता है। जगत् का निमित्त कारण सामान्य जीव नहीं हो सकता, बल्कि कोई महत् परिमाण वाला चेतन तत्त्व ही हो सकता है, यही ईश्वर है। न्याय-दर्शन का ईश्वर जगत् का आदि स्रष्टा, पालक व संहारक है। वह शून्य से जगत् की सृष्टि न करके नित्य परमाणुओं, दिक्, काल, अकाश, मन तथा आत्माओ से उसकी सृष्टि करता है। ईश्वर जगत का मात्र निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। न्याय-वैशेषिक दर्शन का ईश्वर वेदान्त के ब्रह्म की तरह मकड़ी की भॉति अपने उदर से सृष्टि को उत्पन्न नहीं करता, बल्कि कुम्भकार की भॉति नित्यपरमाणुओ से उसकी सृष्टि करता है। इसके अतिरिक्त न्याय-दर्शन का ईश्वर जीवों के कर्मों का

---

१. तस्मिन्नेव जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं सुप्रसिद्धानुभवे भगवति भवे सन्देह एव कुत:, कि निरूपणीयम्।

—— न्या० कु०, पृ० १३

२. कार्यायोजनधृत्यादे: पदात् प्रत्ययत. श्रुते.।
वाक्यात् सख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय:।।

—— न्या० कु०, पंचम स्वतक कारिका १, पृ० ५४७

प्रयोजक कारण भी है। वह संसार के मनुष्यों एव मनुष्येतर जीवों का धर्मव्यवस्थापक, उसका कर्मफलदाता एव उसके सुख-दु:ख का निर्णायक तथा दयालु है। न्याय-दर्शन का ईश्वर शरीरधारी है, जो सत् चित् और आनन्द से परिपूर्ण है। उसमें अधर्म, मिथ्याज्ञान एवं प्रमाद का अभाव है।

रघुनाथ शिरोमणि दृष्टि : ईश्वर के परममहत् परिमाणवत्व का खण्डन

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आकाश, काल, दिक् के समान ईश्वर को भी परममहत् परिमाणवान् स्वीकार किया गया है, परन्तु रघुनाथ शिरोमणि प्रथम तीन द्रव्यों आकाश, दिक् एवं काल के परिमाणवत्त्व का निराकरण कर चुके हैं। परिमाणवत्त्व के आधार पर आकाशदि को विभु मानने वाले आचार्यों के प्रतिपक्ष में रधुनाथ का कथन है कि सर्वसम्मत ईश्वर को विभुत्व परममहत् परिमाणवत्त्व रूप न कह करके सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व रूप स्वीकार करने पर ही विभुत्व सिद्ध हो जाता है। अत: ईश्वर के परममहत् परिमाण का आश्रय स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है। ध्यातव्य है कि रघुनाथ शिरोमणि ने ईश्वर के परममहत् परिमाणवत्व के खण्डन मे एक नीवन युक्ति दी है ––

'ईश्वरस्य परिमाणवत्त्वे मानाभाव:,
द्रव्यत्वस्य त्रुटित्वादेरिव परिमाणस्यासाधकत्वात्।' [१]

अर्थात् ईश्वर को परिमाणवान् द्रव्य मानने के पक्ष में कोई प्रमाण नही है। द्रव्य होने के धर्म एवं त्रसरेणु होने के धर्म के बीच जिस प्रकार व्याप्यव्यापकभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार द्रव्य होने के धर्म एवं परिमाणवान होने के धर्म के मध्य भी व्याप्यव्यापकभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। पूर्वपक्ष का मत है कि ईश्वर को द्रव्य मानने पर उसका परिमाण अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। दीधितिकार इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जिस प्रकार त्रुटित्वादि के द्रव्यत्व में

---

१. प० त० नि०, पृ० ७
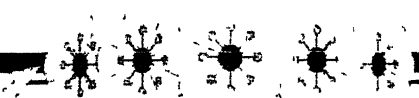
अन्य कोई (परिमाण) साधक नही है, उसी प्रकार यहाॅ परिमाण के अप्रयोजकत्व से भाव है। अर्थात् ईश्वरगत परममहत् परिमाण प्रमाणसिद्ध नहीं है।

पूर्वपक्ष की ओर से यह शंका की जाय कि यदि द्रव्यत्व को हेतु मानकर अनुमान प्रमाण की सहायता से ईश्वर को पक्ष करके, परिमाण को सिद्ध किया जा सकता है। इस युक्ति के प्रत्युत्तर में रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि अप्रयोजकत्व निबन्धन द्रव्यत्व हेतु के द्वारा जिस प्रकार त्रुटित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार द्रव्यत्व हेतु से परिमाणवत्त्व के व्यभिचार की शंका होने से ईश्वर मे परिमाणवत्त्व अनुमान करना संभव नहीं है, क्योंकि व्यभिचार कलुषित हेतु अनुमिति का साधक नहीं हो सकता। पुनः पूर्वपक्ष की शंका है कि ईश्वर के अपरिमित अवृत्तित्व होने से ईश्वर में परिमाणवत्त्व का निराकरण नहीं किया जा सकता। उक्त शंका का समाधान करते हुए दीधितिकार रघुनाथ ने 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' ग्रन्थ मे कहा है ——

'तस्य चापरिमितावृत्तित्वमसिद्धम्' [१]

तात्पर्य है कि अपरिमित अवृत्तित्व को हेतु मानकर ईश्वर की परिमाणवत्ता सिद्ध करना उचित नहीं है, क्योकि ईश्वर के अपरिमित अवृत्तित्व धर्म को सिद्ध करने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं है।

❑❑❑

---

१. प० त० नि०, पृ० ७

तृतीय अध्याय

गुणतत्त्व - निरूपण

गुणतत्त्व–निरूपण

वैशेषिक–दर्शन का अभिमत है कि सात पदार्थों में 'गुण' पदार्थ का द्वितीय स्थान है। लोक व्यवहार में 'गुण' शब्द का प्रयोग योग्यता, विशिष्टता अथवा अच्छाई के लिए होता है। साख्याचार्यों ने 'तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है' —— ऐसा मानकर गुण को द्रव्य रूप माना है। परन्तु वैशेषिक दर्शन का 'गुण' शब्द विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ से युक्त है। महर्षि कणाद के अनुसार —— जो द्रव्याश्रित हो, गुणरहित तथा संयोग एवं विभाग गुणो मे निरपेक्ष रूप से कारण न हो, वही गुण पदार्थ है।[१] सप्तपदार्थीकार शिवादित्य ने पदार्थों का जातिपरक लक्षण भी किया है, इसलिए गुण का भी जाति परक लक्षण है —— जाति का आश्रय होते हुए चलनात्मक कर्म से भिन्न होकर जो समवायिकारण से भिन्न, गुणत्व सामान्य से युक्त पदार्थ है, वही गुण है।[२] लक्षण के अन्तिम अंश के द्वारा गुण की द्रव्य से भिन्नता सिद्ध की है। ग्रन्थकार शिवादित्य कृत यह गुण लक्षण एक न होकर दो है। 'गुणस्तु गुणत्वजातियोगी' मात्र इतना ही लक्षण करने से गुणत्वजाति से रहित द्रव्य एवं कर्म की व्यावृत्ति हो जाती है।

कणाद ने अपने सूत्र मे सत्रह गुणो का निर्देश किया है —— रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न।[३] प्रशस्तपाद ने इनमे सात गुण —— गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, एवं शब्द —— जोड़कर चौबीस गुणो की चर्चा

---

१. वै० सू०, १/१/१६

२. गुणस्तु गुणत्वजातियोगी, जातिमत्वे सत्यचलनात्मकत्वे सति समवायिकारणरहितश्चेति।
-- स० प०, पृ० ४९

३. 'रूपरसगन्धस्पर्शाः सख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः।'
-- वै० सू०, १/१/६

की है।[१] परवर्ती ग्रन्थो मे धर्म एव अधर्म को 'अदृष्ट' के अन्तर्गत रखा गया है। उल्लेखनीय है कि शंकर मिश्र ने 'वैशेषिक सूत्र' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सूत्रकार ने उक्त सत्रह गुणो का तो कण्ठत: उच्चारण किया है, किन्तु प्रयत्नाश्च में 'चकार' से लोक व्यवहार में गुणरूप से प्रसिद्ध गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द — इन सात गुणों का भी उल्लेख मानना चाहिए।[२]

न्यायकन्दलीकार ने इस स्थल पर पूर्वपक्ष की ओर से यह शका उठाई है कि 'च' शब्द से प्रशस्तपादोक्त केवल सात अन्य गुणो का ही ग्रहण क्यों किया जाय? लोक में तो इनके अतिक्ति भी शौर्य, औदार्य, कारुण्य व दाक्षिण्य आदि गुण व्यवहृत होते है। इस शंका का समाधान करते हुए शौर्य को प्रयत्न, औदार्य को बुद्धि, कारुण्य को इच्छा तथा दाक्षिण्य को बुद्धि में ही अन्तर्भूत करके यही सिद्धान्त स्थिर किया कि गुण चौबीस ही हैं न उससे कम न अधिक।[३]

अन्नंभट्ट ने भी लघुत्व, मृदुत्व व कठिनत्वादि को गुण मानने की किसी प्रतिपक्षी की शका का निराकरण लघुत्व को गुरुत्वाभाव-रूप तथा मृदुत्व एवं कठिनत्व को अवयव संयोग विशेष रूप कहकर करते हुए यही सिद्ध किया है कि सिद्धान्तमतानुसार गुण चौबीस ही हैं।[४]

वैशेषिक दर्शन मे प्रतिपादित चौबीस गुणों के स्वरूप पर विचार करते हुए सर्वप्रथम भासर्वज्ञ ने सख्या, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, परिमाण, विभाग, संयोग एवं वेग — इन पदार्थों का खण्डन किया तथा 'कर्म' को पृथक् पदार्थ मानने

---

१ प्र० पा० भा०, पृ० ६९
२. उपस्कार, पृ० ३४ तथा ३६१
३. न्या० क०, पृ० २७-२८
४. त० दी०, पृ० ५

का खण्डन करते हुए कहा कि वस्तुत: गुण एवं कर्म एक ही कोटि के पदार्थ हैं।[१]

नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने सख्या, परिमाण, पृथकत्व, परत्व एव अपरत्व — इन पॉच गुणों का खण्डन किया है। टीकाकारो ने संयोग, विभाग, प्रयत्न, संस्कार, धर्म तथा अधर्म — इन छ: गुणों का खण्डन रघुनाथ शिरोमणि सम्मत जानकर ही किया है। इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि ने २४ गुणो में ११ गुणो का खण्डन किया है, शेष १३ गुणों की सत्ता स्वीकार की है।

गुण की पृथक् पदर्थ रूप में स्थापना हो जाने पर भी उन गुणों में रहने वाली 'गुणत्व' जाति की सिद्धि अनिवार्य है। वैसे भी रूप, रसादि गुण तो इन्द्रियगम्य एवं प्रत्यक्ष होने से सर्वजनसिद्ध हैं, किन्तु उनमें रहने वाली 'गुणत्व' जाति, जो सर्वथा नूतन वैशेषिक उद्भावना है, उसकी सिद्धि भी अभिष्ट है। अत: 'गुणत्व' जाति की सिद्धि वैशेषिक ग्रन्थों में इस प्रकार है —

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में गुणत्व जाति की सिद्धि इस प्रकार की गयी है — 'द्रव्य और कर्म से भिन्न सामान्यवान् की जो कारणता है, वह भी किंचिद्धर्मावच्छिन्न है। कारणता होने से; क्योंकि निरवच्छिन्न कारणता का होना असंभव है। अत. चौबीस गुणों में जो अनुगत पदार्थ हैं, वही गुणत्व है, यह सिद्ध हो जाता है।[२] दिनकरीकार के अनुसार 'यहॉ गुणत्व सिद्धि का प्रयोजन यह न लेना चाहिए कि 'गुणत्व' का अस्तित्व शंकरयुक्त है; क्योकि रूप, रसादि गुणों का प्रत्यक्ष तो सभी जनो को होता है, किन्तु उन रूपादि गुणो में विद्यमान द्रव्य-कर्म-विलक्षण 'गुणत्व' अश्रुतशास्त्र जन के लिए तो असिद्ध ही है।[३]

---

१. न्यायभूषण, पृ० १५८, १६०-१६२

२. न्या० सि० मु०, पृ० ३३३-३३६

३. दिन०, पृ० ३३३-३३४

उमापति उपाध्याय ने गुणत्व जाति की सिद्धि के विषय में यह मत व्यक्त किया है कि 'यद्यपि गुणत्व जाति सर्वत्र प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती; क्योंकि गुरुत्व और अदृष्टादि अनेक गुण अतीन्द्रिय हैं, तथापि गुणपदशक्यता की अवच्छेदकता से सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार आत्मत्व की ही भाँति सकल गुणो में रहने वाली गुणत्व जाति सिद्ध है। [१]

दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि का विचार है कि रूपादि चौबीस गुणो मे प्रत्यक्षसिद्ध 'गुणत्व' जैसी कोई जाति नहीं हैं, क्योंकि अतीन्द्रिय रूपादि में तो प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है तथा अनुमान का वहॉ पर कोई प्रयोजन नहीं है। उक्त मत का समर्थन वेणीदत्त ने भी किया है। [२]

रघुनाथ शिरोमणि ने 'किरणावलीप्रकाशदीधिति' मे भी 'जाति' के विषय में यही विचार व्यक्त किया है कि 'जाति' पद केवल विभाजनकोपाधिपरक ही है। क्योंकि ऐसा कोई सामान्य धर्म नहीं है, जिसमें देशिक या कालिक परत्व–अपरत्व हो। [३] इस सन्दर्भ मे कार्ल पौटर ने टिप्पणी की है कि यद्यपि रघुनाथ शिरोमणि ने दोनो ही स्थलो पर 'जाति' का तो खण्डन किया है, किन्तु इस विषय में उनकी युक्तियॉ समरूप नहीं हैं। 'दीधिति' मे तो उन्होने 'जातिसंकर' के आधार पर जाति का खंडन किया है, जबकि 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' में रघुनाथ ने 'रूपत्व' को व्याप्यवृत्ति भी कहा है और अव्याप्यवृत्ति भी। अत: यहॉ स्पष्ट नहीं होता है कि यह परिवर्तन केवल प्रमादजन्य है अथवा रघुनाथ के विचारों में परिवर्तन को व्यक्त करता है।[४]

---

१. 'गुणत्वजातिश्च यद्यपि प्रत्यक्षत· सर्वत्र न सिध्यति गुरुत्वादृष्टादेरतीन्द्रियत्वात्। तथापि गुणपदशक्यतावच्छेदकतया सिध्यति। आत्मत्वरीत्या सकलगुणवृत्ति गुणत्वजातिसिद्ध:।'
-- पदार्थीयदिव्यचक्षु·, पृ० १५–१६

२. एव गुणत्वम् अपि न रूपादिचतुर्विंशतौ एका प्रत्यक्षसिद्धा जाति·, अतीन्द्रियेषु प्रत्यक्षायोगात्।
-- प० त० नि०, पृ० २७, प० म०, पृ० २४

३. किरणा० प्र० दीधिति, पृ १५

४ Potter, Notes on Padarthatattvanirupanam, p 66

(i) पृथक्त्व : वैशेषिक मत

'यह वस्तु उससे पृथक् है' —– इत्याकारक प्रतीति व व्यवहार के हेतुभूत गुण को पृथक्त्व की सज्ञा पदान की गयी है। प्रशस्तपाद ने पृथक्त्व गुण का लक्षण इस प्रकार किया है —– 'अपोद्धारव्यवहारकारणम्'।[१] अन्नं भट्ट तथा विश्वनाथ के शब्दो में 'पृथक्त्व की प्रतीति का हेतु ही प्रथक्त्व गुण है।'[२]

वैशेषिक दार्शनिकों का मत है कि पृथक्त्व की सिद्धि सर्वथा संख्या के सदृश प्रक्रिया से ही होती है। मानमनोहरकार ने संख्या के साथ ही पृथक्त्व की भी सिद्धि व्यवहार से ही की है —– 'एकम्, द्वे, त्रीणि आदि व्यवहार लोक प्रसिद्ध हैं। यह व्यवहार बिना किसी निमित्त के सभव नहीं, अन्यथा बिना प्रवृत्तिनिमित्त के एकादि पदों का प्रयोग नहीं हो सकेगा, आदि-आदि'।[३] शंकर मिश्र ने कहा है कि 'यह इससे पृथक है' इत्यादि प्रतीति मे अबाधित प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अत: उनके अनुसार पृथक्त्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाती है।[४]

एकद्रव्य तथा अनेकद्रव्य भेद से पृथकत्व दो प्रकार का है। एक द्रव्यवृत्ति पृथक्त्व तो केवल एक द्रव्य मे रहता है, जैसे एकपृथक्त्व। कोई पृथक्त्व दो या दो से अधिक द्रव्यों मे रहता है, जैसे द्विपृथक्त्व या अनेकपृथक्त्व आदि।[५]

उक्त दोनों प्रकार के पृथक्त्वो का नित्यत्व एवं अनित्यत्व भी सख्या के नित्यत्व-अनित्यत्व की ही भॉति है। अर्थात् जैसे कार्यद्रव्य में रहने वाली एकत्वरूप एकद्रव्या संख्या अनित्य है, क्योकि आश्रय के नाश से उसका नाश हो जाता है और परमाणु मे रहने वाली वही सख्या नित्य है, वैसे ही एक पृथक्त्व भी नित्य व अनित्य दोनों प्रकार का है। जिस प्रकार द्वित्वादि रूप अनेक द्रव्या संख्या

---

१ प्र० पा० भा०, पृ० ९५

२. भा० परि०, कारिका ११३, पृ० ४६३

३ मा० मनो०, पृ० ५९-६०

४. कणादरहस्य, पृ० ७५

५. किरणा०, पृ० २१९

अनेक एकत्व रूप गुण विषयक अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है और उस अपेक्षाबुद्धि के नाश से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार द्विपृथक्त्वादि भी उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। संख्या के धर्मों का पृथक्त्व मे 'अतिदेश' करने का यही अभिप्राय। [१]

संख्या से उक्त सम्बन्ध मे साम्य होने पर भी संख्या से पृथक्त्व का यह वैधर्म्य है कि 'जिस प्रकार एकत्वादि संख्याओ में संख्यात्व रूप परसामान्य से अतिरिक्त एकत्वादि अपरसामान्य भी है, वैसे ही पृथक्त्व में एकपृथक्वादि का कोई अपरसामान्य नहीं है। वस्तुत: संख्या के द्वारा ही पृथक्त्व औरों से अलग होकर जाना जाता है। क्योंकि प्राय: पृथक्त्व का व्यवहार संख्या से मुक्त होकर ही देखा जाता है।' [२]

पृथक्त्व का स्वतन्त्र गुण के रूप में निराकरण : रघुनाथ शिरोमणि

न्याय–वैशेषिक दर्शन मे सामान्य गुण के रूप में स्वीकृत 'पृथक्त्व' के गुणत्व का खण्डन करते हुए रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं —

'पृथक्त्वमपि न गुणान्तरम्'

अर्थात् घट, पट से पृथक है, इस प्रतीति का विषयीभूत घटांश मे विशेषण रूप में प्रतीयमान जो पृथक्त्व है, वह प्रमाण सिद्ध नहीं है। इस कारण गुण विशेष भी नहीं है। टीकाकार विश्वनाथ का कथन है कि घट से पट पृथक् है, इस प्रकार की प्रतीति में पटाश प्रकारीभूत पटत्व अतिरिक्त धर्म है। 'पटो न घट' यहॉ प्रकारीभूत घटत्व अतिरिक्त धर्म नही है। इसमें विप्रतिपत्तियाँ हैं। [३]

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० ९५, न्या० क०, पृ० ३३३

२. प्र० पा० भा०, पृ० ९६

३ पदार्थतत्त्वालोक, पृ० ६४

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो पृथक्त्व व्यवहार का विषयीभूत पृथक्त्व पदार्थ है, उसका अन्तर्भाव किस प्रदार्थ में होगा? इस शंका का समाधान करते हुए रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं —— अन्योन्याभाव अर्थात् भेद के द्वारा ही पृथक्त्व प्रतीति की व्याख्या संभव है।[१] अभिप्राय यह है कि 'अन्योन्याभाव' अभाव पदार्थ का ही एक भेद है। जब अन्योन्याभाव स्वीकार्य है तो पृथक्त्व को अतिरिक्त गुण रूप स्वीकार का कोई औचित्य ही नहीं प्रतीत होता।

पूर्वपक्ष की ओर से वल्लभाचार्य ने यह शका की है कि पृथक्त्व 'अन्योन्याभाव' कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव का निरूपण सदा प्रतियोगी-सापेक्ष होता है, जबकि पृथक्त्व 'अवधिनिरूप्य' होता है, अत: दोनों भिन्न-भिन्न ही है।[२] वैशेषिकाचार्य विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने भी यही स्पष्ट किया है कि अन्योन्याभाव से पृथक्त्व का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि 'अयमस्यात् पृथक्' तथा 'अयमिदं न' —— ये दोनों प्रतीतियाँ सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पृथक्त्व एवं अन्योन्याभाव द्वारा व्यक्त प्रतीतियों मे केवल शब्दवैलक्षण्य है, अर्थवैलक्षण्य नहीं, क्योंकि 'अर्थभेद' के बिना 'घटात् पृथक्' की भाँति 'घटो न पटः' आदि में भी पंचमी का प्रयोग होना चाहिए। अत· यही सिद्ध होता है कि जिस अर्थ में पंचमी का प्रयोग होता है कि वह नञ्र्थक 'अन्योन्याभाव' से भिन्न गुण पृथक्त्व है।[३]

---

१. अन्योन्याभावादेव पृथक्त्वव्यवहारोपपत्तेः।

-- प० त० नि०, पृ० १०

२. 'अभावस्य प्रतियोगिसापेक्षनिरूपत्वात्। अस्य चावधिनिरूप्यत्वात्'

-- न्या० ली, पृ० ३६८-३६९

३. 'अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते।
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा।।'

-- भा० परि०, कारिका ११४ तथा न्या० सि० म०, पृ० ४६४

उक्त वैशेषिकाचार्यों के मत का निराकरण करके अपना मत प्रस्तुत करते हुए रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं — 'यहाँ यह कहना ठीक नहीं है कि पृथक्त्व प्रतीति सर्वथा किसी न किसी पदार्थ को अवधि रूप में ग्रहण करके ही होती है, जैसा कि वल्लभचार्य ने पृथक्त्व को 'अवधिनिरूप्य' कहा है। 'घटात् पट: पृथक्', अन्य, भिन्न, इतर एवं अर्थान्तर शब्दों का प्रयोग होने के कारण संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'घट' शब्द को पञ्चमी विभक्ति में रखने का विधान किया गया है। अत: भिन्नत्व अथवा भेद प्रतीति अवधि की अपेक्षा नहीं रखती है, तो पृथक्त्व प्रतीति को अवधि सापेक्ष मानना युक्तियुक्त नहीं होगा।' [१]

निष्कर्षत: पृथक्त्व के गुणान्तर पर भासर्वज्ञ ने सर्वप्रथम विचार किया है। उन्होंने पृथक्त्व को एक-दूसरे की भिन्नता बताने वाले शब्दों का पर्याय माना है। इसके साथ ही पृथक्त्व के भेदों का भी खण्डन किया है। भासर्वज्ञ के पश्चात् अपरार्कदेव ने उन्हीं के मतों को स्पष्ट करते हुए पृथक्त्व का अन्तर्भाव 'अभाव' नामक पदार्थ के चारों भेदो में ही करने का प्रयास किया है। प्राचीन न्याय वैशेषिको ने पृथक्त्व को 'अवधिनिरूप्य' कहा है। इसके विपरीत रघुनाथ शिरोमणि ने पंचमी विधायक सूत्र का सूक्ष्य विवेचन करते हुए पूर्वपक्ष की समस्त शंकाओ का समाधान किया है। पृथक्त्व को अभाव के एक भेद 'अन्योन्याभाव' में अन्तर्भूत माना है।

'पृथक्त्व' भाव पदार्थों की विधि-परक व्याख्या करता है, जबकि 'अन्योन्याभाव' भाव-पदार्थों में से किसी एक के अभाव को दर्शाता है। दोनों के कथन के स्वरूप में अन्तर होने के साथ-साथ अर्थवैलक्षण्य भी है। यह विलक्षणता 'इतर' शब्द की शास्त्र-सम्मत व्याख्या करने से दूर हो जाती है। अत: पृथक्त्व को अन्योन्याभाव रूप माना जा सकता है।

---

१. पृथक्त्वप्रतीतिस्तु न सावधिकत्वावलम्बना मानाभावात्। घटात् पट· पृथक् इतरोऽन्योभिन्नोऽर्थान्तरमित्यादौ च तत्तच्छब्दविशेषप्रयोगे पञ्चम्यानुशासनिकी।
-- प० त० नि०, पृ० १०

(ii) परत्व–अपरत्व

साधारण भाषा में परत्व और अपरत्व को क्रमश· दूरी एव समीपता भी कहा जा सकता है तथा 'पूर्ववर्तिता' एव 'परवर्तिता' भी। इस दृष्टि से ये कालिक एवं दैशिक दोनो प्रकार के पौर्वापर्य को व्यक्त करते हैं। परत्व और अपरत्व दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, अत: वैशेषिक ग्रन्थो में दोनों का एक साथ निरूपण किया गया है। ये दोनों गुण केवल प्रथम चार द्रव्यों —— पृथिवी, जल, तेज और वायु मे ही पाये जाते हैं; क्योंकि ये चारों ही मूर्त्त एवं अनित्य द्रव्य हैं, जिनका एक सीमित आकार होता है। मनस् भी मूर्त्त द्रव्य है, अत: उसमें भी परत्व–अपरत्व रहते हैं, किन्तु केवल दैशिक ही, कालिक नहीं। क्योंकि वह नित्य है। शेष चारों द्रव्य —— अकाश, काल, दिशा व आत्मा–अमूर्त एवं नित्य हैं। उनमे किसी भी प्रकार का परत्व–अपरत्व नहीं पाया जाता है।

महर्षि कणाद के अनुसार एक दिशा में वर्तमान तथा एक ही समय में वर्तमान जो क्षण और काल से सन्निहित तथा दूरस्थ हो, ऐसे दो द्रव्यों मे क्रमश· देशिक तथा कालिक परत्व दूरी तथा ज्येष्ठता रूप मे सन्निहित होना और कनिष्ठता रूप अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं। [१] प्रशस्तपाद ने परत्व एवं अपरत्व का लक्षण इस प्रकार किया है —— 'यह इससे पर (दूर अथवा ज्येष्ठ) है तथा 'यह इससे अपर' (समीप अथवा कनिष्ठ) है, इस प्रकार के ज्ञान तथा अभिधान के कारण को ही क्रमश: परत्व एवं अपरत्व कहा है।' [२] आचार्य उदयन की 'लक्षणावली' मे परत्व और अपरत्व के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं —— 'विशेषण रूप मे पर–प्रत्यय का निमित्त ही परत्व है तथा विशेषण रूप मे अपर–प्रत्यय का निमित्त ही अपरत्व है।' [३]

---

१. 'एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च'।

-- वै० सू०, ७/२/२१

२. 'परत्वमपरत्व च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम्।'

-- प्र० पा० भा०, पृ० १२४

३. लक्षणावली, पृ० २१–२२

परत्वापरत्व के भेद

वैशेषिक दर्शनाचार्यों ने दो प्रकार से परत्व एवं अपरत्व का निरूपण किया है —

(क) दिक्कृत या देशिक (Spatial)

(ख) कालकृत या कालिक (Temporal)

इनमे से दिक्कृत परत्वापरत्व दिशाओं की विशिष्टताओं को समझाते हैं तथा कालकृत परत्वापरत्व वस्तुओं की आयु के भेद को समझाते हैं। [१] इन दोनों प्रकार के परत्व और अपरत्व का भेद उनके कारण-भेद से जन्य है, अर्थात् दिक्कृत परत्वापरत्व 'दिक्पिण्डसंयोगकृत' है तथा कालकृत परत्वापरत्व 'कालपिण्डसंयोगकृत' है। [२] परत्वापरत्व का दैशिक एवं कालिक दोनो रूपो का विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है —

(क) दैशिक परत्वापरत्व

प्रशस्तपाद के अनुसार दैशिक परत्वापरत्व की उत्पत्ति इस प्रकार यह है कि 'एक ही दिशा में अवस्थित दो कार्य द्रव्यों में संयुक्त संयोग की अधिकता और अल्पता के रहने पर देखने वाले एक पुरुष के समीप प्रदेश को अवधि मानकर 'यह इससे दूर है' इस प्रकार का दूरत्व विषयक बुद्धि परत्व के आधार द्रव्य में उत्पन्न होती है। इसके बाद उसी बुद्धि के सहयोग से दूर प्रदेशों के संयोग के द्वारा दिक्कृत परत्वविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है और तब इस परत्व विषयक बुद्धि को अवलम्बन बनाकर दूर के दिक्प्रदेशो के संयोग से दिक्कृत परत्व गुण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार दूर दिशा के द्रव्य को अवधि मानकर 'इससे यह सीमित है' इस प्रकार की बुद्धि अपरत्व गुण के

---

१ वै० सू०, ७/२/२१

२. न्या० क०, पृ० ३९४

आधारभूत द्रव्य में उत्पन्न होती है, फिर उसी बुद्धि को अवलम्बन बनाकर 'अपर' अर्थात् समीप वाले प्रदेशो के सयोग से दिक्कृत अपरत्व की उत्पत्ति होती हैं।' [१]

आचार्य विश्वनाथ ने दैशिक परत्वापरत्व के विषय में कहा है कि 'दैशिक परत्वापरत्व मूर्त्त ही हो सकते हैं। बहुतरमूर्त्तसंयोगान्तरितत्वज्ञान से दैशिक परत्व उत्पन्न होता है तथा उसकी अल्पता के ज्ञान से अपरत्व। यहाँ अवधि के लिए पंचमी विभक्ति की अपेक्षा होती है। जैसे 'पाटलिपुत्र से काशी की अपेक्षा प्रयाग पर (दूर) है।' अथवा पाटलिपुत्र से कुरुक्षेत्र की अपेक्षा प्रयाग अपर (नजदीक) है।' दैशिक परत्व और अपरत्व का असमवायिकारण दिक्संयोग होता है।' [२]

(ख) कालिक परत्वापरत्व

महर्षि कणाद के अनुसार कालसंयोगरूप कारण के परत्व से और उक्त कारण के अपरत्व से कालिक परत्व तथा अपरत्व गुण होते हैं। [३] उपस्कार कर्ता ने स्पष्ट किया है कि 'परत्व से परत्व तथा अपरत्व से अपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती। अत: सूत्र का अर्थ करते समय यहाँ लक्षणावृत्ति से 'परत्व गुण का असमवायिकारण कालसंयोग तथा अपरत्व गुण का असमवायिकारण कालसंयोग' ऐसा अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यहाँ काल के ही परत्व एवं अपरत्व अभीष्ट है।' [४]

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० १२५-१२६

२. .. .... मूर्त्त एव तु देशिकम्।।
परत्वं मूर्त्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत।
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम्।।

-- भा० परि०, कारिका १२१-२२, पृ० ४७३-७४

३. 'कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च'

-- वै० सू० ७/२/२२-२३

४. उप०, पृ० ४३९

प्रशस्तपाद ने कालिक परत्व–अपरत्व की उत्पत्ति–प्रक्रिया इस प्रकार बतायी है कि 'वर्तमान काल में अवस्थित किसी भी दिक् प्रदेश के साथ सयुक्त युवापुरुष मे कड़ी मूछ और गठित शरीर (प्रभृति असाधारण) स्थिति और किसी भी दिक्प्रदेश से सयुक्त वृद्ध पुरुष के पके हुए केश और शरीर की शिथिलिता (आदि) की स्थिति, इन दोनो स्थितियो के रहते हुए दोनो को देखने वाले पुरुष को उक्त युवा पुरुष की अपेक्षा वृद्ध पुरुष में विप्रकृष्ट बुद्धि अर्थात् कालकृत परत्व (ज्येष्ठत्व) की बुद्धि उत्पन्न होती है। इसके बाद इसी की सहायता से अधिक काल प्रदेश के साथ संयोग से (वृद्ध पुरुष मे) कालकृत परत्व (ज्येष्ठत्व) की उत्पत्ति होती है एवं इसी वृद्ध पुरुष की अपेक्षा युवा पुरुष में 'सन्निकृष्ट बुद्धि' उत्पन्न होती है! इसी बुद्धि के द्वारा दूसरे काल प्रदेश के साथ (युवा पुरुष के) संयोग से कालकृत अपरत्व (अनिष्ठत्व) की उत्पत्ति होती है।' [१]

उल्लेख्य है कि द्वितीय अध्याय 'काल निरूपण' के विवेचित हैं कि परत्व और अपरत्व की प्रतीति ही काल द्रव्य के अनुमान की भी साधक है। कालिक गुणो की दृष्टि से परत्व एवं अपरत्व का अर्थ किसी विशेष काल बिन्दु से पहले या बाद में उत्पन्न होना ही है। किन्तु केवल पहले या बाद में उत्पन्न होना ही परत्व–अपरत्व का आधार नहीं है। उदयनाचार्य के अनुसार किसी घटना या जन्य द्रव्य को पर या अपर होने के लिए अन्य अनेक आधार भी होना चाहिए। जैसे —

(अ) वह वस्तु या व्यक्ति किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति के समकालीन हो।

(आ) कुछ निश्चित शारीरिक विशेषताओ के आधार पर द्रष्टा को वह दूसरे की अपेक्षा 'पर' (जयेष्ठ) या 'अपर' (कनिष्ठ) प्रतीत होता हो।

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० १२६–१२७

(इ) साथ ही, वह सयुक्त काल के किसी अंश से पर या अपर रूप से सयुक्त हो, (अधिक सूर्य-परिवर्तनों से सम्बद्ध होना परत्व या विप्रकृष्टत्व है तथा अल्प सूर्यपरिवर्तन-संयोग सन्निकृष्टत्व या अपरत्व है)। [१]

दैशिक एवं कालिक परत्वापरत्व में अन्तर

१ कालिक परत्वापरत्व केवल जन्य द्रव्यो के ही गुण होते हैं, जबकि दैशिक परत्वापरत्व की प्रतीति नित्य द्रव्यो मे भी संभव है, यदि वे द्रव्य विभु न होकर मूर्त्त हों। अत: इस दृष्टि से दैशिक परत्वापरत्व का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है, क्योंकि सभी जन्य द्रव्य तो मूर्त्त हैं ही, कुछ मूर्त्त द्रव्य नित्य भी हैं, जैसे — परमाणु।

२. कुछ सहवर्ती वस्तुओं में, जिनमें दैशिक तथा कालिक दोनों प्रकार के परत्व-अपरतव पाये जाते हैं — कालिक दृष्टि से पर होने पर भी कोई वस्तु दैशिक दृष्टि से अपर हो सकती है तथा कालिक दृष्टि से अपर होने पर भी दैशिक दृष्टि से पर हो सकती है। जैसे — कोई वृद्ध पुरुष (कालिक दृष्टि से पर होने पर भी) प्रमाता के समीप होने पर एक युवक की अपेक्षा (देशिक दृष्टि से) 'अपर' कहा जा सकता है, जबकि वह युवक कालिक दृष्टि से 'अपर' किन्तु देशिक दृष्टि से 'पर' है।

३. कालिक परत्व तथा अपरत्व एक नियत एवं अपरिवर्तनीय सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं, जबकि दैशिक परत्वापरत्व परिवर्तनीय हैं। जो व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा कालिक दृष्टि से पर है, वह सदा पर ही रहेगा, किन्तु जो स्थान या दिशा की दृष्टि से इस स्थान पर है, वही पुन: अपर भी हो सकता है।

इस प्रकार कालिक तथा देशिक परत्वापरत्व की विभिन्नताओं से ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि काल तथा दिशा दो पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। यदि

---

१. किरणा०, पृ० २५२

सूक्ष्म अन्वीक्षण किया जाय तो दैशिक परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति के लिए दो स्थितियो का होना अनिवार्य है —— व्यक्तिनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ। व्यक्तिनिष्ठ स्थिति है, प्रमाता की अपेक्षाबुद्धि तथा वस्तुनिष्ठ स्थिति है, वस्तु का किसी (दूरस्थ या समीपस्थ) विप्रकृष्ट या सन्निककृष्ट दिग्भाग से संयोग। इसमे से प्रथम को निमित्त कारण माना गया है, दिक्संयोग को असमवायिकारण तथा उस द्रव्य को समवायिकारण, जिसमे परत्व या अपरत्व बुद्धि उत्पन्न होती है।

परत्वापरत्व के गुणान्तर का निरास

न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ का कथन है कि परत्वापरत्व का गुणान्तरत्व नहीं है। (दैशिक पूर्वापरादि में तो) संयुक्त संयोगों की न्यूनता अथवा अधिकता और (कालिक परत्वापरत्व में) पूर्व तथा उत्तर जन्म ही परत्वापरत्व के व्यवहार का हेतु है। इस प्रकार विप्रकृष्ट और पर में कोई भेद नहीं है तथा सन्निकृष्ट एवं अपर भी एक अर्थ के बोधक हैं। अत: विप्रकृष्ट और सन्निकृष्ट बुद्धि से परत्व तथा अपरत्व की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है, जैसे —— 'घट की अपेक्षा करके कुम्भ उत्पन्न होता है' यह कथन उचित नहीं। [१] साथ ही साथ परत्वापरत्व के गुणत्व का खण्डन करने के लिए भासर्वज्ञ ने कहा है कि जिसप्रकार परत्वापरत्व के गुणत्व को स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार 'अन्यत्व' के गुणत्व को भी स्वीकार किया जा सकता है। 'अन्यत्व' का व्यवहार कालकृत और दिक्कृत (परत्व–अपरत्व) के समान ही है। [२]

भासर्वज्ञ के समान ही पदार्थतत्त्वनिरूपणकार रघुनाथ शिरोमणि भी परत्वापरत्व को अतिरिक्त गुण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं ——

---

१. 'नापि परत्वापरत्वे (गुणान्तरे) संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयो: पूर्वोत्तरजन्मनोश्च परापरव्यवहारहेतुत्वात्।'

-- न्या० भू०, पृ० १६२

२. वही, पृ० १६२

प्रतीत होता है कि पूर्वकालोत्पन्न रूप ज्येष्ठत्व तथा प्रश्चात् उत्पन्न रूप कनिष्ठत्व है। वही कालिक परत्व तथा अपरत्व के व्यवहार का कारण है। अतएव इस प्रकार का क्षणवृत्तित्व अथवा उस प्रकार का क्षणोत्पत्तित्व रूप ज्येष्ठत्व अथवा कनिष्ठत्व का आलम्बन करके जब कालिक परत्व और अपरत्व का व्यवहार संभव है, तब कालिक परत्व तथा अपरत्व रूप गुणान्तर स्वीकार करना निष्प्रयोजन है।

पुनः सन्निकृष्ट एव विप्रकृष्ट रूप परत्वापरत्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रघुनाथ शिरोमणि का कथन है कि 'दो पदार्थों की समीपता अथवा दूरी की प्रतीति सदैव किसी अन्य तृतीय मूर्त द्रव्य की अपेक्षा रखती है। परन्तु कालिक पूर्वता एवं परता केवल उत्पत्ति क्षणों के क्रम की अपेक्षा रखती है।' [१] जैसे प्रयाग की अपेक्षा काशी मथुरा से विप्रकृष्ट है, मथुरा की अपेक्षा प्रयाग काशी से सन्निकृष्ट है। उल्लेखनीय है कि यहाँ तृतीय स्थान विशेष की अपेक्षा करके ही विप्रकृष्ट तथा सन्निकृष्ट का व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार कनिष्ठत्व का व्यवहार ज्येष्ठत्व मे आश्रय से विषयी मे किया जाता है। यहाँ ज्येष्ठत्व एवं कनिष्ठत्व परस्पर आश्रय की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रघुनाथ शिरोमणि द्वारा इन गुणों के अतिरिक्त गुणत्व का खण्डन करने का औचित्य यह है कि जब वैशेषिकाचार्य 'सामान्य' नामक पदार्थ के द्वितीय विभाजन 'परापर' को स्वीकार कर चुके हैं, तब पुनः इनका गुणान्तर स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। भासर्वज्ञ का विचार है कि सामान्य के इन द्विविध भेदों का आधार भी महत्त्व एवं अल्पत्व है। परत्वपरत्व के गुणान्तरत्व का खण्डन सर्वप्रथम भासर्वज्ञ ने किया है। आचार्य अपरार्कदेव ने उदयनाचार्य एवं वल्लभाचार्य के आक्षेपों का निरास करके यही सिद्ध किया है कि परापर के गुणत्व

---

१ विप्रकृष्टत्वसन्निकृष्टत्वाभ्या ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वाभ्यां च तथाविधव्यवहारोपपत्तेः। अत्राद्ये तृतीयमपेक्षते। अन्त्ये तु परस्पराश्रयमिति विवेकः।

-- प० त० नि०, पृ० ११

को स्वीकार करने पर भी विप्रकृष्ट एव सन्निकृष्ट आदि प्रमेय के ही धर्म सिद्ध होते हैं, प्रमाता के नही। रघुनाथ शिरोमणि ने इन्हीं आचार्यों के मत को और अधिक पल्लवित किया है।

(iii) रूप, रस, स्पर्श एवं गन्ध की अव्याप्यवृत्तित्वसिद्धि

रूप

रूप चक्षुरिन्द्रियग्राह्य तैजस् द्रव्य का विशेष गुण है। यह सभी वस्तुओं के प्रत्यक्ष में किसी न किसी प्रकार अवश्य ही हेतु होता है। अत: गुणों मे सबसे पहले रूप का ही निरूपण किया गया है।

प्राय: सभी वैशेषिक ग्रन्थों में 'रूप' का लक्षण एक-सा ही दिया गया है —— 'चक्षुरिन्द्रियग्राह्य गुण रूप है।' यहाँ चक्षुरिन्द्रियग्राह्य कहने का प्रयोजन यह है कि केवल रूप ही चक्षुर्ग्राह्य होता है, रसादि नहीं, तथा वह रूप केवल चक्षुरिन्द्रिय से ही ग्राह्य होता है, अन्य किसी इन्द्रिय से नहीं। रूप गुण पृथ्वी, जल तथा तेज केवल इन्हीं तीन द्रव्यों में पाया जाता है। उन तीनों द्रव्यों में से भी पृथिवी के परमाणुओं में पाया जाने वाला रूप पाकज होता है अर्थात् तेज-संयोग से जन्य होता है और नष्ट भी हो जाता है, किन्तु जलीय व तैजस परमाणुओं में वह अपाकज, अत: नित्य पाया जाने वाला गुण है।[१] पृथिवी, जल एवं तेज द्रव्यो के अनित्य कार्यों में रूप गुण भी आश्रय की अनित्यता से अनित्य ही होता है।

प्रशस्तपाद ने रूप को शुक्लादि अनेक प्रकार का[२] कहा है; किन्तु उनके प्रकारों का निश्चय तथा निर्देश नहीं किया है। व्योमवती, किरणावली एवं न्यायकन्दली में भी प्रशस्तपाद के उक्त कथन की विस्तृत विवेचना न करके रूप

---

१ 'पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति'

-- न्या० सि० मु०, पृ० ३९३

२ प्र० पा० भा०, पृ० ६९

को 'अनेक प्रकार का' ही कह दिया गया है। परवर्ती ग्रन्थो —— तर्कसंग्रह एवं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में सम्भवत: पहली बार रूप को सप्तविध कहा गया है —— शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश एवं चित्र। [१]

चित्ररूप : वैशेषिक मत

अन्नंभट्ट के अनुसार रूप 'व्याप्यवृत्ति' गुण है। अर्थात् वह अपने आश्रय के सम्पूर्ण प्रदेश को व्याप्त करके स्थित रहता है। तो एक ही पट में अनेक विध पृथक्-पृथक रूप कैसे रह सकते हैं? अन्नंभट्ट के अनुसार किसी भी द्रव्य के प्रतयक्षत्व हेतु 'रूपवत्त्व' एक अनिवार्य दशा है तथा अवयवों का पृथक्-पृथक् रूप अवयवी को 'रूपवान्' नहीं बना सकता। यदि पुन: कहा जाय कि 'रूपवत्त्व' के स्थान पर 'रूपवत्समवेतत्व' को ही प्रत्यक्षत्वहेतु मान लिया जाय, तो यह भी गौरव होने से मान्य नहीं है। अत: पट के प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हेतु 'चित्ररूप' को स्वीकार करना अनिवार्य है, यही सिद्ध होता है। [२] न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने भी इसी युक्ति के आधार पर 'चित्ररूप' की सिद्धि की है। [३]

पृथिवी द्रव्य मे सातों प्राकर का रूप पाया जाता है, जबकि जल एवं तेल में केवल शुक्ल रूप मिलता है। तेज का रूप भास्वर शुक्ल होता है, जबकि जल का अभास्वर शुक्ल। यही दोनों में शुक्लरूपत्व भेद है। [४]

चित्ररूप खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि मत

नील, पीत, रक्त श्वेत आदि रंगो से भिन्न 'चित्ररूप' नामक किसी स्वतन्त्र रूप को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि एक ही अवयवी

---

१. तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशकर्बुरादिभेदादनेकप्रकारक भवति।
-- न्या० सि० मु०, पृ० ३८६

२. त० दी०, पृ० १४

३. न्या० सि० मु०, पृ० ३८६-३८८

४. 'तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वर शुक्लं जले, भास्वर शुक्लं तेजसि'
-- त० स०, पृ० १६

(अधिकरण) से भिन्न-भिन्न अंशों मे रहने वाले भिन्न-भिन्न रगों की सहायता से ही चित्ररूप की व्याख्या की जाती है। इसके साथ ही साथ किसी अवयवी के अवयव में रहने वाला नील, पीत आदि रग अवयवी मे अपने से भिन्न प्रकार के रंग को उत्पन्न नहीं करता। इसलिए अतिरिक्त 'चित्ररूप' को रघुनाथ शिरोमणि ने स्वीकार नहीं किया है। [१]

रघुनाथ शिरोमणि रूप की अव्याप्यवृत्तित्व को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुण जिस प्रकार कहीं-कहीं व्याप्यवृत्ति होते हैं, उसी प्रकार कहीं-कहीं अव्याप्यवृत्ति भी होते हैं। प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन में निम्नलिखित नियम के आधार पर व्याप्ति को स्वीकार किया गया है —— ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, संस्कार एवं द्वेष रूपी सविषयक आत्मगुण मे न रहने वाली जाति के अतिरिक्त अन्य कोई भी जाति यदि एक बार किसी एक व्याप्यवृत्ति पदार्थ में रह लेती है तो वह पुनः किसी अन्य अव्याप्यवृत्ति पदार्थ मे नहीं रह सकती है। [२]

उपर्युक्त नियम की प्रमाणिकता निम्न उदाहरण से सिद्ध हो जाती है —— पके हुए घड़े मे 'यह लाल है' इस प्रकार की प्रतीति होती है एव इस प्रतीति को अयथार्थ कहना निराधार होगा। परन्तु उस घड़े को तोड़ने पर उसके अन्दर काला रंग दिखाई देता है और 'यह काला है' ऐसी यथार्थ प्रतीति भी होती है। रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि इससे रूप की अव्याप्तवृत्तिता सिद्ध होती है। [३]

---

१. चित्रमपि नातिरिक्त रूप समानाधिकरणविजातीयरूपसमुदायादेव तथा विधव्यवहारोपपत्तेः नीलादेर्नीलाद्यतिरिक्तरूपाजनकत्वाच्च।

-- प० त० नि०, पृ० १४

२. रूपादिक चाव्याप्यवृत्त्यपि, सविषयावृत्तेर्व्याप्यवृत्तिवृत्तिजातेरव्यात्यवृत्तिताविरोधस्तु निष्प्रमाणिकः।

-- प० त० नि०, पृ० १३

३. पक्वे च घटे रक्तप्रतीतिर्नाप्रमा बाधकाभावात्। उपलभ्यते च भग्ने तस्मिन्नन्त· श्यामत्वम्।

-- प० त० नि०, पृ० १३

स्मृतिशास्त्रो मे भी कहा गया है —

लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे तु पाण्डुरः।
श्वेतः क्षुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते।। [१]

अर्थात् रघुनाथ शिरोमणि रूप के अव्याप्यवृत्तित्व को शास्त्र सम्मत उदाहरण द्वार सिद्ध करते हैं। स्मृति मे 'नील वृष' का लक्षण इस प्रकार किया गया है — 'लाल शरीर भूरा मुंह, भूरी पूछ तथा सफेद खुर एव सींग होने पर ऐसे वृष को 'नील वृष' कहते हैं। यही उदाहरण न्यायसिद्धान्तमुक्तावली मे नवीनो के मत को प्रस्तुत करते समय दिया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रूप गुण अपने आश्रय के एक अंश में ही रहता है। यदि 'चित्ररूप' को अतिरिक्त गुण माना जाय तो अवयवों के रूप की पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं हो सकेगी, जैसा कि 'नीलवृष' के लक्षण में निर्दिष्ट है।

निष्कर्षतः प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन में रूप को आश्रय में व्याप्यवृत्तिवाला स्वीकार किया गया है और इसी आधार पर चित्ररूप को अतिरिक्त रूप मे स्वीकार किया गया है। पके हुए घट मे रक्तरूप तथा अन्तस्थ में श्याम रूप की प्रत्यक्ष प्रतीति होने से रूप का व्याप्यवृत्तित्व असिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार स्मृतिशास्त्र भी नीलवृष के अवयवगत विभिन्न रूपो का वर्णन करती है। अतः रूप को अव्याप्यवृत्ति वाला सिद्ध करके ही रघुनाथ शिरोमणि अतिरिक्त चित्ररूप को स्वीकार नहीं करते हैं। यद्यपि नानारूप समुदाय अवयवी को चित्ररूप मे स्वीकार करते हैं। नील गुण में नाना नील, पीतादि गुण से एक चित्र रूप की प्रतीति होती है, लेकिन चित्र को अतिरिक्त रूप मे स्वीकार नहीं करते हैं।

---

१ प० त० नि०, पृ० १३

रस

एक ही बाह्यन्द्रिय से गृहीत होने वाले एवं प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष गुणों में रूप के अनन्तर रस और गन्ध दोनों गुण समान रूप से प्राप्त होते हैं। किन्तु इन दोनों में से 'गन्ध' एक ही द्रव्य में रहता है और 'रस' दो द्रव्यों में। रूप की ही भाँति 'रस' का वैशेषिक ग्रन्थों में प्राय: एक ही लक्षण प्राप्त होता है —— रसना (इन्द्रिय) से गृहीत होने वाला गुण रस हैं।[१] कुछ परवर्ती ग्रन्थों में 'मात्र' एवं 'गुण' ये दो पद और जोड़ दिये गये हैं। अत: केवल रसनेन्द्रिय से गृहीत होने वाला गुण रह है।[२]

रस गुण पृथिवी एवं जल —— इन दो द्रव्यों में पाया जाता है।[३] 'रस' जल के परमाणुओं में नित्य पाया जाता है, अन्यत्र जलीय कार्यों में अनित्य। जबकि पृथिवी के परमाणुओं और कार्यों में 'रस' अनित्य होता है। साथ ही, पार्थिव परमाणुओं में रस 'पाकज' होता हैं।[४] रस जल का विशेष गुण है। रस के कारण की जल का अन्य द्रव्यों से व्यवच्छेद संभव हो पाता है।

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार 'रस' गुण छह प्रकार का होता है —— मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।[५] 'रस' गुण के आश्रय के रूप में पृथिवी एवं जल दो द्रव्य हैं। उल्लेखनीय है कि उनमें से 'पृथिवी' तो षड्विध रस का आश्रय मानी गयी है। अर्थात् पार्थिव वस्तुओं में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त ये सभी प्रकार के रस मिलते हैं। उदयनाचार्य का मत है कि 'मधुर' के अतिरिक्त अन्य पाँचों रस केवल पृथिवी में पाये

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० ७०

२. 'रसनमात्रग्राह्यो गुणो रस:'

-- क० र०, पृ० ५६

३. प्र० पा० भा०, पृ० ७०

४. न्या० सि० मु०, पृ० ३४९

५. प्र० पा० भा०, पृ० ७०

जाते हैं। अतः 'माधुर्य' पृथवी का विशेष गुण नहीं हो सकता, वह तो जल का विशेष गुण है। [१] जल में केवल मधुर रस पाया जाता है। उसमे लवण, कटु आदि रसों की प्रतीति पार्थिव कणो के संयोग से जन्य होती है।

चित्ररस : वैशेषिक दृष्टि

रूप की ही भाँति रस के विषय में भी यह विवाद है कि हरीतकी आदि मे जहाँ कषाय, मधुर, लवण आदि नाना रसों का अनुभव होता है, वहाँ 'चित्ररस' की स्थिति माननी चाहिए या नहीं। पारम्परिक वैशेषिक दर्शन में इस चित्ररस को स्वीकृति नहीं दी गयी है, क्योंकि वैशेषिक दर्शन का मत यह है कि हरीतकी आदि को नीरस मानने में भी कोई दोष नहीं है तथा 'पृथिवी द्रव्य षडरस होता है। यह प्रावद तो उन-उन मधुर आदि रसरूप गुणों के कारण है। [२]

विश्वनाथ ने भी चित्ररस की संभावना का निषेध करते हुए कहा है कि रसादि भी अव्याप्यवृत्ति गुण नहीं है, किन्तु नाना प्रकार के रसयुक्त अवयवों से आरब्ध अवयवी में तो रस का अभाव होने से कोई क्षति भी नहीं होगी, क्योंकि वहाँ तो रसनेन्द्रिय के अवयव का रस ही ग्रहण किया जाता है; रसनेन्द्रियादि तो द्रव्य-ग्रहण में समर्थ नहीं है। इसलिए अवयवी को 'नीरस' मानने में भी किसी प्रकार की क्षति नहीं होगी। [३]

चित्ररस खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि मत

रघुनाथ शिरोमणि रस गुण को भी अव्याप्यवृत्तित्व वाला मानकर अतिक्ति चित्र रस का खण्डन करते हैं —— रस भी अव्याप्यवृत्ति है। रस के अव्याप्यवृत्ति

---

१ किरणा०, पृ० १७३

२. 'न च हरीतक्यां रसोऽपि चित्र इति वाच्यम्। हरीक्या नीरसत्वेऽपि दोषाभावात्, षड्रसत्वव्यवहारस्तु तत्तद्रसगुणकारितया।'

-- उप०, पृ० ३६९

३. न्या० सि० मु०, पृ० ३९२

होने पर तिक्त एवं मधुर अवयव से अवयवी द्रव्य के अवयवांश में रसना से योग होने पर माधुर्य रस की उपलब्धि की प्रसक्ति होगी। टीकाकार रघुदेव का कथन है कि तिक्त, मधुरादि नाना रस के अवयव से अवयवी में रस का अव्याप्यवृत्तित्व है। वहाँ व्याप्यवृत्तित्व रस को स्वीकार करने पर गौरव होगा। [१]

अभिप्राय यह है कि तिक्त, मधुर प्रभृति नाना रस विशिष्ट अवयव से उत्पन्न फल आदि में उपलब्ध नाना रस की अव्याप्यवृत्ति स्वीकार करना होगा। यदि इन सबमें अवयवीगत विजातीय नाना रस व्याप्यवृत्ति स्वीकृत हो तो अवयवीगत तिक्तावयव अवच्छेद में रसना संयोग उत्पन्न होने पर जिस प्रकार तिक्त रस का रासन प्रत्यक्ष हुआ करता है, उसी प्रकार मधुर रस का भी रासन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी।

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि विजातीय नाना रस विशिष्ट अवयव से उत्पन्न हरीतकी आदि अवयवी द्रव्य में अव्याप्यवृत्तित्व नाना रस स्वीकार करने का कोई भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि विभिन्न अवयव गत तिक्त, मधुर आदि रस स्वीकार करने पर भी विभिन्न रस का रासन प्रत्यक्ष हो सकता है। प्राचीन न्याय वैशेषिक दर्शन में यही स्वीकार किया गया है। प्राचीन मत के विरुद्ध रघुनाथ शिरोमणि का तर्क है कि 'रस को अव्याप्यवृत्ति गुण न मानने पर कड़ुए एवं मीठे अवयवों से निर्मित अवयवी के कड़ुए भाग से जीभ का स्पर्श होने पर मीठेपन की अनुभूति होनी चाहिए अथवा अवयवी मे रस के अभाव की प्रतीति होनी चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। अतः इससे रस गुण की अव्याप्यवृत्ति सिद्ध होती है।' [२]

---

१. प० खं० व्या०, पृ० ३६

२. रसोऽपि चाव्याप्यवृत्तिः। अन्यथा तिक्तमधुराभ्यामारब्धेऽवयविनितिक्तावयावावच्छेदन रसनासयोगे माधुर्योपलम्भप्रसङ्गः नीरस एव वा तत्रावायवी।

-- प० त० नि०, पृ० १५

पदार्थमंडनकार वेणीदत्त का अमिमत है कि 'तिक्त, मधुरादि नाना अवयव से उत्पन्न द्रव्य में रस की व्याप्यवृत्तित्व सभव नहीं। रस गुण अव्याप्यवृत्तित्व वाला न स्वीकार करने पर अवयव अवच्छेद से रसना संयोग होने पर माधुर्य रस अथवा नाना रस अथवा नीरस की उपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा। इस प्रकार रस की व्याप्यवृत्तित्व संभव नहीं।'[१] निष्कर्षत: रघुनाथ शिरोमणि चित्र रस को अतिरिक्त रस नहीं मानते तथा चित्र रस के खण्डन करने का आधार रस का अव्याप्यवृत्तित्व है।

स्पर्श

त्वगिन्द्रिय से ग्रहण होने वाला गुण स्पर्श है। स्पर्श 'त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्य' है, यही उसका व्यवच्छेदक धर्म है। प्रशस्तपाद ने 'स्पर्श' गुण को रूपानुविध ायी भी कहा है, जिसकी व्याख्या न्यायकन्दलीकार ने इस प्रकार की है —— 'रूपमनुविधातुमनगन्तुं शीलमस्य' अर्थात् स्पर्श गुण रूप का अनुगमनशील है, अथवा जहाँ रूप रहता है, वहाँ स्पर्श भी अवश्य रहता है।[२] व्योमवतीकार ने यह शंका उठाई है कि फिर रूपादि का स्पार्शन प्रत्यक्ष क्यो नहीं होता? इसका समाधान उन्होंने इस प्रकार किया है कि उन रूपादि में स्पर्शत्व सामान्य का अभाव होने से उनका स्पार्शन प्रत्यक्ष संभव नही। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष उसी वस्तु का होता है, जिसमें 'स्पर्शत्व' सामान्य है। पुन: प्रश्न उपस्थित होता है कि त्वगिन्द्रिय स्पर्श की प्रकाशक कैसे होती है? इसका उत्तर व्योमसिवाचार्य ने 'संयुक्तसमवाय' से दिया है। अर्थात् त्वगिन्द्रिय से संयुक्त जो द्रव्य, उसके समवाय से स्पर्श का ग्रहण होता है, क्योकि वहाँ स्पर्शोत्कर्ष की भाँति रूपोत्कर्ष का अभाव होता है।[३]

---

१. प० मं०, पृ० १६

२. प्र० पा० भा० (न्या० क० टीका सहित), पृ० २५६

३. व्योम०, पृ० ४४४

स्पर्श गुण पृथिवी, जल, तेज और वायु — इन चार द्रव्यो मे रहता है।[१] स्पर्श गुण भी नित्य एव अनित्य दोनो प्रकार का होता है। पार्थिव परमाणुओं मे अन्य गुणों की भॉति पाकज होने से अनित्य है, जबकि जल, तेज एवं वायु के परमाणुओ में यह नित्य है। अवयवी द्रव्यों मे यह कारण के गुण से जन्य होने से अनित्य है तथा अपने आश्रय द्रव्य के नाश से नाश्य भी है।

स्पर्श गुण तीन प्रकार का माना गया है — शीत, उष्ण, एवं अनुष्णाशीत।[२] इसमे से शीतस्पर्श तो जल का साधारण धर्म है तथा उष्ण स्पर्श तेज (अग्नि) का अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी तथा वायु दोनो का असाधारण धर्म है।[३]

यहॉ शंका होनी स्वाभाविक है कि जब पृथिवी एवं वायु दोनो मे 'अनुष्णाशीत' स्पर्श पाया जाता है, तो फिर 'स्पर्श' को वायु का विशेष गुण कैसे कहा जा सकता है? इस शंका का समाधान करते हुए उदयनार्चा ने कहा है कि 'उन दोनों में पाकजत्व तथा अपाकजत्व का भेद है अर्थात् पृथिवी का अनुष्णाशीत स्पर्श तो पाकज है, जबकि वायु में अपाकज तथा नित्य है। अत: इसमें अपाकजत्व रूप अवान्तर जाति का सद्भाव होने से उसकी विशेषगुणता अखण्डित रहती है।'[४]

ध्यातत्य है कि वायु तेज के सयोग से उष्ण प्रतीत होती है तथा जल के सयोग से शीत। किन्तु वस्तुत: वायु का स्वाभाविक स्पर्श न तो उष्ण है और न ही शीत और न ही वह पाक से किसी भॉति परिवर्तित होता है। यही स्वाभाविक एवं विशेष स्पर्श वायु का असाधारण धर्म है तथा इसी के आश्रय रूप मे वायु का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान होता है। वायु प्रत्यक्षगम्य है या नहीं, इस पर दार्शनिकों का मत वैभिन्य है। महर्षि कणाद ने किसी भी द्रव्य के प्रत्यक्ष हेतु

---

१ किरणा०, पृ० १८१

२. भा० परि०, कारिका १०४, पृ० ३९५, प्र० पा० भा०, पृ० ६१

३ तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाऽशीत: पृथ्वीवाथवो·।

-- त० स० (शेषराज शर्मा टीका०), पृ० २०

४ लक्षणा०, पृ० १८

तीन अनिवार्य स्थितियाँ बतायी हैं —— महत्परिमाणवत्त्व, एक से अधिक द्रव्यो से बना होना और किसी विशेष रूप से युक्त होना ।[१] इस विषय मे व्योमवतीकार का मत सर्वथा भिन्न है —— उनके अनुसार स्पर्शानुभूतिजन्य वायु का ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है। जैसे —— वायु बह रही है, वायु शीत है, वायु उष्ण, है आदि-आदि। स्पर्श के द्वारा वायु का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि इसमे न तो कोई व्याप्ति है, न अनुस्मरण और न ही परामर्श। शब्द के बिना ही उत्पन्न होने से यह ज्ञान शाब्द भी नहीं कहा जा सकता। अत: इन्द्रियानुविधानजन्य होने से वह इन्द्रियज, अपरोक्ष अथवा प्रत्यक्ष ही है।[२]

वादिवागीश्वर ने कणाद के मत का समर्थन किया है तथा वायु को प्रत्यक्ष का विषय न मानकर अनुमेय ही माना है। शंकर मिश्र, विश्वनाथ और अन्नभट्ट प्रभृति आचार्यों ने भी वायु को अनुमेय माना है। कुछ परवर्ती नैयायिकों जैसे, रघुनाथ शिरोमणि ने वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष माना है। उनके अनुसार स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा द्रव्य के 'प्रत्यक्ष ज्ञान' रूपी कार्य के लिए उस द्रव्य में केवल स्पर्श गुण को ही कारण के रूप मे स्वीकृत किया जाना चाहए, न कि उसके उद्भूत रूप गुण को कारण मानना चाहिए, जैसा कि प्राचीन न्याय-वैशेषिक आचार्यों ने माना है। रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार ऐसा मानने पर 'वायु शीतल है' इस प्रकार के स्पर्शेन्द्रिय जन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता की व्याख्या सुगमता से नहीं की जा सकती। यह लोकमान्य विचार है कि त्वचा एवं वायु के संयोग के बाद 'वायु बह रही है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परन्तु न्याय-वैशेषिक की उपर्युक्त मान्यता के अनुसार इस सर्वजन स्वीकृत 'यथार्थ प्रतीति' को भ्रमात्मक कहना होगा।[३]

---

१. 'महत्यनेकद्रव्यवत्वात् रूपाच्चोपलब्धि.'

-- वै० सू०, ४/१/६

२. व्योम०, पृ० २७२

३. द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शवत्त्वमेव प्रयोजकम्। अत एव शीतो वायुरित्यादिप्रत्ययोऽपि स्पार्शन: साधु सङ्गच्छते।

-- प० त० नि०, पृ० २०

चित्रस्पर्श : वैशेषिक मत

स्पर्शगुण का विवेचन करते हुए यह शंका उत्पन्न होती है कि चित्र रूप की भॉति चित्र स्पर्श भी मानना चाहिए या नहीं? प्रशस्तपाद एवं उनके प्राचीन व्याख्याकारों —— व्योमशिव, उदयन एवं श्रीधर ने तो चित्र स्पर्श को नही माना है। परन्तु परवर्ती आचार्यों विश्वनाथ एवं शंकरमिश्र [१] आदि का विचार है कि चित्र रूप की भाँति चित्र स्पर्श भी मानना चाहिए। अथल्ये बोडास की सम्मति है कि वस्तुतः चक्षु एवं त्वचा, ये दोनों की प्रत्यक्ष के प्रमुख कारण हैं, अतः हमारे अनुभव का विषय बनने वाले विविध रूपात्मक द्रव्यो के प्रत्यक्ष हेतु कुछ विद्धानों ने चित्र रूप एवं चित्र स्पर्श को मानते ही नहीं, उनके अनुसार 'चित्रस्पर्श' को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। ध्यातव्य है कि वैशेषिकानुसारी त्रिविध स्पर्श-विभाजन में 'चित्रस्पर्श' का कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त जहॉ स्पर्श को अनेक विध माना गया है, वहॉ चित्र स्पर्श की संभावना हो सकती है। ऐसे स्थलों पर भी चित्र-स्पर्श का नाम निर्देश उपलब्ध नही होता।

चित्रस्पर्श खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि दृष्टि

रघुनाथ शिरोमणि ने रूप के समान स्पर्श को भी अव्याप्यवृत्तित्व स्वीकार करके अतिरिक्त चित्र स्पर्श का खण्डन किया है। दीधितिकार की उक्ति है —— "स्पर्श को अव्याप्यवृत्ति स्वीकार नहीं करने पर कोमल व कठोर अवयवों से निर्मित किसी अवयवी के कोमल भाग का स्पर्श करने पर ठीक उसी स्थल पर कठोरता का भी अनुभव होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता है। इसके अतिरिक्त यह कहना भी ठीक नहीं है कि कोमल एवं कठोरता विशेष प्रकार के संयोग ही है, क्योंकि उनको विशेष प्रकार का संयोग मानने पर संयोग के आश्रयी अवयव

---

१ 'चित्रस्पर्शस्तु रूपस्थलीययुक्तया स्वीकरणीय एव'

-- उप०, पृ० ३९२ (कलकत्ता सस्करण)

चक्षुओ के द्वारा गृहीत होने से वह संयोग (कोमलता एवं कठोरता) भी चक्षुओ के द्वारा ग्राह्य होना चाहिए, पर ऐसा होना असम्भव है।'' [१]

प्राचीन न्याय–वैशेषिक दर्शन के आचार्यों की मान्यता है कि काठिन्य एवं शैथिल्य स्पर्श गुण के भेद नहीं है, बल्कि सयोग विशेष हैं। उनके मत में कठिनता एवं कोमलता नामक कोई अतिरिक्त स्पर्श नहीं है, वे विशेष प्रकार के संयोग ही हैं, क्योंकि ऑख तथा त्वाचा दोनों इन्द्रियों से इनका प्रत्यक्ष होता है। उक्त मत का खण्डन करते हुए रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि कोमलत्व एव कठिनत्व संयोग विशेष हों तो चाक्षुष प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। अत: यही मानना समीचीन है कि कोमलत्व एवं कठिनत्व संयोग विशेष नहीं हैं।

रघुनाथ शिरोमणि के मत का अनुसरण करते हुए वेणीदत्त ने भी स्पर्श के अव्याप्यवृत्तित्व को स्वीकार करके चित्रस्पर्श का खण्डन किया है। स्पर्श भी अव्याप्यवृत्ति वाला है। सुकुमार, कठिन स्पर्श के अवयवों से उत्पन्न अवयवीं मे अव्याप्यवृत्ति को स्वीकार करना सभव नहीं है। वहॉ व्याप्यवृत्तित्व को स्वीकार करते पर सुकुमार अवच्छेदक से त्वक् संयोग होने पर काठिन्य की भी उपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा। अव्याप्यवृत्ति स्पर्श को स्वीकार करने पर यह दोष नहीं है। क्योंकि सामान्यत: अव्याप्यवृत्ति स्पार्शनत्व अवच्छिन्न के प्रति स्वत: अवच्छेदक, अवच्छेद्यत्व सम्बन्ध से त्वक् सयोग के हेतुत्व की कल्पना की जाती है। [२] अत: इससे स्पर्श का अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध होता है।

गन्ध

घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने वाला गुण 'गन्ध' है। 'गन्ध' गुण केवल पृथिवी द्रव्य मे पाया जाता है तथा यही पृथिवी को अन्य द्रव्यों से व्यवच्छिन्न

---

१. स्पर्शोऽपि चाव्याप्यवृत्ति:। अन्यथा सुकुमारकठिनाभ्यामयवाभ्यामारब्धेऽवयविनि सुकुमारावच्छेदेन त्वक्सयोगे काठिन्यस्याप्युपलम्भप्रसङ्ग:। च न सुकुमारत्वकठिन्यत्वे सयोगविशेषो चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्।
-- प० त० नि०, पृ० १५

२. प० मं०, पृ० १५

करने का हेतु भी है। अत: इसका विशेष गुणत्व तो सिद्ध ही है। यद्यपि जलादि में भी गन्ध की प्रतीति होती है, किन्तु वह औपचारिक है, स्वाभाविक नहीं। क्योकि जल एव वायु में वर्तमान पार्थिव कणों से ही जन्य होती है, उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है। यदि गन्धयुक्त जल को मशीनों द्वारा शुद्ध व पार्थिव कणो से पृथक् कर दिया जाय तो उसमें निश्चित रूप से कोई गन्ध नहीं रहेगी। अत· गन्ध केवल पृथिवी का गुण है।

यहाॅ प्रश्न उठता है कि पार्थिव पाषाणादि तो सर्वथा गन्धरहित प्रतीत होते है, तो फिर गन्ध केवल पृथिवी का धर्म कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हुए शंकर मिश्र ने कहा है कि 'पाषाण में भी गन्ध रहता अवश्य है, किन्तु अनुद्भूत रहती है। पाषाण की भस्म मे वह उद्भत एवं प्रत्यक्ष होती है।[१]

प्रशस्तपाद की उक्ति है कि 'गन्ध गुण की नित्यता एवं अनित्यता भी पूर्ववत् (रूप व रस की भाॅति) जाननी चाहिए। अभिप्राय यह है कि जैसे पार्थि० परमाणुओ के रूप व रस की उत्पत्ति एवं विनाश दोनों की अग्नि के संयोग से होते हैं तथा कार्य द्रव्यो में उत्पत्ति कारण द्रव्य के गुणों से एवं नाश आश्रय द्रव्य के नाश से होता है, वैसे ही गन्ध में ही समझना चाहिए।'[२] अत: गन्ध के विषय मे उल्लेखनीय तथ्य यही है कि गन्ध नित्य होती ही नही है।[३]

गन्ध गुण को प्रशस्तपाद ने 'घ्राणसहकारी' कहा है। 'घ्राणसहकारी' से तात्पर्य है कि गन्ध गुण स्वगत गन्ध के उत्कर्ष से बाह्यगन्ध का प्रकाशक होता

---

१. क० र०, पृ० ५७-५८

२. प्र० पा० भा० (न्या० क० टीका सहित), पृ० २५६

३. 'सर्वोऽपि गन्धोऽनित्य एव'

-- न्या० सि० मु०, पृ० ३९५

है। अथवा घृतादि की गन्ध से सहकृत होकर ही घ्राणेन्द्रिय मृग के मदादि की गन्ध का ग्रहण करती है। गन्ध गुण केवल दो प्रकार का माना गया है —– सुरभि एव असुरभि।[१] 'असुरभि' का अर्थ है सुरभि का विपरीत, जैसे धर्म का विपरीत अधर्म होता है। अपितु इसका तात्पर्य 'सुरभि का अभाव' नहीं कारना चाहिए, क्योकि असुरभि एक भिन्न प्रकार का वास्तविक गन्ध है।

चित्रगन्ध : वैशेषिक दृष्टि

कुछ वैशेषिक-दार्शनिक शंकर मिश्र आदि ने यह समस्या उठाई है कि चित्र रूप की भाँति चित्रगन्ध मानना चाहिए या नहीं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'चित्रगन्ध' की स्थिति सर्वथा अकल्पनीय एवं अपमान्य है। क्योंकि गन्ध के दोनों भेद सुरभि एवं असुरभि एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं। इसलिए दोनों एक समय में एक द्रव्य में रह ही नहीं सकते। वैशेषिक उपस्कारकर्ता शकर मिश्र का स्पष्ट कथन है कि गन्ध गुण को चित्ररूप मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि सुरभि एवं असुरभि गन्धवाले विरुद्ध अवयवों से कार्य गन्ध उत्पन्न हो ही नहीं सकती।[२]

चित्रगन्ध खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि दृष्टि

तार्किक शिरोमणि चित्रगन्ध का खण्डन चित्ररस के खण्डन में दी गयी उक्तियो से ही करते हैं —– 'एतेन गन्धो व्याख्यात.'[३]

अर्थात् इस प्रकार गन्ध स्थल में भी विजातीय विभिन्न गन्ध विशिष्ट अवयवद्वय से उत्पन्न अवयवी द्रव्य में अव्याप्यवृत्तित्व गन्ध स्वीकृत होगी। सौरभ एवं असौरभ स्वरूप नाना गंधविशिष्ट अवयव से उत्पन्न पार्थिव द्रव्य

---

१ स द्विविध· -- सुरभिरसुरभिश्च।

-- त० स० (शेषराज शर्मा टीका०), पृ० १८

२ 'एव गन्धोऽपि न चित्र: सौरभासौरभवदवयवद्वयस्यानारम्भकत्वात्'

-- उप०, पृ० ३६९

३ प० त० नि०, पृ० १५

विशेष में चित्रगन्ध उत्पन्न होगा या नहीं। इस आशका के उत्तर में रघुनाथ शिरोमणि चित्रगन्ध को अस्वीकार करते हुए कहते है कि दर्शित क्रम मे नानाजातीय गन्ध विशिष्ट अवयव समूह से उत्पन्न अवयवी में चित्रगन्ध उत्पन्न नहीं होगा, परन्तु अव्याप्यवृत्तित्व से नाना गन्ध ही उत्पन्न होगा, क्योंकि नाना अवयवी द्रव्य में अव्याप्यवृत्ति रूप से नाना रूप के उत्पत्ति के अनुकूल जो-जो युक्ति पदार्शित हुई है, उस-उस युक्ति का अवलम्बन करके अवयवी द्रव्य मे अव्याप्यवृत्ति नाना गन्ध की स्वीकृत होगी।

इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि ने चित्ररूप, रस एवं स्पर्श का क्रमशः खण्डन करते हुए चित्रगन्ध का भी खण्डन, उस अवयवी विशेष में अव्याप्यवृत्ति नाना गन्ध को स्वीकार करके किया है। अतः गन्ध गुण की अव्याप्यवृत्तिता भी सिद्ध हो जाती है।

(iv) अनुद्भूत रूपादि गुणों का खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि

उद्भूत रूप, उद्भूत स्पर्श, उद्भूत गन्ध एव उद्भूत रस का लौकिक प्रत्यक्ष हुआ करता है लेकिन अनुद्भुत रूप, स्पर्श, गन्ध एवं रस का इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्ष योग्य नहीं होते। इस प्राचीन मत सिद्ध अनुद्भूत रूप रसादि का खण्डन करने के लिए रघुनाथ शिरोमणि ने कहा है —— इन्द्रिय अग्राह्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की सत्ता स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। [१] अभिप्राय यह है कि सभी ज्ञानन्द्रियॉ अपने-अपने पार्थिव भूतों मे विशेष गुण की ग्राहिका है परन्तु चक्षुरीन्द्रिय से स्वरूप ग्राह्य नहीं है। वस्तुतः उनके अतीन्द्रिय स्वरूप को स्वीकार करना अप्रयोजक है, इसलिए अनुद्भूत रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श को स्वीकार करना संभव नहीं है।

---

१. रूपादीनां च नेन्द्रियग्रहणायोग्यत्वम्।

-- प० त० नि०, पृ० ८

रघुनाथ शिरोमणि अपने कथन की पुष्टि हेतु युक्ति प्रस्तुत करते हैं —— 'वायु आदि द्रव्य में रूप के अभाव की प्रतीति सर्वलोक मान्य है। पुनः यह भी मान्य सिद्धान्त है कि केवल प्रत्यक्ष ग्राह्य पदार्थ के ही अभाव का प्रत्यक्ष संभव होता है। इसलिए पिशाच आदि के अतीन्द्रिय होने के कारण उनके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।' परन्तु अनुद्भूत रूप अर्थात् इन्द्रिय अग्राह्य रूप आदि गुणों की सत्ता स्वीकार करने पर वायु में रूप के सामान्य अभाव अर्थात् वायु मे रूप मात्र के अभाव की प्रतीति को भ्रमात्मक स्वीकार करना होगा।' [१]

वस्तुतः वायु में रूप मात्र के अभाव का यथार्थ प्रत्यक्ष सम्भव होने के लिए अनुद्भूत रूप के प्रत्यक्ष को भी स्वीकार करना होगा, क्योकि तभी उसके अभाव प्रत्यक्ष की व्याख्या की जा सकेगी। पर जो इन्द्रिय अग्राह्य हैं, उसका प्रत्यक्ष संभव मानना आत्मविरोधी होगा। अतः अनुद्भूत रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

❑❑❑

---

१. वाय्वादौ रूपं नास्तीति सार्वलौकिक प्रत्ययात्। अन्यथातीन्द्रियप्रतियोगित्वेन पिशाचात्यान्ताभावस्येव तत् सामान्याभावस्याप्रत्यक्षत्वापत्तिः।

-- प० त० नि०, पृ० ८

चतुर्थ अध्याय

सामान्य (जाति) तथा विशेष पदार्थ विमर्श

सामान्य या जाति पदार्थ

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह सर्वजनीन अनुभव का विषय है कि बाह्य जगत् की वस्तुओं में अनेकता एवं एकता, भिन्नता एवं अभिन्नता दोनो प्रकार की प्रतीतियॉ होती हैं। जहॉ एक ओर हमारे अनुभवो, की विविधता से जागतिक वस्तुओ की अनेकता सिद्ध होती है, वहीं दूसरी ओर यह भी सत्य है कि उन विविध जागतिक वस्तुओं में एक आन्तरिक समानता भी अवश्य ही अनुस्यूत रहती है। अत: जिस प्रकार हमारी विविध प्रतीतियों से वस्तुओं की अनेकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार उन प्रतीतियों का संभव होना इस बात का प्रमाण है कि भिन्न-भिन्न होते हुए भी उन वस्तुओ के मध्य कुछ अन्तर्निहित साम्य भी अवश्य है, क्योंकि यदि संसार की सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से सर्वथा विचित्र होतीं और उनमें कोई साम्य नहीं होता, तो उनका ज्ञान मानव मस्तिष्क की सामर्थ्य से बाहर ही होता। इसलिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम ससार की वस्तुओं में कुछ समान तत्त्व मानें, जिनके आधार पर उन्हे वर्गीकृत करके एक सामान्य नियम दिया जा सके। ये समान तत्त्व या साधर्म्य ही वैशेषिक दर्शन की पदावली मे 'सामान्य या जाति' कहे जाते हैं, जिनके कारण संसार की असंख्य वस्तुएँ कुछ समान वर्गों में बॅट जाती हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार ये 'सामान्य' उसी प्रकार सत्य हैं जैसे कि वे विशिष्ट व्यक्ति या वस्तुएॅ, जिनमें आश्रित होकर ये रहते हैं। अत· सामान्य की वास्तविकता को नकारने का तात्पर्य होगा सभी प्रकार के ज्ञान की सभावना का निषेध।

वैशेषिक-दर्शन की सामान्य विषयक अवधारणा बौद्ध, जैन और अद्वैत वेदान्त की सामान्य की अवधारणा से भिन्न है। बौद्ध दर्शन सामान्य के विषय में नामवाद (Nominalism) एवं अपोहवाद का प्रतिवादन करता है। चूॅकि बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद में विश्वास करता है। अत: वह सामान्य या जाति सदृश किसी नित्य पदार्थ में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार केवल व्यक्ति ही सत् है; व्यक्ति के अतिरिक्त सामान्य या जाति की नित्य सत्ता नहीं है। सामान्य नाममात्र है और उसकी कोई वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं

है। बौद्ध दर्शन अनुवृत्ति-प्रत्यय की व्याख्या करने के लिए 'अपोहवाद' का प्रतिपादन करता है। अपोह का अर्थ है, 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व'। अर्थात् किसी वस्तु की भिन्नता से भिन्न होना। अपोह किसी वस्तु के स्वरूप का द्योतक नहीं है, अपितु उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं से उसकी व्यावृत्ति का बोधक है। जैसे राम, श्याम, मोहन आदि अनेक मनुष्यों में जो 'मनुष्य', 'मनुष्य' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण उसमें विद्यमान 'मनुष्यत्व' नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, अपितु अमनुष्यव्यावृत्त या मनुष्य भिन्न सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों से भिन्न होना है। अपोह किसी वस्तु के स्वरूप का द्योतक न होकर उस वस्तु से भिन्न वस्तुओ से उसकी व्यावृत्ति के द्योतक हैं। इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। बौद्ध दर्शन का यह सिद्धान्त 'नामवाद' कहलाता है।

वैशेषिक दर्शन बौद्ध मत के अपोहवाद का खण्डन करता है और सामान्य की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करता है। उनके अनुसार 'अपोह' वास्तव में 'अन्योन्यभाव' (एक में दूसरे का अभाव) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्रीधराचार्य बौद्धों के अपोहवादी एवं नामवादी दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'हमें एक ऐसी वस्तु (सामान्य) की जानकारी है, जो सभी गायों में विद्यमान है और उन्हें अन्य पशुओ (हाथी, घोड़े आदि) से भिन्न करता है।' [१]

जैन दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त के सामान्य विषयक विचार न्याय-वैशेषिक दर्शन से भिन्न हैं। जैन दार्शनिक बाह्य जगत् में इसका आधार तो मानते हैं, किन्तु उसे नित्य नहीं मानते। जैसे, गोत्व का वस्तुगत अस्तित्व तो है, किन्तु जैनी इसे पुद्गल की एक विशेष वृत्तिमात्र मानते हैं, जो गाय, जिसमें यह सामान्य पाया जाता है, के लोप के साथ लुप्त हो जाता है। अद्वैत वेदान्ती के अनुसार व्यक्तियों के अतिरिक्त और उनसे भिन्न सामान्य की सत्ता नहीं है। व्यक्तियों का सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म ही सामान्य है, उनका आन्तरिक स्वरूप है, जिसे बुद्धि गहण करती है। इस प्रकार सामान्य बुद्धि की अवधारणा या सम्प्रत्यय (Concept) है। सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् नहीं,

---

१. न्या० क०, पृ० ३१७

अपितु अभिन्न है। सामान्य और व्यक्तियों में तादात्म्यसम्बन्ध (Relation of Identity) है।

पाश्चात्य दर्शन मे भी सामान्य की अवधारणा का पर्याप्त वर्णन प्लेटो एवं अरस्तू के दर्शन में मिलता है। प्लेटो का कथन है कि यदि सामान्य प्रत्यय न हों तो ज्ञान एवं विज्ञान असंभव हो जायेगा। सामान्य वास्तविक सत्ता है, मानव के मन की कल्पना नहीं। वह सामान्यों के एक पृथक् लोक में विश्वास करता है। सामान्य इस जगत की वस्तुओं के आदर्श रूप हैं। प्लेटो के सामानय न्याय-वैशेषिक के सामाय की तरह वास्तविक हैं। यद्यपि वैशेषिक की सामान्य विषयक अवधारणा अरस्तू के 'सामान्य-सिद्धान्त' से अधिक निकट है। वैशेषिक दर्शन अरस्तू के समान सामान्य एवं विशेष दोनों को एक ही धरातल के अन्तर्गत सत् मानते हैं। उनके अनुसार सामान्य एवं विशेष दोनों का ज्ञान अनुभवगम्य है। सामान्यों की वास्तविक सत्ता है और वे वस्तुनिष्ठ हैं।

साधारण भाषा में 'सामान्य' का अर्थ होता है —— समान विशेषता या धर्म।[१] किन्तु वैशेषिक दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में सामान्य वस्तुत: एक सत् पदार्थ है जो 'जाति' का पर्याय माना जाता है। उदाहरण के लिए, सभी मनुष्यों में पाया जाने वाला 'मनुष्यत्व' एक सामान्य या जाति है तथा यह मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व एव उसके विनाश के बाद भी विद्यमान रहता है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'सामान्य' या 'जाति' वह है जो सभी व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहता है एव नित्य है। सूत्रकार कणाद ने 'सामान्य' एव 'विशेष' इन दोनों पदार्थों को अनुवृत्ति और व्यावृत्ति रूप बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध किया है।[२] कन्दलीकार ने सामान्य को

---

१. कोशग्रन्थों मे सामान्य का यही लक्षण दिया गया है --

(क) 'समानस्य भाव: ष्यञ्। सादृश्यप्रयोजकधर्मे।' वाच० (षष्ठो भाग:), पृ० ५२८२

(ख) 'सामान्य, त्रि। समानस्यभाव: समान + ष्यञ। अनेक सम्बन्ध्येकवस्तु। साधारणम् द्रव्यमर:।'
-- श० क० द्रु० (पंचमो भाग:) पृ० ३३३

२. 'सामान्य विशेष इति बुद्ध्येपक्षम्।' -- वै० सू०, १/२/३

पारिभाषित करते हुए कहा है —— 'अत्यन्त विभिन्न दो वस्तुओं में जिस एक वस्तु के रहने से एक आकार की प्रतीति होती है, उसी को सामानय कहते है।' [१]

न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य को अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध करने के लिए हमारे अनुभव एवं उसके द्वारा लाघव-युक्ति का आश्रय लिया गया है। जैसे - जब भी हम किसी मनुष्य या पशु-विशेष को देखेते हैं तब हमारा यह अनुभव अन्य बातो में पूर्वानुभव से भले ही कितना भिन्न हो, किन्तु यह ज्ञान तो निश्चित रूप से समान रहता है कि 'यह एक मनुष्य है' अथवा 'वह एक मृग है।' अत· 'मनुष्यत्व' एवं 'पशुत्व' के इन भिन्न-भिन्न अनुभवों में जो समानता अन्तर्निहित रहती है, उसका आध ार यही 'सामान्य' या 'जाति' है। अत: लाघव न्याय से सिद्ध होता है कि यह 'मनुष्यत्व' या 'पशुत्व' रूप सामान्य एक, नित्य एवं सभी मनुष्यों वा पशुओं से अभिन्न सम्बन्ध द्वारा समवेत एक पदार्थ है। यही वैशेषिक दर्शन का सामान्य है।

वैशेषिक दर्शन में सामान्य पदार्थ दो प्रकार का माना गया है —— पर सामान्य एव अपर सामान्य। [२]

(i) पर सामान्य या सत्ता जाति की सिद्धि : न्याय-वैशेषिक मत

पर सामान्य को सत्ता भी कहा गया है। अन्य शब्दों में इसे व्यापक सामान्य भी कहा जा सकता है। यद्यपि वैसे तो सत्ता जाति प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, फिर भी जो लोग उसे प्रत्यक्षवेद्य नहीं मानते, उनकी सन्तुष्टि के लिए भाष्यकार प्रशस्तपाद ने यह अनुमान प्रस्तुत किया है —— 'जिस प्रकार नील चर्म, नील वस्त्र एवं नील कम्बलों में परस्पर विभिन्नता रहते हुए भी नील रंग के सम्बन्ध से उनमें से प्रत्येक मे 'यह नील है' इस प्रकार की प्रतीतियॉ होती हैं, उसी प्रकार परस्पर विभिन्न द्रव्यों, गुणो और कर्मों मे से प्रत्येक मे 'यह सत् है' इस एक आकार की प्रतीति होती है, वही वस्तु है सत्ता। इस सत्ता जाति के सम्बन्ध से 'यह सत् है, यह सत् है' इत्यादि आकारों

---

१. न्या० क०, पृ० २९

२. न्या० सि० मु०, पृ० ५५

के अनुवृत्तिप्रत्यय ही हो सकते हैं व्यावृत्तिप्रत्यय नहीं। अत: सत्ता सामान्य ही है, विशेष नही।' [१]

मानमनोहरकार ने सत्ता जाति की सिद्धि इस प्रकार की है — 'विवादास्पद द्रव्य स्वसमान जाति वाले कार्यों का समवायिकारण होता है, क्योंकि समवायिकारण है, जैसे 'द्रव्य'। [२] तात्पर्य यह है कि जैसे पृथिवी के घट, पट आदि कार्यों में समानजातीयता की उपपत्ति के लिए पृथिवीत्व जाति माननी पड़ती है, वैसे ही द्रव्य के कार्यभूत द्रव्य, गुण और कर्म में साजात्य स्थापित करने के लिए सत्ता जाति माननी पड़ती है। उक्त अनुमान मे स्पर्शक्त्व धर्म को उपाधि नहीं कहा जा सकता, चूँकि ऐसा कहने वाले विपक्षी के मत से अन्तिम अवयवी घटादि में स्पर्शवत्व रहने पर भी साध्य नहीं रहता। अत: वह साध्य का समव्याप्त नहीं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार तो व्याप्ति-ग्रहण काल में सत्ता की प्रतीति होने पर ही अन्यत्र उसकी सिद्धि हो सकेगी, क्योकि उपाधि दोष व्याप्ति का विघटक होने के कारण व्याप्ति ग्रहण के उत्तरकाल मे होता है तथा पक्ष आदि की व्यवस्था तो व्याप्ति की उत्तरकालभावी होती है। सत्ता को छोड़कर अन्त्यावयवी में साध्याभाव होने पर भी उपाधि रह सकती है। [३]

सत्ता नामक पर सामान्य द्रव्य, गुण एव कर्म इन तीन पदार्थों में ही पाया जाता है, इसलिए इसे द्रव्यादित्रिकवृत्ति भी कहा गया है। [४] तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों से अधिक अर्थात् सामान्यादि सहित छ: पदार्थों या अभाव को भी मिला लेने पर सात पदार्थों में रहने वाली कोई जाति मानी ही नही जाती, क्योकि सामान्य पदार्थ केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीन पदार्थों मे ही

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० २७६-२७७

२ 'विवादपद द्रव्य समानजातीयसमवायिकारणम्, समवायिकारणत्वात् मृद्धत्।'

-- मा० मनो०, पृ० ११७

३ मा० मनो०, पृ० ११७

४ 'द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।'

-- भा० परि०, कारिका ८, पृ० ५५

समवाय सम्बन्ध से पाया जाता है। अत: न्याय-वैशेषिक मतानुसार द्रव्य, गुण एव कर्म इन तीन पदार्थों मे रहने वाली सत्ता जाति सबसे बड़ी जाति है। परन्तु यहाँ उल्लेखनीय यह है कि सत्ता पद का प्रयोग केवल पारिभाषिक अर्थ मे ही किया जा रहा है, क्योकि साधारण भाषा में तो सत्ता का अर्थ अस्तित्व ही लिया जाता है और अस्तित्व तो वैशेषिक दर्शन के अनुसार छहों पदार्थों में पाया जाने वाला धर्म है। यहाँ तक कि जब परवर्ती न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में अभाव को भी सप्तम पदार्थ मान लिया गया, तब उसे भी सत् अर्थात् अस्तित्वमुक्त कहा गया और उसका सर्वथा असत् शशश्रृग आदि से भेद भी स्थापित किया गया। अत: यहाँ सत्ता को द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहने वाली जाति कहा जा रहा है, तब यह ध्यातव्य है कि सत्ता अस्तित्व का पर्याय नहीं है, अपितु लाक्षणिक पद है जो द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनों पदार्थों में रहने वाली सबसे बड़ी जाति है, जबकि अस्तित्व केवल एक उपाधि है।

आचार्य श्रीधर ने पूर्वपक्ष की ओर से शंका की है एवं उनका सिद्धान्तमतानुसार समाधान भी प्रस्तुत किया है। जैसे-यदि सत्ता जाति केवल द्रव्य, गुण और कर्म में ही रहने वाली मानी जाय तो फिर शेष चारों पदार्थो से उन तीनों पदार्थो का अन्तर नहीं मानना पड़ेगा? तथा साथ ही, क्या इससे यह व्यक्त नहीं होता कि केवल प्रथम तीन, पदार्थ ही सत् है, शेष चारों असत्? न्यायकन्दलीकार का उत्तर है कि द्रव्य, गुण एव कर्म-इन तीन पदार्थो को अन्य पदार्थो से पृथक् नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभाव को छोड़कर शेष तीनों पदार्थो की भी 'स्वरूपसत्' प्रतीति तो होती ही है। अत: द्रव्यादि सत्त्व की प्रतीति में कोई आकारगत भेद नहीं है। [१]

सत्ता जाति अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु ही है, व्यावृत्तिप्रत्ययहेतु नहीं-ऐसा नैयायिको का मत है। इस पर विपक्षी की ओर से यह आरोप हो सकता है कि अभाव में तो किसी भी प्रकार की सत्त्वबुद्धि नहीं होती। अत: सत्ता जाति अपने आश्रयीभूत द्रव्य आदि में

---

१. 'यद्यप्येषा सामान्यादिभ्यो न्यावर्त्तते तथापि न तेभ्य: स्वाश्रयं व्यावर्त्तयितुं शक्नोति। तेषामपि स्वरूपसत्तासम्बुद्धिसंवेद्यत्वात्।'

-- न्या० क०, पृ० ३०-३१

अभावभिन्नत्व रूप व्यावृत्तिबोध तो उत्पन्न कर ही सकती है। इसलिए सत्ता जाति भी द्रव्यादि जातियो की तरह सामान्य और विशेष दोनो हो सकती हैं, यह मत तो सिद्धान्ती तो मानना ही पड़ेगा। इस आरोप का निराकरण करते हुए श्रीधराचार्य का मत है कि 'अनुवृत्तिप्रत्ययं का अर्थ है, अनेक विभिन्न भाव पदार्थो मे एकाकारता की प्रतीति एवं 'व्यपावृत्तिबुद्धि' शब्द का अर्थ है, एक या अनेक भावो में दूसरे भाव पदार्थ से भिन्नत्व की बुद्धि। इसी व्यपावृत्तिबुद्धि का कारण है 'विशेष'; विशेष का यह लक्षण सत्ता जाति में नहीं है। अत: द्रव्य आदि में अभावभिन्नत्व बुद्धि प्रयोजक होने पर भी सत्ता सामान्य ही है, विशेष नहीं।[१]

इस प्रकार न्यावैशेषिक मतानुसार सत्ता जाति केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीन पदार्थो में ही पायी जाती है। सत्ता केवल अनुवृत्ति की ही हेतु है, व्यावृत्ति की नहीं। सामान्य आदि शेष पदार्थों में भी सत्त्व की प्रतीति होती है, किन्तु सत्ता के द्वारा नहीं, बल्कि स्वरूपसत्ता से ही होती है।

प्रभाकर मिश्र एवं उनके अनुयायियो ने वैशेषिक सम्मत जाति परिकल्पना को यथावत् स्वीकार किया है, किन्तु उन्हें सामान्य का प्रथम भेद 'सत्ता' या 'पर सामान्य' मान्य नहीं है। इस सम्बन्ध मे शलिकनाथ का कथन है कि 'जहॉ भी प्रतति हो, वहॉ जाति को तो स्वीकार कर लेना चाहिए, किन्तु हमारे अनुभव मे ऐसी कोई जाति नहीं, जो एक पर्वत एवं सरसों तथा रस व गन्ध दोनों में तादात्म्य स्थापित कर सके। अत: 'सत्ता' नामक पर सामान्य को मानने का हमारे पास कोई आधार नही है'।[२] यहॉ ध्यातव्य है कि सत्ता का तात्पर्य प्रभाकर मत मे केवल अस्तित्व या स्वरूपयोग्यता हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी सामान्य, विशेष एवं समवाय इन तीनो पदार्थो की सत्ता का तात्पर्य केवल उनका सत् होना ही है; अत· द्रव्य, गुण एव कर्म के विषय में भी ऐसा ही मानना चाहिए–यही प्रभाकर मीमांसक का मत है।

---

१ न्या० क०, पृ० ३१

२. 'पूर्वरूपामुकारिणी यदि धीरुदीयते, ततोऽभ्युपेयेतैव जाति:'

-- प्र० प०, पृ० ९७-९९

उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए श्रीधराचार्य ने कहा है कि – 'यद्यपि एक पर्वत एव सरसो के दाने के आकार मे बहुत अन्तर है तथापि वे सर्वथा भिन्न भी नहीं है, क्योंकि उनमें एक ऐसा सादृश्य भी अवश्य है जिसके कारण उसकी सत्ता की प्रतीत होती है। यद्यपि इतना अन्तर अवश्य है कि एक गाय को देखने के बाद दूसरी गाय देखने पर सादृश्य की बृद्धि शीघ्र उत्पन्न होती हैं, क्योकि दोनों गायों के अवयवों में बहुत से सादृश्य है किन्तु पर्वत एवं सर्षप के अवयवो में उतने सादृश्य नहीं। अत: पर्वत को देखने के बाद सर्षप में सादृश्य की बृद्धि देर से उत्पन्न होती है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि पर्वत एव सर्षप दोनो मे रहने वाली जाति परिस्फुट नहीं है, जैसे इंडिया को देखने के बाद पुरवे की मिट्टी मे रहने वाली पृथियीत्व जाति की उपलब्धि होती है। [१]

न्यायकन्दलीकार ने मीमांसक के इस मत का भी खण्डन किया है कि 'सत्ता का तात्पर्य अस्तित्व या स्वरूप योग्यता है। क्योंकि वह तो वस्तुओं की विशेषताओं की भॉति ही भिन्न–भिन्न स्वरूप वाली होगी, उससे 'सत्ता' जैसी सामान्य प्रतीति हो ही नहीं सकती। अत: यदि 'सत्ता' सामान्य या जाति को स्वीकार नहीं किया जायेगा तो वस्तुओं के सत्त्व की भी व्याख्या न हो सकेगी।' [२]

बौद्ध दार्शनिकों के इस मत का भी श्रीधराचार्य ने खण्डन किया है कि अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है; चूॅकि इस पक्ष मे भी अन्योन्याश्रयत्व है। शशविषाणादि असत् पदार्थो में सत्त्व इसलिए नहीं है कि उनमे अर्थक्रियाकारित्व नहीं है और उनमें अर्थक्रियाकारित्व इसलिए नहीं है कि वे सत् नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि घट आदि पदार्थो की सत्ता जिस अर्थक्रिया के अधीन है, उसके सत्त्व की प्रयोजिका कोई दूसरी अर्थक्रिया नही है। अत: घट आदि वस्तुओं के सत्त्व ही प्रयोजिका अर्थक्रिया के असत् होने के कारण घट आदि वस्तुओं की सत्ता ही उठ जायेगी। [३] इस प्रकार उक्त मत के

---

१ न्या० क०, पृ० ३३

२ वही पृ० ३१

३ न्या० क०, पृ० ३१–३२

दोषपूर्ण होने से यह मत सीमचीन है कि 'सत्ता' सामान्य या 'पर' सामान्य द्रव्य, गुण एवं कर्म पदार्थो मे रहने वाली जाति ही है।

सत्ता जाति खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि

रघुनाथ शिरोमणि सत्ता नामक सामान्य का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'द्रव्य, गुण और कर्म में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली, प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रतिपादित 'सत्ता' जाति नहीं है।' [१] रघुनाथ ने 'गुणकिरणावलीप्रकाश दीधिति' में जाति को 'पदार्थ विभाजक-उपाधि' के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार यह उपाधि समस्त भाव और अभाव पदार्थ का अनुगत अखण्ड धर्म हैं, अत: द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनो पदार्थो मे अनुगत प्रतीति कराने वाली सत्ता के स्थान पर छहों पदार्थों में रहने वाले 'भावत्व' तथा अभाव पदार्थ में रहने वाले 'अभावत्व' विशेष अखण्ड धर्म को स्वीकार करना उचित है।

नव्य नैयायिक लौगाक्षिभास्कर ने सामान्य का द्विविध विभाजन-जातिरूप और उपाधिरूप किया है। इनमें से साक्षात्सम्बद्ध सामान्य जाति रूप है। जैसे, सत्ता, द्रव्यत्व आदि। परस्पर असम्बद्ध सामान्य उपाधिरूप है। जैसे, प्रमेयत्व, ज्ञेयत्व आदि।

जगदीश तर्कालंकार ने सामान्य को तीन प्रकार का मानते हैं-

व्यापक - सत्ता

व्याप्य - घटत्वादि

व्याप्य-व्यापक - द्रव्यत्वादि।

न्याय-वैशेषिक में द्रव्य नौ प्रकार का स्वीकार किया गया है, जिसमें से आकाश, दिक्, काल, तथा आत्मा विभु होने के कारण अतीन्द्रिय हैं तथा मन भी अणु रूप में होने से प्रत्यक्षगोचर नहीं है। इसी प्रकार प्राचीन न्याय में वायु नामक द्रव्य मे

---

१ 'सत्ता च न द्रव्यगुणकर्मवृत्तिरेका प्रत्यक्षसिद्धा जाति·'

-- प० त० नि०, पृ० २६

उद्भूत रूप न होने के कारण उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष संभव नहीं है। शेष-पृथ्वी, जल एव अग्नि ये तीन द्रव्य ही चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य हैं। अतः कुछ द्रव्यो के अतीन्द्रिय एव कुछ द्रव्यो के प्रत्यक्ष होने पर उसमें 'द्रव्यत्व' को प्रत्यक्ष सिद्ध कैसे कहा जा सकता है। अतः इससे सत्ता का अप्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है।

रघुनाथ शिरोमणि गुणत्व जाति के प्रत्यक्षत्व का खण्डन करने में निम्न तर्क प्रस्तत करते हैं- धर्मादि के अतीन्द्रिय होने से तद्गत जाति भी प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। [१] यहाँ 'आदि' पद से गमन एवं परमाणु की क्रिया का भी ग्रहण करना चाहिए। प्राचीन न्याय में धर्म नामक गुण के विषय में कहा गया है —— धर्म पुरूष का गुण है। वह अपने उत्पादक जीव के प्रिय, हित एवं मोक्ष का कारण है तथा अतीन्द्रिय है, इसी प्रकार अधर्म आत्मा का गुण है, वह अधर्माचरण करने वाले कर्त्ता के दु:ख एवं सुख के साधनों का कारण है, वह भी अतीन्द्रिय है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के समय परमाणुओं में क्रिया होती है। परमाणु एवं तद्गत क्रिया अतीन्द्रिय मानी गयी है। फलतः अतीन्द्रिय गुणों की जाति प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती।

प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि अतीन्द्रिय पदार्थ मे विद्यमान रहने से सत्ता का प्रत्यक्ष सभव न होने पर भी 'सत् इदं द्रव्यम्', अयं गुणः सत्', 'सत् इंद कर्मः' इत्यादि सत् व्यवहार के कारण रूप में सत्ता जाति सिद्ध हो जाती है। [२] प्राचीन नैयायिको की इस युक्ति का खण्डन करते हुए रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं-'जाति आदि का सत् व्यवहार होने पर भी सामान्य को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जा सकता। [३]

---

१. 'धर्मादिनामतीन्द्रियत्वेन तत्र प्रत्यक्षायोगात्'

-- प० त० नि०, पृ २६

२. वै० सू०, १/२/७

३. 'जात्यादावपि सद्व्यवहाराच्च'

-- प० त० नि०, पृ० २६

अभिप्राय यह है कि द्रव्य, गुण एवं कर्म के अतिरिक्त जाति एव समवाय पदार्थ के लिए भी 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ –'गोत्वं सत्', 'घटत्वं सत्', कारणत्वं सत्, आदि। पुनः 'भूतले घटोऽस्ति', 'पेटिकाया पटोऽस्ति', 'शालायां गौ अस्ति' इत्यादि स्थलों में 'अस्ति' शब्द का प्रयोग वर्तमान काल का सूचक होता है। वस्तुतः सत्ता और भावत्व एक ही पदार्थ हैं, जो अभाव से भिन्न है, वह भाव है। अर्थात् अभाव से भिन्न होने का धर्म ही भावत्व है। अतः उक्त व्यवहार के विषय सत्ता को भावत्व रूप कहना उचित है।

प्राचीन न्याय-वैशेषिक में सत् द्रव्यम्, सत् गुणः सत कर्मः इस प्रकार 'सत्' की समानाकार प्रतीति सामान्य नामक पदार्थ के द्वारा स्वीकार की गयी है। इस पदार्थ के आश्रय द्रव्य, गुण एव कर्म ये तीन ही हैं। इसके विपरीत रघुनाथ शिरोमणि 'सत्' का शब्दिक अर्थ —— वस्तुओं की विद्यमानता से लेते हैं। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष इन छहों को भाव पदार्थ कहा गया हैं। अतः रघुनाथ शिरोमणि ने भी 'सत्' की प्रतीति द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीन पदार्थों के स्थान पर छहों पदार्थों मे स्वीकार करके उनमें 'भावत्व' धर्म की एकाकार प्रतीति को स्वीकार करते हैं।

महर्षि कणाद ने भी सत्ता जाति के लिए 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है-'भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यम्।' [१] श्रीधराचार्य ने भी अनुवृत्ति प्रत्यय तथा व्यावृत्ति प्रत्यय की व्याख्या- क्रमश· भाव पदार्थो में एकाकार प्रतीति तथा दूसरे भाव पदार्थो से भिन्नत्व की प्रतीति, भाव पदार्थो के सन्दर्भ में ही की हैं। केवल द्रव्य, गुण एवं कर्म भाव पदार्थो के रूप में नहीं। इस भाव धर्म के अनुगत होने के कारण इसमें 'भावत्व' सामान्य सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'अभाव' पदार्थ के भी सत् होने के कारण 'अभावत्व' को भी पदार्थ का विशेष धर्म स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सातों पदार्थों में विद्यमान भावत्व और अभावत्व धर्म विशेष जाति नहीं है, अपितु उस पदार्थ की अखण्डोपाधियाँ हैं।

---

१. वै० सू०, १/२/४

रघुनाथ शिरोमणि के इस भावत्व के स्वरूप की तुलना प्रशस्तपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित छह पदार्थो के साधर्म्य से की जा सकती है। पदार्थों के तीन साधर्म्य हैं–अस्तित्व, अभिधेयत्व एवं ज्ञेयत्व। [१] अस्तित्व शब्द का अर्थ है–'स्वरूप' अर्थात् वस्तुओं का अपना असाधारण रूप ही अस्तित्व है। यह अस्तित्व द्रव्यादि छहो पदार्थों में रहने वाला धर्म है। अभिधेयत्व शब्द का अर्थ है–अभिधान अर्थात् शब्द से कहे जाने की क्षमता, यह भी वस्तुओ का स्वरूप ही है। वस्तुओं का यह स्वरूप ही अवस्थाओं के भेद से अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व प्रभृति शब्दो से कहा जाता है।

इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि के मत में सत् की प्रतीति का विषय भावत्व ही है। अतएव सामान्यादि में भी सत् का व्यवहार होने से द्रव्यादि त्रिकवृत्ति सत्ता जाति अतिरिक्त नहीं है। इस प्रकार 'सत्ता' नामक पर सामान्य का खण्डन करके रघुनाथ शिरोमणि ने 'सामान्य' के अतिरिक्त पदार्थतव का निराकरण किया है।

(ii) गुणत्व जाति सिद्धि : न्याय–वैशेषिक मत

न्याय–वैशेषिक दर्शन में रूपादि गुणों मे गुणत्व की अनुगत प्रतीति होने के कारण इन्हे 'गुण' वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। रूप में रूपत्व की प्रतीति की अपेक्षा रूपादि में गुणत्व ही एकाकार प्रतीति ही चौबीस गुणो में एक गुणत्व जाति को सिद्ध करती है। इसलिए गुणत्व जाति के साथ सभी गुणो का सम्बन्ध माना जाता है। [२] उदयनाचार्य का कथन है कि ''गुणत्व नामक सामान्य विशेष के साथ गुणो का समवाय सम्बन्ध होने से वे अन्य द्रव्य आदि पदार्थो से भिन्न हैं।'' [३]

---

१. 'षण्णापपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि'

-- प्र० पा० भा० (न्या० क० टीका), पृ० ४१

२. 'रूपादीना गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो'

-- प्र० पा० भा०, पृ० ६०

३. गुणत्व नाम सामान्य विशेष:, तेनाभिमत: सम्बन्ध: समवायलक्षण·। तेन गुण इतरेभ्योभिद्यते गुण इति वा व्यवहर्तव्य· गुणत्वाभिसम्बन्धात्।

-- किरणा०, पृ० १०४

भासर्वज्ञ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के आधार पर गुणो के प्रत्यक्षत्व को स्पष्ट करते हैं-जिस प्रकार चक्षु का स्पार्शन संयोग से घटादि द्रव्य का ज्ञान होता है। उसी प्रकार घटादि के घटत्व, संख्या, परिमाण आदि का ज्ञान संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है। यहाँ आदि पद से उसमे समवेत सामान्य वर्ग समूह का बोध होता है। यथा-चक्षु से ही रूप का ज्ञान होता है, स्पार्शन से स्पर्श का, घ्राण से गन्ध का, सन से ही रस का, श्रोत्र से ही शब्द का तथा मन से सुखादि का ज्ञान होता है। अभिप्राय यह है कि चक्षु से संयुक्त घट आदि द्रव्य में समवेत सामान्य, विशेषों की सख्या, परिमाणादि का चाक्षुष ज्ञान होता है। इसी प्रकार स्पार्शन से संयुक्त द्रव्य तथा उसमें समवेत सामान्य एवं विशेष गुणों का भी प्रत्यक्ष उसी इन्द्रिय से होता है।

श्रीधराचार्य का मत है कि 'सामान्य (जाति) की प्रतीति के लिए व्यक्ति के ज्ञान की तरह सामान्य वाचक शब्द की (व्यक्ति में) शक्ति का ज्ञान भी कारण है। जैसे-ब्राह्मणत्व जाति के ज्ञान में योनि सम्बन्ध का ज्ञान कारण है। ब्राह्मणत्व जाति भी ब्राह्मण जातीय माता-पिता से उत्पन्न व्यक्ति में उत्पत्ति के समय से ही सम्बद्ध रहती है, किन्तु क्षत्रिय आदि व्यक्तियों के अवयवों के साथ ब्राह्मण जातीय व्यक्तियो के अवयवों का अत्यन्त सादृश्य होने के कारण केवल प्रथम दर्शन में ही क्षत्रिय आदि व्यक्तियों के विलक्षण रूप से ब्राह्मणों की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि ब्राह्मणत्व जाति व्यक्तियो में सम्बद्ध रहने पर भी उद्भूत नहीं है। जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह व्यक्ति ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न है, तब उस व्यक्ति के प्रत्यक्ष के साथ ही ब्राह्मणत्व जाति का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे कि रत्नों की परीक्षा में निपुण व्यक्ति रत्नों की जातियों को प्रत्यक्ष ही देखता है एवं उस परीक्षा से अनभिज्ञ व्यक्ति रत्नो की जातियो को समझाने पर भी नहीं समझा पाता है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि रत्नो की भिन्न जातियाँ भी नहीं है या उस निपुण पुरूष का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष ही नहीं है। [१]

---

१. न्या० क०, पृ० ३४-३५

जयन्तभट्ट के अनुसार प्रत्यक्ष किसी व्यक्ति के उपदेश की सहायता से ही संभव होता है। जैसे पहली बार तो 'गोत्व' का ग्रहण भी किसी व्यक्ति के बताने पर ही होता है, वैसे ही 'ब्राह्मणत्व' आदि का ज्ञान भी किसी व्यक्ति के बताने पर ही हो जायेगा। अत: यह कहना उचित नहीं है कि 'ब्राह्मणत्व' आदि जातियों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योकि उसमें किसी दूसरे व्यक्ति के निर्देश की आवश्यकता होती है। [१]

विश्वनाथ आदि दार्शनिक गुणत्व जाति को प्रत्यक्ष-प्रमाण से न सिद्ध करके अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध मानते है। उनका कथन है कि 'द्रव्य और कर्म से भिन्न जातिमान् पदार्थ में जो कारणता है, वह किसी धर्म से युक्त है। क्योंकि कोई भी कारणता निरवच्छिन्न नहीं हो सकती। रूपत्व आदि अथवा सत्ता अवच्छेदक नहीं हो सकती, क्योंकि रूपत्व आदि धर्म न्यूनदेशवृत्ति है तथा सत्ता अधिकदेशवृत्ति धर्म है। अत: चौबीस गुणों में रहने वाला एक अनुगत धर्म होना चाहिए, जो धर्म अनुगत रूप में मान्य होगा, वही गुणत्व है। [२] जैसे दण्ड में रहने वाली घट की कारणता दण्डत्व रूप धर्म से अवच्छिन्नता ही होती है, निरवच्छिन्नता नहीं होती, वैसे ही द्रव्य कर्म से भिन्न जो सामान्याश्रय उसमें रहने वाली कारणता वह भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्नता होगी, क्योंकि कारणता निरवच्छिन्न नहीं होती। अत: चौबीस गुणों में रहने वाली वह कारणता अवच्छिन्नता होगी और उसी अनुगत धर्म को गुणत्व कहते हैं।

शंकर मिश्र ने गुणत्व जाति की सिद्धि में अधोलिखित अनुमान प्रस्तुत किया है-

द्रव्यत्वं कर्मावृत्तिसत्ता साक्षाद्व्याप्यजातिभिन्नं

मेयत्वात्

घटवत्

---

१. न्यायमञ्जरी (प्रथम भाग), पृ० २०४

२ न्या० सि० मु०, पृ० २०६

दृष्टान्तो द्रव्यत्वभिन्नत्वेनैव सिद्धिः
पक्षधर्मता बलात् गुणत्वसिद्धिः।[१]

गुणत्व जाति खण्डन : रघुनाथ शिरोमणि मत

रघुनाथ शिरोमणि सत्ता जाति की भाँति गुणत्व जाति का भी खण्डन करते हैं। उन्होंने अनुगत प्रतीति के आधार पर सिद्ध गुणत्व जाति का खण्डन करते हुए कहते हैं–"इस प्रकार रूपादि चौबीस गुणो में प्रत्यक्ष सिद्ध एक गुणत्व जाति नही है।"[२] तात्पर्य यह है कि रूप गुण, रस गुण, गन्ध गुण–इस प्रकार के चौबीस गुणों में अनुगत बुद्धि के आधार पर गुणत्व जाति को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नही माना जा सकता। उक्त कथन को पुष्टि करते हुए रघुनाथ शिरोमणि ने कहा है–

'अतीन्द्रियेषु प्रत्यक्षायोगात्'[३]

टीकाकार रामभद्रसार्वभौम ने भी गुणत्व जाति का खण्डन करते हुए कहा है कि 'अतीन्द्रिय यह उपलक्षण है। इन्द्रियों द्वारा अनुद्भूत रूप, रस आदि में एक जाति का अनुभव नहीं होता है।'[४] उमापति उपाध्याय ने भी रामभद्र के मत का समर्थन किया है कि गुरुत्व, अदृष्टादि अतीन्द्रिय गुणो को भी स्वीकार करने से गुणत्व जाति सर्वत्र प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ ने श्रीधराचार्य की उस युक्ति का खण्डन करते हैं, जिसमें उन्होंने रत्नत्व के समान गुणत्व के प्रत्यक्षत्व को सिद्ध किया है। विश्वनाथ के अनुसार वैशेषिकाचार्यों का यह व्यामोह है। इस प्रकार गुणत्व जाति को सिद्ध करने

---

१. कणादरहस्य, पृ० ५१

२ 'एवं गुणत्वमपि न रूपादि चतुर्विंशतावेका प्रत्यक्षसिद्धाजाति '
-- प० त० नि०, पृ० २७

३. प० त० नि०, पृ० २७

४. 'अतीन्द्रियेष्विति उपलक्षणम्, ऐन्द्रिकेष्वपि रूपरसादिष्वेकजात्याननुभवादित्यपि द्रष्टव्यम्।'
-- प० त० नि० प्र०, पृ० ७५

से अतिप्रसग होगा, क्योकि तब रत्नत्व आदि को भी पृथक् जाति स्वीकार करना होगा।[१]

प्राचीन नैयायिकों ने अनुमान प्रमाण से भी रूप, रस आदि गुणो में गुणत्व जाति की सिद्धि करते हैं। रघुनाथ शिरोमणि प्राचीन नैयायिको के इस मत का खण्डन निम्नलिखित उक्ति से करते हैं–

'कार्यता का अवच्छेदक एक धर्म न होने पर भी जो जिस किसी भी एक धर्म के सन्दर्भ में अनुगत कारणता की कल्पना के उक्त कारणता के अवच्छेदकत्व रूप हेतु के द्वारा अनुगत जाति सिद्ध करने पर जाति 'प्रसंग दोष' तथा 'जातिसङ्कर दोष' होगा।'[२]

तात्पर्य यह है कि एक अनुगत कार्यता का अवच्छेदक धर्म न रहने पर भी यदि जिस किसी भी धर्म के सन्दर्भ से अर्थात् द्रव्य, कर्म, भिन्न, सामान्य के आश्रय वृत्तित्व रूप धर्म के द्वारा अनुगत कारणता की अवच्छेदकत्व रूप जाति कल्पित होती है, तब इस प्रकर से नाना जाति कल्पना की प्रसक्ति होगी। इस प्रसक्ति की इष्ठापत्ति करने पर अनिवार्य रूप से जाति संकर प्रसंग उपस्थित होगा।

दिनकरीकार भी अनुमान सिद्ध गुणत्व जाति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'समस्त गुणो' में साधारण एक कारणता नहीं है। अत: उसके अवच्छेदकता से गुणत्व जाति की सिद्धि नही हो पाती। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि चौबीस गुणो में प्रत्येक मे जो कारणता है, उसकों ही पक्ष बनाकर, उस प्रकार समस्त कारणतावच्छेदकता

---

१ 'तदुक्त रत्नतत्वमिव गुणव्यपदेशापेक्षेण चक्षुरादिना प्रत्यक्षएव प्रतीयत इति तु स्वशिष्यव्यामोहनमिति परिभाषातु न जातिसाधिका। अति प्रसंगात्।'

--प० तत्वा० (पाण्डुलिपि), पृ० १३०

२ 'एकस्य कार्यतावच्छेदकस्य विरहेऽपि येन केनापि रूपेण कारणत्वाद्यनुगम्य जातिकल्पने चातिप्रसङ्गगे जातिसङ्करप्रसङ्गश्चेति दिक्।'

-- प० त० नि०, पृ० २७

से गुणत्व जाति सिद्ध हो जाती है। ऐसा होने पर जो द्रव्य, कर्म रूप भिन्न सामान्यवत जो कारणता है, वह कारणता कुछ धर्म से अवच्छिन्न है। इस प्रकार के अनुमान से भिन्न-भिन्न गुणों में वैजात्य की भी सिद्धि का प्रसंग उपस्थित होगा। परिमाण्डल्य की भी कारणता होने से वह कारणता अवच्छेदक हो जायेगी।' [१]

अभिप्राय यह है कि परिमाण्डल्य (अणुपरिमाण) कहीं भी कारण नहीं होता, किन्तु गुणत्व धर्म उसमें भी रहेगा। अतः कारणता से अतिरिक्त वृत्ति होने के कारण गुणत्वजाति की सिद्धि संभव नहीं है। गुण पद को शक्यतावच्छेदकत्व मानकर गुणत्व जाति की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिक एवं रघुनाथ शिरोमणि दोनों ने ही गुणत्व जाति के प्रत्यक्षत्व का तथा अनुमान प्रमाण का खण्डन करके गुणपद के शक्यतावच्छेदक से गुणत्व जाति सिद्धि मानी है। [२]

रघुनाथ शिरोमणि अपने समस्त ग्रन्थो के मंगलाचरण के अवसर पर ईश्वर के लिए "पूर्णाय परमात्मने" कहा है। इस पद पर टिप्पणी करते हुए पदार्थमंडनकार वेणीदत्त का कथन है कि यहाँ ईश्वर में आत्मपद का निरूपण दीधितिकार सम्मत ही किया गया है। अन्यथा आत्मपद रूप शक्यातावच्छेदक के बिना ईश्वर में साधारण आत्मत्व जाति का निरूपण अन्य किसी युक्ति के बिना संगत नहीं होगा। [३]

निष्कर्षः प्राचीन न्याय में द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीनो पदार्थों में जातिगतधर्म को स्वीकार करने के लिए 'सामान्य' नामक अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार किया गया है। नव्य नैयायिकों के अनुसार सामान्य नामक पदार्थ के 'उपाधि' और 'जाति' रूप में दो भेद किये जा सके हैं। भावत्व एव अभावत्व रूप से उपाधि समस्त पदार्थो मे रहती

---

१. दिन०, पृ० ४३६

२. (क) 'यत्तु गुणपदशक्यतावच्छेदकतया गुणत्वजातिसिद्धिरितिकश्चिदाह।'

-- रामरुद्री, पृ० ३३५

(ख) 'असतिबाधके गुणपदशक्यतावच्छेदकत्वेन गुणत्वजातेः सिद्धौ बाधकाभावः।'

-- प० खं० व्या०, पृ० ५२

३. प० मं०, पृ० २५

है। 'जाति' से वे जाति विशिष्ट शब्द का अर्थ लेते हैं। इस प्रकार वे 'गुण' शब्द के शक्यतावच्छेदक रूप में गुणत्व जाति की सिद्धि मानते हैं। प्रकरण ग्रन्थो मे भी गुणत्व जाति की सिद्धि को 'गुण' पद के शक्यतावच्छेदक रूप मे ही उचित कहा गया है।

रघुनाथ शिरोमणि 'गुण' पद से रूपादि चौबीस गुणों की सत्ता स्वीकार नही करते हैं। वे 'गुण' का शब्दिक अर्थ-किसी वस्तु की विशेषता को बतलाने वाला अथवा उत्कर्षादि ही लेते है। इस प्रकार इन चौबीस गुणो के अतिरिक्त वस्तु मे उत्कर्ष को बतलाने वाले अनेक धर्म आ जाते हैं। इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि द्वारा प्रस्तुत 'गुण' सम्बन्धी विचारों के विषय में कार्ल पॉटर का कथन है कि 'रघुनाथ को गुण के पदार्थत्व में सन्देह है।'[१] यद्यपि पदार्थनिरूपणकार ने स्पष्ट शब्दों में गुण के अतिरिक्त पदार्थत्व का खण्डन नहीं किया है, परन्तु गुणत्व जाति के खण्डन तथा परत्वापरत्व, पृथक्त्व आदि गुणों का खण्डन एवं रूपादि गुणो में उत्कर्ष को बतलाने के लिए गुण शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रघुनाथ शिरोमणि गुणत्व जाति को अतिरिक्ति पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

(iii) न्याय-वैशेषिक सम्मत अनुभवत्व जाति : पूर्वपक्ष

न्याय-वैशेषिक दर्शन मे द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीन पदार्थो मे जाति का होना स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त बुद्धि रूप ज्ञान को स्पष्ट करते हुए न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं उपमान नामक प्रमाणो से उत्पन्न ज्ञान में 'अनुभवत्व जाति' को स्वीकार किया गया है। रघुनाथ शिरोमणि ने 'जाति-प्रसंग' के अन्तर्गत अनुभवत्व जाति पर भी विचार किया है। वे इन चारो प्रमाणों के ज्ञान में अनुभवत्व जाति मानने की अपेक्षा प्रत्यक्ष ज्ञान में ही अनुभवत्व को मानते हैं।

---

१. '.. ...... and casting doubt on the legitimacy of the whole category'

– Padarthatattvanirupanam. p 14

बुद्धि शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं–ज्ञान, ज्ञान का साधन और जानने की क्रिया। न्याय–वैशेषिक दर्शन मे बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है। बुद्धि को यहाॅ आत्मा का गुण कहा गया है। ज्ञान गुण है,जबकि ज्ञान कि क्रिया कर्म है और ज्ञान का साधन द्रव्य है। बुद्धि का लक्षण करते हुए अन्नं भट्ट का कथन है–'सम्पूर्ण व्यवहारो का कारण रूप गुण को 'बुद्धि' कहते हैं।' [१] यद्यपि काल आदि भी सर्वव्यवहार का हेतु है। अत: काल आदि में बुद्धि लक्षण की अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिए 'गुण' पद का प्रयोग किया गया है। रूपादि गुण मे अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए 'सर्वव्यवहार' पद का प्रयोग किया गया है। वस्तुत: यह लक्षण ज्ञान के स्वरूप का कथन मात्र है, इतरव्यावर्तक लक्षण नहीं। इसलिए 'दीपिका टीका' में कहा गया है कि वह ज्ञान 'जानामि' इस अनुव्यवसाय से गम्य होने के कारण मानस् प्रत्यक्ष का विषय बनता है। [२]

प्राचीन नैयायिकों के अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं– इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ज्ञान तथा अनुव्यवसाय ज्ञान। घट के ज्ञान में चक्षु का घट से इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है, यही प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप है। घट ज्ञान मे सन्निकर्ष 'अय घट.' इस बुद्धि मे परिणत हो जाता है। जब यही ज्ञान 'अंह घट जानामि' के रूप में आत्मा को होता है, तो यह स्थिति 'अनुव्यवसाय' की है।

संसार के सभी व्यवहारो के मूल मे बुद्धि ही काम करती है। प्रशस्तपाद ने बुद्धि को दो प्रकार का बताया है–विद्या (यथार्थ ज्ञान) और अविद्या (अयथार्थ ज्ञान)। इनमे अवद्यिा के चार भेद हैं– संशय, पिर्यय, अन्ध्यवसाय और स्वप्न। [३] प्रकरण ग्रन्थों मे बुद्धि

---

१ 'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्'

-- त० स०, पृ० २७

२. दीपिका, पृ० ८०

३ 'तस्या: सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे -- विद्या चाविद्या चेति। तत्राविद्या चतुर्विधा – सशयविपर्य्यानध्यवसायस्वप्नलक्षणा।'

-- प्र० पा० भा० (न्या० क०), पृ० ४११

का विभाजन चारों प्रकार की प्रमा के स्वरूप पर आधारित है। अन्न भट्ट ने बुद्धि के दो भेद किये हैं – स्मृति और अनुभव।[१] विश्वनाथ पचानन ने अनुभव के स्थान पर 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग किया है।[२] सस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है। यहॉ संस्कार पद से भावनात्मक सस्कार को लिया गया है। स्मृति से भिन्न ज्ञान 'अनुभव' है।

स्मृति से भिन्न सभी ज्ञान अनुभव माने जाते हैं। अर्थात् वे ज्ञान जो नये हैं और पुराने ज्ञान की आवृत्ति नहीं हैं, वे अनुभव हैं। इस प्रकार स्मृति भिन्नत्व विशिष्ट ज्ञान अनुभव का लक्षण है।[३] अनुभव की यह निषेधात्मक परिभाषा इसलिए दी गयी है कि सभी मानसिक प्रक्रियाऍ अनुभव से ही बनती हैं। स्मृति एवं बुद्धि को निकाल देने पर जो प्रक्रिया रहती है, वह अनुभव ही है।

ध्यातव्य है कि हमारा समस्त ज्ञान सत्य नहीं होता, कभी असत्य भी होता है। जब हम रज्जु के स्थान पर सर्प होने का विश्वास करते हैं, तो हमारा सर्प सम्बन्धी ज्ञान सत्य न होकर असत्य ही होता है। सत्य ज्ञान को प्रमा या यथार्थ अनुभव एव असत्य ज्ञान को अप्रमा या अयथार्थ अनुभव कहा जाता है। विभिन्न दार्शनिको ने प्रमा (यथार्थ अनुभव) के लक्षण को जैसा समझा है, उसे उसी प्रकार पारिभाषित करने का प्रयास किया है। प्रभाकर अपनी ज्ञान–मीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा दोनो ही क्षेत्रों मे कट्टर वस्तुवादी है। उनकी मान्यता हैं कि हमारे ज्ञान के विषय स्वतन्त्र रूप से सत्तावान हैं तथा हमारा ज्ञान उन्हें प्रकाशित मात्र करता है। इस प्रकार के दर्शन को यदि कट्टरतापूर्वक स्वीकार करे तो देखेंगे कि ऐसे दर्शन मे वास्तव मे भ्रम के लिए कोई स्थान ही नही रह जाता।[४]

---

१. 'सा द्विविधा–स्मृतिरनुभवश्च।'

-- त० सं० (शेषराजशर्मा टीका०), पृ० २७

२ बुद्धिस्तुद्विविधा मता, अनुभूतिः स्मृतिश्च।

-- भा० परि०, कारिका ५

३. 'तथा च स्मृतिभिन्नत्व विशिष्टज्ञानत्वमनुभवस्य लक्षणम्।'

-- न्या० बोधि०, पृ० ३३

४ गगानाथ झाः प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व–मीमासा, पृ० २८–३३

प्रभाकर के भाष्यकार शालिकनाथ ने स्मृति से भिन्न अन्य सभी प्रकार की अनुभूति को 'अयथार्थ अनुभव' कहा है।[१] उनका कहना है कि स्मृति किसी अन्य अनुभूति के संस्कारो से उत्पन्न होती है, अत: वह अयाथार्थ अनुभव नहीं है। यहॉ पर प्रश्न उठता है कि जब हम किसी को कुछ समय तक निरन्तर देख रहे होते हैं, तो उस निरन्तर दृष्टि से उत्पन्न ज्ञान में प्रथम क्षण ज्ञान के पश्चात् अन्य क्षणों के ज्ञान को प्रमा के अन्तर्गत मानेंगे या अप्रमा के। यह कहा जा सकता है कि वास्तव में उसकी अनुभूति तो प्रथम क्षण में हुई थी। बाद के क्षणों में कोई नवीन ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। अत: उसे स्मृति रूप मानकर अप्रमा रूप ही मानना होगा। किन्तु इस प्रकार तो हमारा अधिकांश ज्ञान अप्रमा की कोटि में आ जायेगा तथा इस प्रकार की मान्यता न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। उक्त शंका का उत्तर देते हुए शालिक नाथ का कथन है कि-वास्वत में धारावाहिक ज्ञान अप्रमा रूप न होकर प्रमा (यथार्थअनुभव) रूप ही है। धारावाहिक ज्ञान में भी विषय का इन्द्रियों से निरन्तर सम्पर्क होता रहता है। अत: वह प्रमा रूप ही है, स्मृति रूप नहीं।'[२]

रामानुजाचार्य[३] ने तीन विभिन्न स्तरो पर तीन प्रकार के प्रमात्व की चर्चा की है। प्रथम अर्थ में, प्रत्येक ज्ञान जिसमे स्मृति भी निहित है प्रमा है। रामानुज ने इसे यथाथर्य कहा है। इस अर्थ में किसी भी ज्ञान के लिए विषय को प्रकाशित करना ही उसका प्रमात्व है, किन्तु प्रमात्व की यह परिभाषा प्रमा तथा अप्रमा के भेद को पूर्णत: समाप्त कर देती है। अत: प्रमा का यह लक्षण व्यवहार की दृष्टि से तो पूर्णरूपेण महत्त्वहीन है ही, ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व नहीं रखता। दूसरे अर्थ में, रामानुजाचार्य जिसे प्रामाण्य संज्ञा देते हैं, प्रमा तथा अप्रमा का भेद संभव होता है। इस अर्थ में स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रमा है। किन्तु प्रमा का यह अर्थ भी व्यवहार की

---

१. 'अनुभूति· प्रमाणम् सा स्मृतेरन्या स्मृति· पुन: पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजम् ज्ञानमुच्यते'
-- प्र० पं०, पृ० १२७

२. शालिक नाथ. प्रकरण पचिका, पृ० ४२

३. तन्त्ररहस्य, पृ० ३

दृष्टि से मूल्यहीन है। अत: उन्होने प्रमा के तीसरे अर्थ की चर्चा की, जिसे वे 'सयक्त्व' कहते हैं। संयक्त्व की परिभाषा वे व्यवहार अविसंवाद के रूप में देते हैं।[१] कोई भी ज्ञान जब व्यवहार में सफलता का हेतु होता है, तब वह ज्ञान प्रमा तथा यदि उस ज्ञान से व्यवहार के सफलता में स्थान पर असफलता हाथ लगे तो वह अप्रमा माना जाता है।

अनुभवत्व जाति की सिद्धि : न्याय-वैशेषिक मत

प्राचीन न्याय मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चारो प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान को यथार्थ अनुभव माना गया है तथा अनुगत प्रतीति के आधार पर इन चारों मे अनुभवत्व जाति स्वीकार की गयी है। आचार्य गौतम ने इस अनुभवत्व को 'अव्यपदेश' शब्द से अभिहित किया है, अर्थात् जिसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता, ऐसे इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान अनुभवत्व हैं न्यायसिद्धान्तमञ्जरीकार जानकीनाथ चूडामणि अनुभवत्व जाति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं - 'स्मृति भिन्न ज्ञानत्व अथवा अनुभवत्व जाति विशेष है। 'अनुभव करता हूँ' (अनुभवामि) इस प्रकार की प्रतीति जाति बाधक न होने से अनुभवत्व जाति का विषय है।'[२] न्यायमञ्जरीसार के टीकाकार श्री यादवाचार्य का कथन है-'अनुभव' करता हूॅ (अनुभवामि) इस प्रतीति से अनुभवत्व जाति की सिद्ध स्मृति भिन्न ज्ञानत्व की अपेक्षा लाघव से अनुभवत्व के ही कार्यतावच्छेदकत्व अभिप्राय से अनुभवत्व को जाति कहा गया है।'[३]

अनुभवत्व के स्थान पर यदि ज्ञानत्व को जाति माना जाय, तो बुद्धित्व से तुल्य होने पर तुल्यरूप जाति बाधक होगा, परन्तु यह अनुभवत्व जाति छहों जाति बाधकों (द्रव्य, गुण कर्म, विशेष, समवाय, अभाव) से रहित है। अत: इसे समान्य या जाति माना गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन मे अनुभवत्व जाति को व्याप्य मानकर

---

१. 'तत्र तु न व्यवहारविसंवादा: तत्र संयक्त्वम्'

-- तन्त्ररहस्य, पृ० ३

२. न्या० सि० मं०, पृ० ७

३. न्या० म०, पृ० ८

ही चारो प्रकार की प्रमा (प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द) में अन्य कारण के रहने पर भी इसे अनुभवत्वजातिमान् के रूप मे सिद्ध किया गया है। अनुभवत्व के व्याप्यत्व को समझने के लिए चारो प्रकार के प्रमाणो के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हुए न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने कहा है – 'ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात् जिस ज्ञान में कोई भी ज्ञान करण न हों, वह प्रत्यक्ष है। [१] अनुमिति रूप ज्ञान के प्रति व्याप्तिरूप ज्ञान करण है। उपमिति के प्रति सादृश्य ज्ञान करण है। शाब्द–बोध के प्रति पद ज्ञान करण है स्मृति रूप ज्ञान के प्रति अनुभव रूप ज्ञान करण है। [२]

परामर्शजन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। यद्यपि परामर्श का प्रत्यक्ष एवं परामर्श का ध्वंस भी परामर्शजन्य ही है, तथापि हेतु को विषय न करने वाला जो परामर्श से उत्पन्न ज्ञान है, वही अनुमिति है। अभिप्राय यह है कि हेतु का भान परामर्शात्मक ज्ञान मे होता है। इसलिए परामर्शजन्य ज्ञान को विषय करने वाला जो ज्ञान है, उस ज्ञान में भी हेतु का भान होगा। अत: उस ज्ञान को अनुमिति कहना उचित नहीं है। यहॉ पूर्वपक्ष की शका है कि किन–किन स्थलो मे पक्षतावच्छेदक रूप से हेतु का भी भान होता है। जैसे धूमवान् पर्वतों वह्निमान्' इस अनुमिति में पच्छतावच्छेदक रूप से धूम हेतु का भान होता है। इस कारण यह अनुमिति रूप होने पर भी हेत्वविषयक नही है, अपितु धूमात्मक हेतु विषयक ही है। अत: हेतु को भी विषय करने वाली 'धूमवान् पवर्तोवह्निमान' इस अनुमिति मे ही अनुमिति लक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

---

१ न्या० सि० मु०, पृ० ९४

२. अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य, उपमितौ सादृश्यज्ञानस्य, शाब्दबोधे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य कारणत्वात्तत्र तत्र नातिव्याप्ति:।

-- न्या० सि० मु०, पृ० ९४

इस शंका के समाधान मे विश्वनाथ का कथन है कि-'हेत्वविषयक जो परामर्शोत्पन्न ज्ञान है, उसमें रहने वाली अनुभवत्व व्याप्य जाति के आश्रय को अनुमिति कहते हैं। इस प्रकार लक्षण में उक्त दोष नहीं है।' [१] तात्पर्य यह है कि व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानजन्य जो अनुमिति रूप 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक ज्ञान है, उसमें वर्तमान जो अनुभवत्वव्यात्यजाति अर्थात् अनुमितित्वजाति समवाय सम्बन्ध से जहाँ रहती है, उसी को 'अनुमिति प्रमा' समझना चाहिए। इस प्रकार जाति घटित लक्षण से 'धूमवान पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में हेत्वविषयक रूपविशेषांश के न रहने पर भी अनुभवत्व व्याप्य अनुमितित्व जाति रूपविवक्षित धर्म के विद्यमान रहने से अव्याप्ति की आशंका नहीं की जा सकती। इस प्रकार लाघव की दृष्टि से 'व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानम्' ही अनुमिति का लक्षण हुआ। अत: सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानं' उपमिति का तथा 'पदज्ञानकरणकं ज्ञानं' शाब्दबोध का लक्षण है। [२]

नैयायिक सम्मत अनुभवत्व जाति का निराकरण

प्राचीन नैयायिक चारो प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान-प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एव शाब्दबोध मे 'अनुभवत्व' जाति स्वीकार करते है। इसके विपरीत रघुनाथ शिरोमणि 'सामान्य धर्म के रूप में अनुभवत्व जाति तो केवल साक्षात्कारी अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान में ही रहती है, ऐसा मानते हैं, शेष ज्ञानों में नहीं।' [३] टीकाकार विश्वनाथ पंचानन का मत है कि श्रीहर्ष का अनुकरण करते हुए रघुनाथ ने अनुभवत्व जाति का खण्डन किया है।[४]

---

१. 'न च कदाचित्हेतुविषयकानुमिताव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशज्ञानवृत्यनुभवत्वव्यात्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।'

-- न्या० सि० मु०, पृ० ९४

२. वही, पृ० ९५

३. 'जातिस्त्वनुभवत्वं साक्षात्कारित्वमेव'

-- प० त० नि०, पृ० २९

४. 'श्रीहर्षमतमनुसरन्ननुभवत्वजाति साक्षात्कारित्वाभिन्नां खण्डमितुमाह शब्दादीति।'

-- पदार्थतत्त्वावलोक (पाण्डुलिपि), पृ० १३२

खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता श्रीहर्ष ने नैयायिकों की इस अनुभत्व जाति के प्रति अपनी शंका प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इस अनुभूतित्व का क्या स्वरूप है? ज्ञानत्व रूप पर सामान्य के अवान्तर जाति (व्यात्य जाति) के भेद विशेष रूप है? या स्मृति भिन्न ज्ञानत्व रूप प्रतिनिधित्व है? अथवा उस ज्ञान के अव्यवहित जो पूर्वकाल रूप मे उत्पत्ति जिसका नियम हो, ऐसे असाधारण कारण वाला ज्ञानत्व ही अनुभूतित्व है? क्योंकि उसके असाधारण कारण विदूर उत्पन्न रहते हैं और अनुभव के कारण इन्द्रिय सम्बन्ध व्याप्तियुक्त हेतु ज्ञानशब्द ज्ञानादि अनुभव से अविदूर काल में उत्पन्न रहते हैं। अत: लक्षण समन्वित होता है। मन के संयोगादि असाधारण कारण नहीं हैं। [१]

श्री हर्ष का मत है कि उक्त चारों पक्षों में आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभूतित्व नामक एक जाति मानना चाहिए। इसमें हेतु क्या है? यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षादि सभी अनुभव विषयक (अनुभवामि) इस अनुगत ज्ञान के अनुभव के बल से अनुभवत्व जाति सिद्ध और मान्य होती है तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि माघ मास की रात्रि के अवसान काल मे सितासित गंगा-यमुना नदी के संगम में स्नान करने वाले को, इत्यादि शब्द (शास्त्र) बल से भावी अपने स्वर्ग सुख के सम्प्रत्यय होने पर 'सुख का अनुभव करता हूँ', ऐसी प्रतीति की अनुत्पत्ति से तथा शीत के सभेदन जन्य वेदना के ज्ञान रूप वैवरीत्य से अनुभवाभि, इस प्रकार का ज्ञान अनुभूतित्व में प्रमाण नहीं हो सकता। उसी प्रकार पर स्त्री गामी अस्तिक कामी को भावी नरकगमन द्वारा अनुभवयोग्य यम-यातना को शास्त्र द्वारा परोक्ष ज्ञान करने पर भी, 'मै दु:ख का अनुभव करता हूॅ', ऐसी बुद्धि की अनुत्पत्ति से तथा इसके विपरीत बहुत आनन्द का अनुभव करता हुआ मैं अभी हूॅ, इस प्रतीति से भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सभी सत्य ज्ञानों में एक अनुभवत्व जाति नहीं कही जा सकती। किन्तु प्रत्यक्षत्व तथा परोक्षत्व के भेद से द्विधा अनुभव के होने पर प्रबल प्रत्यक्ष अनुभव काल मे परोक्ष अनुभव रूप से नहीं भासता है। जैसे-सूर्योदय से तारे प्रकाशक रूप

१. खण्डनखण्डखाद्य: श्री हर्ष, पृ० १३६

से नहीं भासते हैं और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अनुभव के भेद होने पर एक अनुभत्व जाति नहीं सिद्ध हो सकती, इत्यादि भाव है।[१]

न्याय-वैशेषक सम्प्रदाय चारों प्रकार के प्रमाणगत ज्ञानो मे अनुभवत्व जाति को स्वीकार करते हैं। इनके मत मे तर्क यह है-भूतल में घटादि का निश्चय होने के बाद, जिस प्रकार 'भूतले घटं अनुभवामि' इस प्रकार का अनुव्यवसाय हुआ करता है, उसी प्रकार पर्वत में वह्नि की अनुमिति होने पर भी 'पर्वते वह्निः अनुभवामि' इस प्रकार का अनुमान अनुव्यवसाय होता है। अतः उक्त अनुव्यवसाय से प्रत्यक्षगत अनुभवत्व जाति के समान प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमिति आदि मे भी अनुभवत्व जाति स्वीकार करनी पड़ेगी। प्राचीन नैयायिकों का यह भी मत है कि अनुभवत्व जाति प्रत्यक्षत्व जाति की अपेक्षा व्यापक होती है।

प्राचीन नैयायिक मत सिद्ध अनुभवत्व जाति का खण्डन करते हुए रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं- शाब्दादि ज्ञान में जो अनुभव का व्यवहार होता है, वह स्मृति भिन्न अन्य ज्ञानरूप में ही प्रयुक्त होता है'[२] वेणीदत्त का मत है कि शाब्दादि ज्ञान मे अनुभव का व्यवहार स्मृति से अन्य ज्ञान का अवलम्बन लेकर कहा गया है। इस प्रकार अनुभव व्यवहार के बल से अनुभवत्व जाति का निराकरण हो जाता है।[३] अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्मृति में संस्कार हेतु होता है, उसी प्रकार अनुमिति में परामर्श, उपमिति से सादृश्य एवं शाब्द बोध में पद ज्ञानकरण होते हैं। पृथक्-पृथक् ज्ञान में भिन्न-भिन्न करण के आधार पर, उसमे एक अनुभवत्व जाति का निराकरण हो जाता है।

दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि का मत है - 'अनुभवत्व जाति तो केवल साक्षात्कारी अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान में ही रहती है। यदि वस्तुत प्रत्यक्ष से भिन्न-भिन्न ज्ञान

---

१. खण्डनखण्डखाद्य, पृ० १३६

२. 'शब्दादिज्ञाने अनुभवव्यवहारश्च स्मृत्यन्यज्ञानत्वनिबन्धनः'

-- प० त० नि०, पृ० २९

३. प० मं०, पृ० २५

में अर्थात् अनुमिति, उपमिति एव शाब्द–बोध मे भी अनुभवत्व जाति रहती तो अनुमान द्वारा अन्य व्यक्तियों के सुख–दु:ख आदि के निश्चयात्मक ज्ञान की स्थिति में ज्ञाता के लिए यह कहना उचित माना जाता है कि 'मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ', पर ऐसा नहीं है।' [१]

विशेष पदार्थ

'विशेष' पदार्थ की कल्पना वैशेषिक दर्शन की मौलिक उपलब्धि है। 'वैशेषिक'–इस नामकरण का मूलाधार संभवत: यही पदार्थ है, क्योंकि विशेष को पदार्थ के रूप में अंगीकार करने वाला एक मात्र यही दर्शन है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय इसे स्वीकार नहीं करते। वैशेषिक दर्शन में विशेष की कल्पना का आधार यह है कि भेदवादी दर्शन होने से प्रत्येक वस्तु को पूर्णतया भिन्न मानता है। घट–पट आदि अन्त्यावयव का भेद परमाणु–भेद के कारण ही संभव होगा क्योंकि जब तक परमाणुओ में भेद की सिद्धि नहीं हो सकती, तब तक 'विशेष' पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती है। समस्त नित्य एवं विभु द्रव्यों में परस्पर भेद की प्रतीति परमाणुओं में समवेत विशेष के आधार पर ही होती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि मूल प्रवर्तक कणाद ने अपने सूत्रों में ' विशेष' का पदार्थ रूपेण उल्लेख तो किया है, किन्तु विस्तृत विवेचन कहीं नहीं किया। केवल एक बार साामन्य के निरूपण के अवसर पर 'परापर जाति' या द्रव्यत्वादि सामान्य–विशेष को 'विशेष' कहते हुए यह स्पष्ट किया है कि वह परापर सामान्य भी यद्यपि 'विशेष' ही है, किन्तु 'अन्त्य विशेषों' से भिन्न है। [२]

---

१. प० त० नि०, पृ० २९

२ 'अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्य:'

-- वै० सू०, १/२/६

'विशेष' का पृथक पदार्थरूप में सर्वप्रथम निश्चित एवं स्पष्ट निर्देश मतिचन्द्र की 'दशपदार्थी' में मिलता है, [१] किन्तु वहाँ भी इसकी सिद्धि हेतु कोई प्रयास नहीं किया गया, अत: इसका स्वरूप पूर्णत: स्पष्ट नहीं हो पाता। प्रशस्तपाद ने अपने 'भाष्य' में पृथक् पदार्थरूप में सिद्धि एवं विस्तृत स्वरूप का विवेचन पहली बार प्रस्तुत किया है। [२]

विशेष पदार्थ–लक्षण एवं सिद्धि : पूर्वपक्ष

सूत्रकार महर्षि कणाद ने 'विशेष' पदार्थ की विस्तृत व्याख्या नहीं की इसके विषय में मात्र इतना ही लिखा है–'अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्य:। प्रशस्तपाद ने सूत्र में प्रयुक्त 'अन्त्य' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है–

''अन्त में अर्थात् नित्य द्रव्यों में रहने के कारण इसको 'अन्त्य' कहते हैं। अपने आश्रय को अपने से भिन्न पदार्थो से अलग रूप में समझने के कारण इसे 'विशेष' कहते हैं। सभी प्रकार के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन–से सभी द्रव्य उत्पत्ति एवं विनाश से रहित हैं। अत: इन सबों में विशेष की सत्ता माननी पड़ती है।'' [३] आचार्य उदयन ने 'अन्त्य' पद का अर्थ अन्तिम किया है– 'यह अन्तिम विशेष है। इसका व्यावर्तक दूसरा विशेष नहीं है, इसलिए यह स्वतोव्यावृत्त पदार्थ है। विशेष में दूसरा विशेष मानने पर दूसरे में तीसरा, तीसरे में चौथा —— इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।' [४]

---

१. दशपदार्थी (विशेष प्रकरण) : मतिचन्द्र

२. प्र० पा० भा०, पृ० २८४–२८७

३. 'अन्तेषु भवा अन्त्या:, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषा:। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वष्वाकाशकालदिगात्ममनस्तु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतव:।'
-- प्र० पा० भा० (न्या० क० टीका सहित), पृ० ७६५–६६

४. 'अन्त्या· अन्ते अवसाने भवन्ति सान्तीति यावत्। येभ्यो परे विशेषा न सन्तीत्यर्थ:।'
-- किरणा०, पृ० १७

शिवादित्य [१] ने 'विशेषा: नित्यद्रव्य समवेता:' एव 'विशेषस्तु सामान्यरहित एकद्रव्यवृत्ति:' नामक लक्षण किया है। इस प्रकार 'विशेष' पदार्थ के उपर्युक्त लक्षणो के आधार पर निम्नलिखित तथ्य स्थापित किये जा सकते हैं–

१. विशेष सामान्य रहित होते हैं।

२. विशेष स्वतोव्यावृत्त एव निर्विशेष होते हैं।

३. एक नित्य द्रव्य में एक ही विशेष रहता है, अत: विशेष अनन्त हैं।

४. विशेष नित्य द्रव्यों में समवेत होकर रहते हैं, अत: नित्य हैं।

५. विशेष 'अन्त्य' होते हैं, अर्थात् ये द्रव्यों में रहते हैं।

उक्त लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है कि विशेष पूर्ववर्णित पदार्थों द्रव्य, गुण आदि से पृथक् पदार्थ हैं। ये केवल नित्य द्रव्यों में ही समवेत होकर रहते हैं। द्रव्य, गुण एवं कर्म नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकार के द्रव्यों में पाये जाते हैं तथा सामान्यवान् भी होते हैं। जबकि विशेष पदार्थ सामान्य रहित एवं केवल नित्य द्रव्य में ही समवेत माने गये हैं।

पूर्वपक्षीय दार्शनिकों का कहना है कि विशेष को स्वीकार करने पर भी उसको पृथक् पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? द्रव्य, गुण समवाय आदि में ही इसका अन्तर्भाव मान लेना चाहिए। इस शंका का समाधान करते हुए नैयायिको का मानना है कि 'विशेष' पदार्थ के लक्षण से ही समाधान हो जाता है। विशेष के सामान्य रहित होने से ही सत्तावान् द्रव्य, गुण एवं कर्म से पृथक प्रतीति स्पष्ट है। 'एकव्यक्तिवृत्ति' कहने से भी विशेष पदार्थ पृथक हो जाता है, क्योंकि समवाय और अभाव समवाय सम्बन्ध से कहीं नहीं रहते।

पुन· कुछ दार्शनिकों द्वारा यह शका की जाती है कि जिस प्रकार नित्य द्रव्यो में विशेष को स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार नित्य गुणों में भी विशेष की सत्ता क्यों

---

४. स० प०, पृ० ५१, ८७

नहीं मानते? यदि कहें कि गुणों मे वर्तमान रूपत्व आदि जाति के द्वारा ही व्यावृत्ति प्रत्यय का प्रत्यक्ष हो जाने से गुणों मे विशेष को नहीं माना गया है, तो प्रश्न उठता है कि द्रव्यगत जाति, गुण एवं क्रिया के आधार पर नित्य द्रव्यो में व्यावृत्ति प्रत्यय उत्पन्न हो जाने से विशेष पदार्थ मानने की आवश्यकता प्रतीति नहीं होती। यदि नित्य द्रव्यो में विशेष पदार्थ को माना जाता है तो नित्य गुणों में भी मानना चाहिए।

किरणावलीकार [१] उदयन ने उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि 'चूँकि गुण सर्वथा द्रव्याश्रित ही होता है। इसलिए नित्य गुण भी किसी न किसी द्रव्य में अवश्य ही आश्रित रहता है। अतएव आश्रयभेद से नित्य गुणों में पृथक् प्रतीति तो संभव है, किन्तु उन गुणों का आश्रय जौ द्रव्य है और जिसका कोई आश्रय नहीं है, उसके परस्पर भेद का प्रयोजक विशेष को मानना ही पड़ता है।' योगियों को मुक्त आत्माओं में (जहाँ गुणों का अभाव रहता है) भेद की प्रतीति विशेष के अभाव में किस प्रकार हो सकती है? इसके अतिरिक्त परमाणुओं मे अवान्तरजाति का अभाव होने से उसमें भी भेद का प्रयोजक 'विशेष' ही हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचित विसंगतियों से बचने के लिए वैशेषिक दर्शन में नित्य परमाणुओ में भी परस्पर भेद माना गया है तथा इस भेद की सिद्धि के लिए 'विशेष' नामक नित्य पदार्थ की स्थापना की गयी है। इसके अनुसार प्रत्येक नित्य परमाणुओं में एक-एक नित्य विशेष समवेत रहता है, जो एक ही जाति के परमाणुओ मे एक परमाणु से दूसरे परमाणु को भिन्न करता है। चूँकि प्रत्येक परमाणु में अपना-अपना अलग-अलग 'विशेष' माना गया है। अत: किन्हीं भी दो परमाणुओं में इसकी अनुवृत्ति संभव नहीं और सभी परमाणु एक दूसरे से, चाहे सजातीय हों या विजातीय सर्वथा पृथक् रहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'विशेष' नामक पदार्थ सत्ता रूप पर सामान्य से सर्वथा विपरीत है। इसलिए इसे 'अन्त्यविशेष' कहा गया है। व्यापकता की दृष्टि से 'सत्ता' सबसे ऊँचे छोर पर है और 'विशेषज्ञ' सबसे निचले सिरे पर। 'सत्ता' तो सभी द्रव्यों, गुणो एवं कर्मो में

---

१ किरणा०, पृ० १७

पायी जाती है, जबकि 'विशेष'' केवल एक ही परमाणु मे रहने से सर्वथा अव्यापक है। अत· इसे अन्त्यविशेष पदार्थ कहा गया है।

प्रशस्तपाद की स्पष्ट उक्ति है — 'विशेष पदार्थ विनाश-एव प्रारम्भ से रहित नित्य द्रव्यो, परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एव मन मे से प्रत्येक में एक-एक रहता है तथा उसमें अत्यन्त व्यावृत्ति प्रतीति का हेतु है।'[१] यहाँ प्रश्न उठता है कि परस्पर समान जाति वाले परमाणुओं में भेद स्थापित करने के लिए 'विशेष' जैसे व्यावर्तक पदार्थ की आवश्यकता स्पष्ट है, किन्तु आकाश, काल, दिक् एवं आत्मा आदि नित्य द्रव्यों में परस्पर भेद सिद्ध के लिए 'विशेष' की सत्ता क्यों मानी जाय, क्योंकि ये द्रव्य अपने पृथक्-पृथक् गुणों एवं कार्यो के द्वारा ही एक-दूसरे से पृथक् प्रतीत होते हैं। अत: सभी नित्य द्रव्यों से परस्पर भेद के लिए 'विशेष' को हेतु मानना कथमपि युक्तिपूर्ण प्रतीत नहीं होता। प्रशस्तपाद ने स्वय स्वीकार किया है कि नित्य परमाणुओं, मुक्त आत्माओं और अनन्त मनों में, समान गुण एवं कार्य होने से भेद प्रतीति के लिए विशेष को मानना अनिवार्य है।

उल्लेख्य है कि प्रशस्तपाद ने केवल मुक्त आत्माओ की चर्चा की है, बद्ध आत्माओं की नहीं; क्योंकि वैशेषिक-दर्शन के अनुसार मुक्त आत्माएँ तो सब प्रकार के विशेष गुणों से रहित मानी गयी हैं। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशस्तपाद भी यही मानते होंगे कि बन्धनयुक्त अवस्था मे आत्मओं का परस्पर भेद उनके व्यक्तिगत शरीर एव गुणों से ही हो जाता है, किन्तु मुक्तावस्था में आत्माओं की परस्पर पृथक् प्रतीति के लिए 'विशेष' की स्वीकृति अनिवार्य है। प्रशस्तपाद मत से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'विशेष' पदार्थ सभी नित्य द्रव्यों में नहीं अपितु केवल परमाणुओं, मुक्त आत्माओ एवं मनो मे समवेत रहता है; अकाश, काल, दिक्, एवं बद्ध आत्माओ मे नहीं। किन्तु परवर्ती सभी न्याय-वैशेषिक दार्शनिको ने एक मत से आकाश, काल,

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० २८४

दिक्, आत्मा तथा नित्य पदार्थो में, जो विभु भी हैं और निरवयव भी, परस्पर भेद के लिए 'विशेष' पदार्थ को अवश्य माना है।

नित्य एवं विभु द्रव्य आकाश में 'विशेष' पदार्थ की सत्ता है अथवा नहीं; इस सन्दर्भ में दार्शनिकों में मत वैभिन्य है। प्रशस्तपादाचार्य, आचार्य उदयन एव विश्वनाथ के साथ-साथ सप्तपदार्थी के टीकाकार जिनवर्धनसूरि एवं माधवाचार्य भी आकाश मे विशेष की सत्ता है, ऐसा मानते हैं। किन्तु शेषानन्त, जिन्होंने सप्तपदार्थी पर 'पदार्थचन्द्रिका' टीका लिखी है, का अभिमत है कि व्यावृत्तिबुद्धि रूप प्रमाण से सिद्ध 'विशेष' पदार्थ आकाश में नहीं है, क्योंकि आकाश की व्यावृत्ति शब्द गुण की उत्पत्ति एवं ध्वस से ही हो जाती है। इसका कारण यह है कि आकाश से अन्यत्र कहीं भी शब्द की उत्पत्ति एवं ध्वंस नहीं पायी जाती। अत: आकाश में विशेष पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। आचार्य शेषानन्त का उक्त मत अन्य नैयायिकों द्वारा अभीष्ट नहीं है।

शिवादित्य [१] एवं अन्नम्भट्ट [२] ने स्पष्ट कहा है कि 'प्रत्येक नित्य द्रव्यों में पृथक्-पृथक् पाया जाने वाला 'विशेष' पदार्थ अनन्त है। विशेषों के अनन्त होने से तात्पर्य यही है कि प्रत्येक नित्य द्रव्य मे एक-एक विशेष रहता है। एक द्रव्य में अनेक विशेष नहीं हो सकता, क्योंकि जब एक ही विशेष से पृथक् प्रतीति संभव है तो अन्य विशेषों की कल्पना निरर्थक है।' [३] इसी प्रकार 'एक विशेष अनेक द्रव्यो में एक साथ रहता है' यह मान्यता भी असंभव है, क्योंकि ऐसा मानने पर विशेषों में सामान्य रूपता

---

१. 'विशेषास्तु यावन्नित्यद्रव्यत्वात् अनन्ता एव।'

-- स० प०, पृ० ८

२. 'नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।'

-- त० स०

३. 'नैकस्मिन्ननेको: वैयर्थ्यप्रसङ्गात्।'

-- व्योम०, पृ० ६९२

का प्रसग (लक्षण) आ जाता है, जो उचित नहीं है।[१] इससे यही सिद्ध होता है कि विशेष अनन्त है और प्रत्येक नित्य द्रव्य में एक-एक विशेष रहता है।

अन्त्य विशेष पदार्थ निराकरण : रघुनाथ शिरोमणि मत

नव्य-नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि अपने 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' नामक ग्रन्थ में 'विशेष' को पृथक् पदार्थ मानने के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनके अनुसार सावयवी द्रव्यों के अवयवों का क्रमश: विभाग करने पर इस अवधारणा का अन्त त्रसरेणु है। त्रसरेणु प्रत्यक्ष गोचर है। इस प्रकार तार्किक शिरोमणि के मत में अतीन्द्रिय परमाणुओ का कोई स्थान नहीं है। अत: जब परमाणु की ही सत्ता न होगी, तब परमाणु धर्म 'विशेष' को स्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। नव्य नैयायिक राखाल भट्टाचार्य का कहना है कि परमाणु आदि की व्यर्थता पहले व्यवस्थित है फिर तद्गत विशेष रूप पदार्थ के चिन्तन से क्या? वह तो आकाश पुष्प के परिमल के चिन्तन के समान ही है।

रघुनाथ शिरोमणि 'विशेष' के पदार्थान्तर का खण्डन करते हुए कहते हैं —– विशेषोऽपि च न पदार्थान्तरं मानाभावात्।[२] अर्थात् प्राचीन न्याय-वैशेषिकों द्वारा स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकृत विशेष भी वास्तव में स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसको द्रव्य, गुण आदि भाव पदार्थो से भिन्न भाव पदार्थ मानने के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है।

यहॉ शंका यह हो सकती है कि यदि विशेष पदार्थ स्वीकृत न हो तब व्यावर्तक धर्म व्यतिरेक से परमाणु आदि निरवयव द्रव्य समूह का परस्पर भिन्नता कैसे सभव होगी। इस शंका का समाधान करते हुए रघुनाथ शिरोमणि कहते है कि जिस प्रकार विशेष पदार्थ के व्यावर्तक धर्म के बिना भी स्वत: भिन्नता होती है, उसी प्रकार नित्य

---

१ 'नाप्येकोऽनेकस्मिन्, सामान्यरूपताप्रसङ्गादिति।'

-- व्योम०, पृ० ६९२

२. प० त० नि०, पृ० १२

द्रव्य भी व्यावर्तकान्तर की अपेक्षा न करके स्वत: व्यावृत्त हुआ करते है।[१] टीकाकार विश्वनाथ के अनुसार विशेष अव्यावर्तक है, अत: अनन्त है। विशेषो के परस्पर अव्यावर्तक होने पर वह आश्रय का व्यावर्तक कैसे हो सकता है। इसलिए विशेष का स्वतोव्यावर्तक ही वाच्यार्थ है। उसी प्रकार नित्य द्रव्यो मे ही परस्पर व्यावृत्तत्व को स्वीकार करने पर 'विशेषज्ञ' का पदार्थान्तरत्व खण्डित हो जाता है।[२]

रघुनाथ शिरोमणि प्राचीन नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित योगज प्रत्यक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि योगीगण नित्य द्रव्य विशेष पदार्थ का दर्शन करते हैं। यहाँ जिज्ञासा होती है कि ये लोग अतिरिक्त विशेष पदार्थ का क्या सही-सही प्रत्यक्ष करते हैं, कि नहीं। अभिप्राय यह है कि विशेष पदार्थ योगज सिद्ध है, इसके विषय में कोई प्रमाण नहीं। अतएव विशेष पदार्थ स्वीकृत नहीं हो सकता। क्योकि अलौकिक ज्ञान को प्रमाण मानकर किसी दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है।[३] कॉर्ल पॉटर का मत है कि रघुनाथ शिरोमणि द्वारा योगियों की सिद्धि पर सन्देह उचित प्रतीत होता । अन्य नव्य-नैयायिक भी योगियों की इस प्रकार की शक्ति वास्तविक नहीं मानते।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि वैशेषिक-दर्शन का वैशिष्ट्य 'विशेष' पदार्थ की मान्यता के कारण ही है। 'विशेष' पदार्थ की आवश्यकता अतीन्द्रिय नित्य द्रव्यों एवं परमाणुओं में परस्पर विलक्षणता तथा उनके परस्पर भेद को सिद्ध करने के कारण हुई

---

१. विनापि व्यावर्तक धर्म परेषा विशेषाणामिव नित्यानां द्रव्याणामपि स्वत एव व्यावर्तकत्वात्।
-- प० त० नि०, पृ० १२

२. विशेषो यद्येकस्तदा अव्यावर्तकेनानां चेत्तेषां परस्परमव्यावृत्तत्वे कथमाश्रयव्यावर्तकत्वम्। अतस्ते स्वत एव व्यावृत्ता इति वाच्यम्। तथा च नित्यानामेव परस्परं व्यावृत्तत्वमस्तु।
-- पदार्थतत्त्वालोक, पृ० ८२

३. योगिनोऽतिरिक्त विशेषमीक्षन्ते। एव तर्हि त एव सशपथं पृच्छ्यन्ता किमतेऽतिरिक्तं विशेषमीक्षन्ते न वेति।
-- प० त० नि०, पृ० १२

है। रघुनाथ शिरोमणि ने वैशेषिक की 'विशेष' सम्बन्धी मान्यताओं को ध्वस्त करने के लिए ही सर्वप्रथम आकाश आदि नित्य द्रव्यों तथा विशेष रूप से परमाणु का खण्डन किया है, तत्पश्चात् उसमें रहने वाले विशेष का। विशेष की वास्तविकता किसी प्रमाण से प्रमाणित नहीं है। उसकी सिद्धि के लिए सर्वप्रथम प्रशस्तपाद ने योगज प्रत्यक्ष को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। योगियों की शक्ति को अपरिमित तथा अव्याख्यात माना गया है, परन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने तथा बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने योगियो की इस शक्ति के प्रति अपना सन्देह व्यक्त किया है तथा विशेष के स्वतन्त्र पदार्थत्व का खण्डन किया है। अन्य सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने तथा आधुनिक दार्शनिको ने भी विशेष को मान्यता प्रदान नहीं की है। वस्तुत: जब प्रत्येक वस्तु अपने स्वगत स्वरूप के कारण पृथक् है तो नित्य परमाणुओं को परस्पर संकीर्ण कैसे माना जा सकता है।

❑❑❑

पंचम अध्याय

समवाय एवं विशेष पदार्थ परीक्षण

समवाय

समवाय का पदार्थत्व

व्युत्पत्ति की दृष्टि से समवाय पद का अर्थ है – अत्यन्त समीप आना।[१] वैशेषिक–दर्शन में समवाय एक ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध का नाम है, जिससे जुड़ने वाली दो वस्तुओं में से एक का नाश होने तक दूसरी को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। महर्षि कणाद ने समवाय का लक्षण इस प्रकार दिया है – ''कारण तथा कार्य में यहाँ (कारण में) यह (कार्य) है; इस प्रकार की प्रतीति जिससे संभव होती है, वही समवाय है।'' [२]

प्रशस्तपाद ने भी 'समवाय' पदार्थ को इस प्रकार से परिभाषित किया है – एक आश्रय एवं दूसरा आश्रित, इस प्रकार के दो अयुतसिद्धों का जो सम्बन्ध 'यह (आश्रित) यहाँ (आश्रय में) है', इस प्रकार के प्रत्यय का कारण हो, वही समवाय है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन सभी पदार्थों में से जो दो पदार्थ कार्यकारणभावापन्न हों, अथवा स्वतन्त्र हो, किन्तु अयुतसिद्ध हों तथा आधार–आधेय रूप हों, उन दोनों में से एक (आधेय) का दूसरे (आधार) में 'यह यहाँ है' इस प्रकार का अनुभव जिससे हो, वही समवाय है।'' [३]

---

१. कोश ग्रन्थों मे समवाय पद का अर्थ प्राप्त होता है --
"Inherence is proper to a reletionship that is unint urrupted and uniform, as that between a cause and its product".

-- Encyclopaedia Britannica Vol X P. 327

'समवाय्यते इति। सम् + अव् + अय् + घञ्। समूह: इत्यमर.। .. ... सम्बन्धविशेष·।'

-- श० क० द्रु०, पंचमो भाग·, पृ०२७०

२. 'इहेदमिति यत· कार्यकारणयों स समवाय:।'

-- वै० सू०, ७/२/२६ ·

३. प्र० पा० भा०, पृ० २८९

अन्नम्भट्ट ने अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य रहने वाले नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहा है। इस प्रकार समवाय के उक्त लक्षणो का विश्लेषण करने पर समवाय के स्वरूप के सम्बन्ध में अधोलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं —

(क) समवाय कारणवाद पर आधृत है।

(ख) समवाय एक सम्बन्ध है।

(ग) समवाय दो या उससे अधिक अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य रहने वाला सम्बन्ध है।

(घ) समवाय एक नित्य सम्बन्ध है।

(च) समवाय स्वयं कहीं समवेत होकर नहीं रहता, अपितु अपने सम्बन्धियों में स्वरूप-सम्बन्ध से ही रहता है।

(छ) समवाय प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है।

(ज) समवाय द्रव्यादि से भी भिन्न एक पृथक् पदार्थ है।

(झ) समवाय एक है।

(ट) समवाय गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष को द्रव्य के साथ जोड़ता है।

ध्यातव्य है कि बहुतत्त्वमय ब्रह्माण्ड तीन बाह्य सम्बन्ध-सूत्रो पर अवस्थित प्रतीत होता है — संयोग सम्बन्ध, स्वरूप सम्बन्ध एवं समवाय-सम्बन्ध। न्याय-वैशेषिक दर्शन उक्त तीनो सम्बन्धों को स्वीकार किया है। किन्तु तीनों में से 'समवाय-सम्बन्ध' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए उसे एक पृथक् पदार्थ के रूप मे मानता है। डॉ० धर्मेन्द्रनाथशास्त्री के अनुसार — ''यदि पूर्वोक्त पॉचों पदार्थ — द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय और विशेष वैशेषिक दर्शन रूप ढ़ाचों के लिए ईटो के समान हैं, तो समवाय-पदार्थ उन ईटों को जोड़ने वाले गारे की भाँति है।'' [१]

---

१. "If the first five categories, substance, quality etc , are the bricks of the Nyaya-Vaisesika structure, the mortar to unite them is provided by the sixty category - Samavaya"

-- Shastri, CIR, p 375

न्याय–वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्यान्य भारतीय दर्शन में समवाय के पदार्थत्व का विवेचन करना यहाँ पर समीचीन होगा —

साख्या–दर्शन

सम्मत कार्य–कारण सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद', न्याय–वैशेषिक के 'असत्कार्यवादे' का सर्वथा विरोधी है। अत· कारण–कार्य के भेदस्वरूप आरम्भवाद की व्याख्या हेतु 'समवाय' पदार्थ की कल्पना सांख्य–दर्शन में सर्वथा निष्प्रयोजन है। इसलिए सांख्यासूत्रकार कपिल का स्पष्ट अभिमत है कि 'न समवागोऽस्ति प्रमाणाभावात्'[१] सांख्य के अनुसार ऐसे किसी पदार्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से संभव नहीं है, जिसे समवाय कहा जा सके।

शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में 'समवाय' पदार्थ का प्रबल खण्डन किया है। उनका मत है कि एक तो इसे दो पृथक्–पृथक् वस्तुओं के मध्य रहने वाला सम्बन्ध मानना, फिर संयोग से सर्वथा भिन्न सिद्ध करना, ये दोनो बातें असगत एवं निराध ाार प्रतीत होती हैं। समवाय पदार्थ के खण्डन के लिए शंकराचार्य ने कुछ युक्तियाँ दी हैं —

१. यदि संयोग अपने संयोगी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है, तो फिर समवाय को समवायी पदार्थ में रहने के लिए एक अन्य समवाय की आवश्यकता होनी चाहिए। इस प्रकार तो कभी न अन्त होने वाली अवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

२. न्याय–वैशेषिक दर्शन में समवाय की स्थापना हेतु जिस 'आयुतसिद्ध' सम्बन्ध की कल्पना की गयी है, इस विषय में उनकी शंका है कि यह अयुतसिद्धत्व, अपृथग्देशत्व है, अपृथक् कालत्व या अपृथक् भावत्व है? इसमें से कोई भी अर्थ मानने पर वैशेषिक सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।[२]

---

१. सां० सू०, ५/९९

२. शां० भा० (ब्रह्मसूत्र), २/२/१३

३. 'युतसिद्ध' पदार्थों का सम्बन्ध संयोग है और 'अयुतसिद्ध' पदार्थों का सम्बन्ध समवाय है, वैशेषिकों का यह सिद्धान्त मिथ्या है। यदि वैशेषिक-दर्शन की दृष्टि से यह कहा जाय कि कार्यकारण सम्बन्ध बिना द्रव्य का आश्रित-आश्रय भाव नहीं हो सकता, इसलिए समवाय को अवश्य मानना चाहिए। शकराचार्य के मत से यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि इसमें 'अन्योन्याश्रय-दोष' की प्राप्ति होगी। जैसे - पहले कार्य-कारण का भेद सिद्ध होने पर समवाय के द्वारा उसमें आश्रित-आश्रय भाव सिद्ध किया जाता है और उसके सिद्ध होने पर फिर उसमे कुण्ड एवं बेर की भाँति भेद किया जाता है, इसलिए यह मत भी असंगत प्रतीत होता है।

मीमांसा-दर्शन का समवाय पदार्थ विचार न्याय-वैशेषिक से भिन्न है प्रभाकर 'समवाय' को नित्य नहीं मानते हैं। उनके अनुसार समवाय अनित्य वस्तुओं में रहता है तथा उसके नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है।[१] समवाय एक सम्बन्ध है तथा सम्बन्ध नित्य नहीं हो सकता। अत· प्रभाकर मत में समवाय का सम्बन्धित वस्तुओ के स्वरूप के अनुसार जन्य भी होता है, अजन्य भी। प्रत्यक्ष भी होता है और अप्रत्यक्ष भी। प्रभाकर समवाय को एक नहीं मानते। उनके अनुसार समवाय अनेक है।[२]

कुमारिलभट्ट एवं अनके अनुयायी दार्शनिक 'समवाय' को पृथक् पदार्थ नहीं मानते हैं, लेकिन इसके स्थान पर 'भेदाभेद' अथवा 'तादात्म्य' को स्वीकार करते हैं। कुमारिलभट्ट का कथन है —— ''अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य रहने वाला 'समवाय' सम्बन्ध उन पदार्थों से भिन्न कोई सद्वस्तु नहीं है, अपितु उन वस्तुओं का स्वरूप ही है।''[३]

---

१. 'समवायञ्च न वयं काश्यपीया इव नित्यमुपेम:। विनष्टायामपि व्यक्तौ न जातिरन्यत्र याति, न च तत्रावतिष्ठते, न विनश्यति केवल तद्व्यक्तिसमवायस्तस्या निवर्त्तते तेन तस्यानुपलम्भनम्।'
-- प्र० प०, पृ० ९२-९३

२. "It is both produced and not produced, and also preceptible and impereeptible, in accordance with the nature of things to which it belongs No is it one (Like the logician's Samavaya;) it is as mang as there are things"
-- Jha, G. N , Prabhakare School of Purvamimansha, p 89

३ श्लो० वा०, प्रत्यक्षसूत्रम्, श्लो० १४६-१५०, पृ० १२९-१३०

बौद्ध-दर्शन में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया गया है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित का मत है कि ''यह जगत् सर्वथा असम्बद्ध, असंपृक्त, पृथक्-पृथक् तत्त्वो से भरा हुआ है, जिन्हे हम 'क्षण' कहते हैं तथा उन क्षणों के मध्य कोई भी वास्तविक सम्बन्ध सभव नहीं है। अत: यदि कोई ऐसा सम्बन्ध माना जाता है, तो वह केवल मानस ही होगा।'' जैन-दर्शन में भी समवाय को असिद्ध ठहराया गया है।

विशिष्टाद्वैत का 'अपृथक्सिद्धि' नामक सम्बन्ध वैशेषिक दर्शन के 'समवाय' सम्बन्ध के सदृश ही प्रतीत होता है। किन्तु दोनों सम्बन्धों में कुछ मूलभूत अन्तर भी हैं। जैसे – अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध में दोनों सम्बन्धियों के मध्य अपृथक् करणीयता मानी गयी है एवं विशिष्टैक्य स्वीकार किया गया है। इसी ऐक्य एवं परस्पर सम्बद्धता के कारण अन्य बातों में समवाय के तुल्य होते हुए भी अपृथक्-सिद्धि आभ्यान्तर सम्बन्ध एवं समवाय एक बाह्य सम्बन्ध है।[१]

इस प्रकार वैशेषिक एवं विशिष्टाद्वैत दोनों सम्प्रदायों में सम्बन्धी एवं सम्बन्ध तो समान ही हैं, किन्तु उनकी व्याख्या का प्रकार भिन्न-भिन्न है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार समवाय के दोनो सम्बन्धी 'अयुतसिद्ध' होने पर भी वस्तुत: पृथक्-पृथक् होते हैं, जबकि एक तत्त्ववादी विशिष्टाद्वैत 'अपृथक्सिद्धि' के द्वारा सम्बन्धियों का ऐक्य स्वीकार करता है। इसी आधार पर रामानुज ने समवाय का खण्डन किया।

समवाय की सिद्धि : न्याय-वैशेषिक दृष्टि

सांख्य, योग, मीमांसा अद्वैतवेदान्त एवं विशिष्टाद्वैत आदि दर्शनों में समवाय के पदार्थत्व को अस्वीकार किया गया है। इन दार्शनिकों द्वारा समवाय के खण्डन का आधार वस्तुगत सत्ता को न मानना है। न्याय-दर्शन के अनुसार जिस प्रकार

---

१ "On account of its implication of unity and interconnection, aprithaksiddhi is spite of its resemblance to Samavaya in other respects, is to be taken as an internal relation".

– Hiriyanna, Indian Philosophical Studies, Vol 1, p 114.

घट एव पट का रूप प्रत्यक्ष ग्राह्य होता है, वैसे ही उन दोनो का समवाय भी प्रत्यक्ष से ही ग्रहण होता है।[१] इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन समवाय को प्रत्यक्ष–गम्य नहीं मानता है। इसकी सिद्धि के लिए प्रशस्तपाद ने 'पदार्थधर्मसंग्रह' मे कहा है –– "जिस प्रकार 'इस मटके मे दही है' यह प्रतीति (दधि एव मटके मे संयोग) सम्बन्ध के रहते ही संभव होती है, उसी प्रकार 'इन तन्तुओं मे पट है' इन वीरणों (तृण विशेषों) मे चटाई है, इस द्रव्य में गुण और कर्म है, द्रव्य, गुण और कर्मों में सत्ता है, द्रव्य में द्रव्यत्व है, गुण मे गुणत्व है, कर्म मे कर्मत्व है, 'नित्य द्रव्यो मे विशेष है' इत्यादि प्रतीतियॉ भी होती हैं। अत: यह अनुमान होता है कि (इन प्रतीति के विषय आधार एवं आधेय में भी) कोई सम्बन्ध अवश्य है, वही समवाय है।[२]

समवाय पदार्थ की सिद्धि के लिए नैयायिक कारणता के सिद्धान्त को आधार मानते हैं। उनके अनुसार कर्य एवं कारण दो अलग–अलग वस्तुएँ हैं, परन्तु कार्य अपने कारण में समवाय सम्बन्ध से स्थिर रहता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर उत्पत्ति के पूर्व कारण में असत् रहने वाला कार्य उसी कारण से उत्पन्न होता है। न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने कार्य एव कारण के मध्य समवाय सम्बन्ध को ग्रन्थ में व्यक्त करते हुए कहा है – "यहॉ (समवाय प्रसंग में) दोनों सम्बन्धी लोहे के गोले एव अग्नि की भॉति पिण्डीभूत होकर ही प्रतीत होते हैं।[३] यही कारण है कि न्याय–वैशेषिक दर्शन में उपादान कारण को 'समवायिकारण' कहा जाता है, जो कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है।

वैशेषिक–दर्शन के अनेक ग्रन्थों मे समवाय को नित्य सम्बन्ध माना गया है। यह सम्बन्ध ऐसी दो वस्तुओ के मध्य होता है, जो 'अयुतसिद्ध' होती हैं।

---

१ डॉ० राधाकृष्णन: भारतीय दर्शन, भाग–२, पृ० २१६

२. प्र० पा० भा० (न्या० क० टीका सहित), पृ० ७७५

३ 'अत्र सम्बन्धिनौ अय: पिण्ड–वह्निवत् पिण्डीभूतावेव प्रतीयते।'

–– न्या० क०, पृ० ७५२

'अयुतसिद्ध' उन दो वस्तुओ को कहा जाता है, जिसमे से एक सदा दूसरे पर आश्रित रहती है तथा जो एक-दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकती। जैसे, तन्तु एव पट मे समवाय सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के समाप्त होने पर पट का समाप्त हो जाना अपरिहार्य है। कणाद के अनुसार समवाय कारण तथा कार्य के मध्य का सम्बन्ध है। प्रशस्तपाद ने 'अयुतसिद्ध' पद का प्रयोग सर्वप्रथम किया है, किन्तु समवाय-निरूपण प्रसंग में इसके अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं किया। परन्तु विभाग-विवेचन मे 'अयुतसिद्ध' का लक्षण अवश्य दिया है — "दोनों में से एक की गतिशीलता नित्यो की युतसिद्ध है तथा पृथक् आश्रयों में समवाय का रहना अनित्यो का युतसिद्ध है।" [१] सप्तपदार्थीकार ने 'अविद्यमान आधार और आधेय के सम्बन्ध को अयुतसिद्ध कहा है।' [२]

समवाय सम्बन्ध केवल पॉच युगलो में रहता है — अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति एव व्यक्ति तथा विशेष एवं नित्यद्रव्य। समवाय संयोग सम्बन्ध से भिन्न है। संयोग 'युतसिद्ध' है, जो दो द्रव्यों के संयुक्त होने से बनता है। जैसे — मेज और पुस्तक का सम्बन्ध। जबकि समवाय 'अयुतसिद्ध' सम्बन्ध है। जैसे गुलाब और उसकी लालिमा का सम्बन्ध। समवाय एवं संयोग सम्बन्ध मे अधोलिखित भेद हैं, [३] जिनका विवेचन करना प्रासगिक होगा —

१. वैशेषिक-दर्शन संयोग को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानता। वह उसकी गणना गुण के अन्तर्गत करता है। वैशेषिक द्वारा स्वीकृत चौबीस गुणों मे से सयोग एक गुण है। इसके विपरीत समवाय को एक स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार किया गया है।

---

१. 'सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वमियन्तु नित्यानाम् अनित्याना तु युतेष्वाश्रयेषु समावायो युतसिद्धिरिति।'

-- प्र० पा० भा०, पृ० ११४-११५

२. 'अविद्यमानयो: आधाराधेययो: सम्बन्धो अयुतसिद्धि·'

-- स० प०, पृ० १५२

३. डॉ० राममूर्ति पाठक· भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृ० ९६-९७

२ सयोग दो द्रव्यो मे ही सभव है, जबकि समवाय दो द्रव्यो मे भी हो सकता है तथा दो द्रव्यो के बाहर भी।

३. संयोग एक 'युतसिद्ध' सम्बन्ध है। यह दो स्वतन्त्र द्रव्यों के मध्य होता है। ये दोनों द्रव्य सम्बन्ध के पूर्व पृथक् होते हैं तथा सम्बन्ध की समाप्ति के बाद भी स्वतन्त्र रह सकते हैं। जैसे —— नाव एव नदी का सम्बन्ध। नाव नदी के बाहर भी रह सकती है और नदी का अस्तित्व नाव के बिना हो सकता है। किन्तु समवाय दो 'अयुतसिद्ध' वस्तुओं में होता है। यह सम्बन्ध दो ऐसे द्रव्यों मे होता है, जिसमें एक पदार्थ सदैव दूसरे पर आश्रित रहता है। सम्बन्ध के नष्ट होने पर आश्रित का समाप्त होना अवश्यम्भावी है। जैसे —— नीलकमल में कमल (गुणी) के नष्ट होने पर नीलत्व (गुण) भी नष्ट हो जाता है।

४. संयोग एक बाह्य सम्बन्ध है, किन्तु समवाय आन्तरिक सम्बन्ध। उल्लेखनीय है कि प्रो० हिरियन्ना ने समवाय को भी एक बाह्य सम्बन्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है।[१] जबकि डॉ० राधाकृष्णन ने समवाय को आन्तरिक सम्बन्ध ही माना है।[२]

५. संयोग एक अस्थायी एव अनित्य सम्बन्ध है। इसके विपरीत समवाय एक नित्य सम्बन्ध है। समवाय इस अर्थ में नित्य है कि उत्पन्न पदार्थ के नष्ट हुए बिना इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

६. संयोग एक आकस्मिक या वियोज्य सम्बन्ध है; जबकि समवाय एक आवश्यक सम्बन्ध है।

समवाय पदार्थ प्रत्यक्ष गम्य है या अनुमेय। इस पर न्याय-वैशेषिक एक मत नहीं हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार समवाय का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वैशेषिक-दर्शन इसका प्रत्यक्ष नहीं मानते। नैयायिको का मत है कि जिस प्रकार से 'भूतल पर घटाभाव

---

१. प्रो० एम० हिरियन्ना· भारतीय दर्शन की रुपरेखा।

२. डॉ० राधाकृष्णन· भारतीय दर्शन, भाग-२, पृ० २१६

है', इस प्रतीति मे चक्षु के साथ भूतल का सयोग होने पर घटाभाव उस भूतल के विशेषण रूप मे भाषित होता है; उसी प्रकार समवाय अपने द्वारा सम्बद्ध वस्तु का विशेषण है। अत: अभाव भी भाँति समवाय का प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्ष से हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत वैशेषिकाचार्यों ने समवाय को प्रत्यक्ष दीखनेवाले घट, पट आदि विषयों से भिन्न बताया है। चूँकि समवाय का कोई भी स्वभिन्न एव प्रत्यक्ष सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों के साथ नहीं है। अत: समवाय प्रत्यक्ष नहीं अनुमेय है।

रघुनाथ को भी समवाय का अतिरिक्त पदार्थ रूप मे होन अभीष्ट है —— 'समवायोऽपि च पदार्थान्तरम्।' यद्यपि रघुनाथ ने समवाय को पदार्थ रूप मे स्वीकार किया है, परन्तु उसका परिगणन प्राचीन-न्याय सम्मत पदार्थों के अन्तर्गत न करके नवीन पदार्थ में किया है। वस्तुत: समवाय का महत्त्व इसके सम्बन्ध रूप होने के कारण है। इसकी इसी महत्ता को प्रदर्शित करने के कारण रघुनाथ शिरोमणि ने इसे पदार्थ का धर्म मानकर अतिरिक्त पदार्थ कहा है।

समवाय का एकत्व : वैशेषिक मत

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार समवाय पदार्थ एक है। इसे अनेक मानना अनुभव विरुद्ध होगा। यदि समवाय को अनेक माना जाय तो किसी भी वस्तु (आम, अमरुद आदि) मे असख्य समवाय मानने पडेगे। क्योकि द्वितीय अध्याय 'परमाणु एवं द्व्यणुक प्रकरण' मे यह सिद्ध किया जा चुका है कि परमाणु, द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि से लेकर स्थूल महाभूत तक समष्टिस्वरूप होने के कारण सभी का समुदाय रूप समवाय अलग-अलग हो जायेगा। इसी प्रकार प्रत्येक अवयवी के अन्दर असंख्य समवायों की कल्पना करनी होगी, जो उचित प्रतीत नहीं होता है। समवाय पदार्थ का एकत्व सिद्ध करते हुए प्रशस्तपाद ने कहा है कि समवाय सयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योकि सयोग गुण है और वह केवल द्रव्यो में ही रह सकता है। समवाय सम्बन्ध मे भी समवाय नही रह सकता, क्योंकि समवाय एक है। [१]

---

१. प्र० पा० भा०, (न्यायकन्दली टीका सहित), पृ० ७८३

वैशेषिक–दर्शन के दार्शनिकों ने 'समवाय एक है', की सिद्धि उदाहरण देकर करते हैं —— एक घर के अन्दर विद्यमान हजारो घड़ो मे सीमित आकाश को हजार घटाकाश नहीं कहा जा सकता; अपितु एक गृहाकाश ही कहा जायेगा। इसी प्रकार एक समवाय के अन्तर्वर्ती समवायों को भी एक समवाय ही मानना होगा। यहाॅ यह शंका उपस्थित होती है कि जब सब का सामान्य एक होगा तो अवयवी के गुण, कर्म, सामान्य और विशेष का अपने–अपने आश्रयों में स्थापक सम्बन्ध अलग न होने के कारण वस्तुभेद की व्याख्या नहीं हो पायेगी। घटत्व का समवाय और पटत्व का समवाय एक हो जाने के कारण उस समवाय से पट में घटत्व और घट मे पटत्व का भेद नहीं रह जायेगा, ऐसी स्थिति में घट–पट की व्याख्या संभव नहीं है।

उक्त शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए वैशेषिक दार्शनिकों का मत है कि केवल सम्बन्ध को आधार तथा आधेय का निर्णायक नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर जहाॅ घेड़े भर पानी है, वहाॅ पानी मे घड़ा है, ऐसा भी प्रामाणिक ज्ञान और व्यवहार होने लगेगा। क्योंकि संयोग सम्बन्ध, जिस प्रकार घड़े में पानी का है; उसी प्रकार वही संयोग पानी में घड़े का भी है। अत: आधार तथा आधेय का नियामक वस्तु स्वभाव को ही मानना होगा। इसलिए समवाय सबका 'एक' होने पर ही व्यवस्था बन पायेगी। स्वभावत: घटत्व का आधार घट ही होगा पट नहीं। उक्त व्यवस्था में आपत्ति नहीं की जा सकती। वैशेषिकाचार्यों ने समवाय के 'एकत्व' को और भी स्पष्ट किया है —— जिस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य आदि का प्रकाश सर्वत्र समान रूप से पड़ने पर भी सर्वत्र प्रतिबिम्ब नहीं बनता, केवल शीशे, जल आदि में ही प्रतिबिम्ब बनता है; वैसे ही समवाय सर्वत्र एक होने पर भी घटत्व का आधार घट होता है पट नहीं होता। यहि उचित प्रतीत होता है।

मानमनोहरकार ने समवाय की एकत्व सिद्धि हेतु इस प्रकार का अनुमान किया है —— "विवादास्पद शब्द आकाश के समवाय से युक्त होकर समवायी होते हैं; क्योंकि शब्द है। आकाश एक होने के कारण आकाश का समवायी भी एक ही होगा, अनेक नहीं तथा समवाय के एक होने पर भी प्रतियोगी एवं अनुयोगी के भेद से सब

व्यवस्था बन जायेगी, पदार्थों में सांकर्य नहीं होगा। क्योंकि गुण एवं गुणी आदि को व्यवस्थित रखने के लिए ही समवाय को माना गया है।''[१]

समवाय सम्बन्ध के अनेकत्व का निरूपण : रघुनाथ शिरोमणि

नव्य-नैयायिक तार्किक शिरोमणि समवाय के एकत्व का निराकरण करते हुए कहते हैं —— ''प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन में समवाय को एक माना गया है, परन्तु वस्तुत: समवाय अनेक हैं। समवाय को एक मानने पर जल आदि में गन्ध आदि की यथार्थ प्रतीति होनी चाहिए, जो कि नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि समवाय एक नहीं, अनेक हैं।''[२] दिनकरी मे यह मत 'नव्या:'[३] नाम से वर्णित है।

टीकाकार रघुदेव का कथन है कि पृथिवी में गन्ध समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है, किन्तु जल में गन्ध जलनिष्ठ समवाय से भिन्न है। अभिप्राय यह है कि वैशेषिक-दर्शन में पृथिवी का विशेष गुण 'गन्ध' मान गया है। जल में गन्ध का समवाय न होने पर भी पार्थिव कणों के कारण 'स्नेह' गुण के साथ रहता है, जिससे गन्धवता की प्रतीति सर्वसाधारण को होती है। उल्लेख्य है कि जिस प्रकार पृथिवी मे गन्धगुण का समवाय पृथक् है, उसी प्रकार तेज में 'उष्ण स्पर्श' का और जल में 'शीतस्पर्श' का समवाय पृथक् है। इससे समवाय का नानात्व सिद्ध होता है। जिस द्रव्य मे जो-जो गुण, कर्म एवं जाति रहती है, उसका समवाय पृथक्-पृथक् उन-उन द्रव्यों में रहता है।

---

१. 'विवादाध्यासिता: शब्दा आकाशसमवायेनैव समवायिन:, समवायित्वात् शब्दाकाशवत्। न च समवायस्यैकत्वे वस्तुसङ्करप्रसङ्ग:, तस्य समस्तविश्वसङ्करत्वेनैव परिकल्पितत्वात्।'

-- मा० मनो०, पृ० १३०

२. समवायोऽपि च नैको जलादेर्गन्धादिमत्त्वप्रसङ्गात् परन्तु नानैव।

-- प० त० नि०, पृ० ४५

३. पृथिव्यागन्धस्य समवायो न जले इत्यादि प्रतीते: समवायस्यनानात्वमिति तु नव्या।

-- दिनकरी, पृ० ८९

टीकाकार विश्वनाथ का कथन है कि यद्यपि जल आदि में गन्ध का (समवाय) सम्बन्ध होने पर भी गन्ध का अभाव होने से जल मे उस प्रकार की प्रतीति का प्रसंग नहीं है। अन्यथा घट के रूपादि होने के समान रूपादि की घटादि सत्ता मे प्रतीति स्वीकार करनी होगी, तथापि जल में गन्ध का सम्बन्ध है। इस प्रकार की प्रतीति का प्रसंग बाध्य है। [१]

प्राचीन मत में समवाय को एक कहा जाता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि समवाय अनेक हैं। प्रश्न उठता है कि समवाय एक क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हुए नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि का कहना है कि समवाय यदि एक है, तब जल आदि में भी गन्ध की प्रसक्ति होगी। अभिप्राय यह है कि पृथ्वीगत गन्ध का समवाय एवं जल आदि गत 'स्नेह' का समवाय यदि एक है अर्थात् अभिन्न है, तब जल आदि पदार्थ मे गन्ध के समवाय सम्बन्ध से रहने के फलस्वरूप 'जल गन्धयुक्त है' यथार्थ प्रतीति की आपत्ति होगी। क्योंकि जिसका सम्बन्ध जहाँ पर रहेगा, उसको वहाँ पर रहना होगा। अत: समवाय एक नहीं अनेक हैं। प्राचीन नैयायिक यह कहें कि गन्ध समवाय (गन्ध प्रतियोगिक समवाय), रस समवाय (रस प्रतियोगिक समवाय) से भिन्न नहीं है, क्योंकि समवाय पदार्थ एक ही है। जल में रस समवाय सम्बन्ध से रहता है, अर्थात् जल में रस समवाय है। अत: जल में गन्ध समवाय सम्बन्ध से भी होना चाहिए या जल गन्धवान् होना चाहिए, जो वस्तुत: नहीं होता है। अत· वास्तव मे समस्त समवाय सम्बन्धों में रहने वाला समवायत्व रूपी सामान्य धर्म एक अखण्डोपाधि ही है। [२]

इस प्रकार उक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि रघुनाथ शिरोमणि विवेच्य ग्रन्थ में प्रतियोगी भेद से विभिन्न समवाय अंगीकार करते हैं। दीधितिकार का कहना है कि गन्ध का समवाय एवं स्पर्श का समवाय एक नहीं है। पृथिवी में गन्धत्व का समवाय

---

१. प० त० लो०, पृ० १६९

२. प० त० नि०, पृ० ४५

है, किन्तु जल मे नहीं। ऐसी प्रतीति नाना समवाय मानने पर ही होगी। अत· समवाय अनेक है।

अभाव

न्याय-वैशेषिक दर्शन मे अभाव का स्वरूप

वैशेषिक-दर्शन प्रारम्भ मे षड्पदार्थवादी ही था। 'अभाव' को पृथक् पदार्थ के रूप में स्थान परवर्ती काल में प्राप्त हुआ। व्याख्याकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यद्यपि सूत्रकार कणाद ने 'अभाव' को पदार्थ रूप में पृथक् नाम निर्देश नहीं किया, किन्तु उन्हें भी अभाव की बाह्य वस्तुगत सत्ता अवश्य स्वीकार्य थी। वैशेषिक-दर्शन के ही कुछ अन्य सूत्रो मे 'अभाव' पद के प्रयोग से इस मान्यता की पुष्टि की गयी है —— 'कारणाभावत् कार्याभाव:' [१] एवं 'असत: क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्।' [२]

उपर्युक्त युक्ति अधिक बलवती तो नहीं कही जा सकती, क्योकि किसी पद के प्रयोग मात्र से उस पदार्थ की कल्पना कर लेना दार्शनिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण नहीं है, किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कणाद को 'अभाव' की सत्ता तो अवश्य ही अभिप्रेत थी। यह धारणा इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि भले ही कणाद ने अपने सूत्रों में 'अभाव' का लक्षण या स्वरूप वर्णित नहीं किया, किन्तु उसके चारों भेदों का निरूपण तो किया ही है। [३]

भाष्यकार प्रशस्तपाद ने पदार्थोद्देश्यप्रसंग में 'अभाव' का उल्लेख नहीं किया, केवल प्रमाण-मीमांसा के प्रसंग मे यही कहा है कि 'अभाव' (अनुपलब्धि) को

---

१ वै० सू० १/२/१
२. वही, ९/१/३
३ वही, ९/१/१-१०

भी कुछ लोगो ने पृथक् प्रमाण माना हैं; किन्तु वस्तुत: वह भी अनुमान ही है।[१] इससे स्पष्ट होता है कि प्रशस्तपाद के समय तक 'अभाव' की पृथक् पदार्थ के रूप में स्थापना नहीं हुई थी। जब से अभाव को पृथक् पदार्थ माना गया, तभी से वैशेषिक-दर्शन में यह सिद्धान्त भी स्थिर हुआ कि अभाव का साक्षात प्रत्यक्ष होता है। इससे पूर्व अभाव केवल 'किसी वस्तु का न होना' माना जाता था और उस रूप में वह अनुमान का विषय था। इससे सिद्ध होता है कि प्रशस्तपाद के समय तक अभाव अनुमान का विषय ही था, यद्यपि उसकी सत्ता तो स्वीकृत ही थी।

'अभाव' का एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्थापना परवर्ती काल मे संभवत: दसवीं शताब्दी के आसपास हुई। इस समय के दोनों आचार्यों शिवादित्य एव उदयनाचार्य के ग्रन्थों में 'अभाव' को पृथक् पदार्थ माना गया। उक्त सन्दर्भ में उल्लेख है कि इन दोनों आचार्यों में से किसने पहले 'अभाव' को पृथक्-रूप में स्वीकृत दी? इस प्रश्न का उत्तर शिवादित्य एवं उदयनाचार्य के पौर्वापर्य पर निर्भर करता है। इतना तो निश्चित है कि दोनों आचार्य दसवीं शताब्दी के हैं। किन्तु यह निश्चित नहीं है कि शिवादित्य पूर्ववर्ती हैं या उदयनाचार्य। इस संदर्भ में विद्वानो के मतभेद का अनुशीलन करने पर यही मान्यता उचित प्रतीत होती है कि शिवादित्य, उदयनाचार्य से पहले हुए होंगे। उनके ग्रन्थ का नाम 'सप्तपदार्थी' यह द्योतित करता है कि उन्होंने इसकी रचना मूलत: छह पदार्थों के स्थान पर सात पदार्थों की स्थापना हेतु की होगी। उल्लेखनीय है कि शिवादित्य ने पदर्थ के रूप में 'अभाव' का केवल नामोल्लेख ही किया था; उसके स्वरूप का स्पष्टीकारण उदयनाचार्य ने ही किया।

शिवादित्य एवं उदयनाचार्य द्वारा प्रारब्ध पदार्थों की परम्परा का पल्लवन एवं निर्वाह परवर्ती काल में सम्मिलित न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के सभी प्रकरण-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। कुछ प्रकरण-ग्रन्थो, जैसे — तर्कसंग्रह, भाषापरिच्छेद में तो

---

१. 'अभावोऽप्यनुमानम् एव'

-- प्र० पा० भा०, पृ० १८०

शिवादित्य की सप्तपदार्थी [१] की ही पद्धति अपनायी गयी है। अर्थात् पहले सात पदार्थ स्वीकार किये गये हैं और अभाव उन सातो मे अन्तिम माना गया है। वादिवागीश्वर के 'मानमनोहर' ग्रन्थ में भी इसी रीति से 'अभाव' का वर्णन किया गया है। किन्तु कुछ अन्य प्रकरण ग्रन्थों, जैसे – तर्ककौमुदी, तर्कामृत, एवं प्रमाणमजरी में उदयनाचार्य की लक्षणावली [२] एवं किरणावली [३] के अनुसार पहले तो पदार्थों के दो भेद किये गये हैं —— भाव पदार्थ एवं अभाव पदार्थ। तदनन्तर मूलत: छह पदार्थों को भाव-पदार्थों के अन्तर्गत रखा गया है और सातवें 'अभाव' पदार्थ को अभावरूप द्वितीय प्रकार का पदार्थ माना गया है। उल्लेख्य है कि इन सभी ग्रन्थों में वैशेषिक-दर्शन के पदार्थ-विवेचन को ही आधार माना गया है।

न्याय-दर्शन के प्रकरण ग्रन्थों में, जैसे —— वरदराज की 'तार्किक रक्षा' तथा केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' में प्रमेय रूप 'अर्थ' के अन्तर्गत पहले वैशेषिक सम्मत छह पदार्थों को निर्दिष्ट किये हैं; किन्तु बाद में निषेध रूप सप्तम् 'अभाव' का उल्लेख किया गया है। नव्य-न्याय परम्परा में प्राय: सभी दार्शनिको ने 'अभाव' को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है तथा वैशेषिक सम्मत सातो पदार्थों की चर्चा की है। गंगेशउपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश तथा वेणीदत्त आदि नैयायिकों ने अपने-अपने प्रतिपाद्य ग्रन्थों में 'अभाव' को पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकृत प्रदान करते हुए छह भाव पदार्थों का विषद् विवेचन किया है।

---

१. 'ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाख्या: सत्तैव'

-- स० प०, पृ० ४

२ लक्षणा०, पृ० १-२

३ किरणा०, पृ० ५-६

अभाव का लक्षण एवं अभाव सिद्धि

शिवादित्य के अनुसार 'अभाव' वह पदार्थ है, जिसका ज्ञान अपने प्रतियोगी (भाव) के अधीन होता है।[१] अभाव की यही परिभाषा गगेश उपाध्याय ने भी अपने ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के 'अभाव' प्रकरण में दी है —— 'अथाभावो भावात्मैव।' उदयनाचार्य ने अभाव का लक्षण किया है —— 'नञर्थक ज्ञान का विषय ही अभाव है।'[२] अभाव के द्वारा विषय का जो ज्ञान प्राप्त होता है। वह नञर्थक या नास्ति आदि प्रतीतियों द्वारा गम्य होता है। स्पष्टत: यह लक्षण अभाव के ग्राह्य पक्ष पर बल देता है। अभाव का किसी भी अन्य पदार्थ के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं होता। अत: यह 'असमवायी' है, जबकि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष —— पाँचों पदार्थ अपने आधार में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण समवायी ही होते हैं। केवल समवाय और अभाव ये दोनों असमवायी होते हैं। समवाय में 'अभाव' की अतिव्याप्ति न हो, इसलिए इसे 'समवाय' के अतिरिक्त ही जानना चाहिए।

सप्तपदार्थीकार की उक्त परिभाषा —— 'अभाव का ज्ञान अपने प्रतियोगी के ज्ञान के अधीन ही होता है' से स्पष्ट है कि यहॉ अभाव की स्थिति या अस्तित्व भाव पर निर्भर नहीं है, अपितु उसका ज्ञान भावाश्रित है, ऐसा कहा गया है। क्योकि यदि अभाव का अस्तित्व ही भाव पर निर्भर माना जाय, तो उसका तात्विक, वस्तुगत पदार्थत्व अप्रतिहत न रह सकेगा। अत: यहॉ यह कहना उपयुक्त है कि शिवादित्य ने अभाव का 'भाव निर्भर स्परूप' न बतलाकर 'भाव निर्भर ज्ञान' बतलाया है तथा न्याय–वैशेषिक के वस्तुवाद की रक्षा की है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन मे अभाव को एक पृथक् पदार्थ के रूप में सिद्ध किया गया है। उसकी सिद्धि हेतु सबसे प्रबल युक्ति यह है कि अभाव की प्रत्यक्ष

---

१. 'प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभाव.'

-- स० प०, पृ० ६२

२ 'नञ्र्थप्रत्ययविषयोऽभाव:' -- लक्षणा०, पृ० २६

प्रतीति होती है। कोई व्यक्ति मेज को देखता है, उस मेज पर उसे पुस्तक नहीं दिखाई देती है; तो तत्काल उसे ज्ञान हो जाता है कि 'मेज पर पुस्तक का अभाव है'। पुस्तक के अभाव का यह ज्ञान तात्कालिक एवं प्रत्यक्षगम्य है। उक्त अभाव की सिद्धि हेतु उसे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। अतः यह स्वीकार करना ही होता है कि मेज पर पुस्तक का अभाव, मेज की निषेधात्मक विशेषता है और वह वस्तुतः सत् है।

वैशेषिक-दर्शन में अभाव को केवल एक सत् बाह्य पदार्थ ही नहीं सिद्ध किया, अपितु यह सिद्धान्त भी स्थिर किया गया है कि भाव पदार्थों की भाँति 'अभाव' का भी साक्षात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। स्वयं सूत्रकार कणाद ने यद्यपि 'अभाव' को पृथक् पदार्थ के रूप में नामोल्लेख नहीं किया; किन्तु चारों प्रकार के अभावों की प्रत्यक्षता का निरुपण उन्होंने भी किया है। [१]

अभाव पदार्थ की सिद्धि नैयायिको द्वारा मुक्ति की निषेधात्मक व्याख्या से भी होती है। तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिक मत में अपवर्ग का लक्षण निषेधरूप में किया गया है। तदनुसार मुक्ति सुख की प्राप्ति में नही, बल्कि दुःखों की निवृत्ति में है। उक्त दर्शन का अपवर्ग निरूपण ही यह सिद्ध कर देता है कि उनके दर्शन के सिद्धान्तो की समग्र-संगति स्थापना हेतु 'अभाव' पदार्थ को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसीलिए न्याय-वैशेषिक परम्परा में अभाव को इतना महत्त्व दिया गया है। इस सम्बन्ध में प्रो० हिरियन्ना का विचार है —— ''न्याय-वैशेषिक का 'अभाव-सिद्धान्त' ही इस प्रकार की अपवर्ग कल्पना को संभव बनाता है।'' [२]

---

१. वै० सूत्र, ९/१/६-९

२ "Its conecptın of non-existence allows it to put foward such a view of the goal, for accordıng to it the absence of mısery is not the same as the presence of blıss"

-- Hirıyanna, EIP, p 102

अत: यह सिद्ध हो जाता है कि न्याय–वैशेषिक परम्परा मे 'अभाव' की सिद्धि उसके चरम लक्ष्य 'नि:श्रेयस' की स्वरूप सिद्धि हेतु अनिवार्य है। अभाव को एक बाह्य, पृथक् पदार्थ माने बिना, इस सम्प्रदाय के अन्तिम ध्येय मोक्ष की सिद्धि न हो सकेगी। [१] इसलिए यहाँ अभाव केवल एक तार्किक आवश्यकता ही नहीं, तत्त्वमीमांसा का एक अपरिहार्य अंग भी है। जबकि अन्य भारतीय–दर्शन में 'अभाव' की चर्चा केवल तार्किक रूप में हुई है। वैशेषिक–दर्शन में इसे भाव पदार्थों के समकक्ष सत् माना गया है, यही वैशेषिक–दर्शन का वैशिष्ट्य है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' की सिद्धि कार्य–कारण सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' से भी होती है। इस सिद्धान्त का सारतत्त्व यह है कि कारण सदा कार्य से पूर्व उपस्थित रहता है तथा कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् ही रहता है। अर्थात् कारण में प्रागभाव से अवस्थित होता है। 'असत्कार्यवाद' का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि न्याय–वैशेषिक का असत्कार्यवाद रूपी भवन 'अभाव' पदार्थ की स्वीकृत पर आधारित है। इसके विपरीत सांख्ययोग दर्शन में 'प्रकृतिवाद' व 'सत्कार्यवाद' को स्वीकार किया गया है। अत: वहाँ 'अभाव' जैसे किसी पदार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं। जबकि न्याय और वैशेषिक को कार्य एवं कारण में अत्यन्त भेद मान्य होने से असत्कार्यवाद एवं उसके फलस्वरूप 'अभाव' की तात्विक स्थिति स्वीकार करनी पड़ी। अत: न्याय–दर्शन असत्कार्यवाद का प्रवर्तक होने से उत्पत्ति से पूर्व एवं विनाश के पश्चात् कार्य का 'अभाव' स्वीकार करना अभीष्ट धर्म समझता है।

उल्लेख्य है कि उद्योतकराचार्य ही ऐसे पहले नैयायिक हैं, जिन्होंने अभाव के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। तदनुसार विषय एवं

---

१ "With such a definition of freedom in mind, it is clear that Naiyayikas must allow absences as entities, since absences enter into the causal chains we care abut They are among the ontological building blocks we must grant being to in order to translate the sentences we care about into an adequate, accurate, consistent, and clear nap"

-- Potter, Karl H , PIP, p 202

इन्द्रिय के मध्य सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाता है। विषयों एवं इन्द्रियों का यह सन्निकर्ष न्यायवार्तिककार ने षड्विध बताया है —— संयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेषण विशेष्यभाव।[१]

उक्त षड् सन्निकर्षों मे से प्रथम संयोग सन्निकर्ष से द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है। द्वितीय संयुक्तसमवाय से गुण एवं कर्म का, तृतीय संयुक्तसमवेतसमवाय से गुणों की जाति गुणत्व का, चतुर्थ सन्निकर्ष समवाय से शब्द गुण का, पंचम समवेतसमवाय से शब्दत्व का एवं अन्तिम सन्निकर्ष विशेषण विशेष्य भाव से 'अभाव' का प्रत्यक्ष होता है।[२]

वस्तुत: विशेषण विशेष्य भाव (साथ ही समवाय भी) नामक सन्निकर्ष की कल्पना 'अभाव' की प्रत्यक्ष सिद्धि हेतु की गयी है, क्योंकि ये दोनो स्वतन्त्रत: प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। अत: इस सिद्धान्त में प्रतिपादित किया गया है कि वे अपने आश्रय द्रव्य के विशेषण रूप मे ही प्रत्यक्ष हो सकते हैं।

कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी मीमांसकों ने न्याय-वैशेषिक की भाँति 'अभाव' की वस्तुगत सत्ता स्वीकार की है तथा अभाव के चारों भेद भी उन्हें मान्य हैं। किन्तु अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है, यह वैशेषिक मत उन्हे अभीष्ट नहीं है। उनका मत है कि अभाव एवं इन्द्रिय के मध्य किसी भी सम्बन्ध की कल्पना संभव नहीं है। नैयायिकों ने अभाव-प्रत्यक्ष हेतु जिस विशेषण विशेष्य भाव की कल्पना की है, वह उनके एक विशेष सिद्धान्त के प्रति मोह का परिणाम है, न कि सत्यान्वेषण का। क्योंकि अभाव रूप, रंग आदि प्रत्यक्ष योग्य सभी गुणों से रहित होता है और स्वरूपत: उसका

---

१. 'इन्द्रियेणार्थस्य सन्निकर्षाद् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। ... . सन्निकर्ष: पुन· षोढ़ा भिद्यते-संयोग·, संयुक्तसमवाय , संयुक्तसमवेतसमवाय·, समवाय., समवेतसमवाय· विशेषणविशेष्यभावश्चेति।'

-- न्या० वा०, पृ० ३२

२. न्या० क०, पृ० ४६३

प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अभाव ग्रहण की प्रक्रिया कुमारिल भट्ट के अनुसार यह है —— 'वस्तु के सद्भाव को ग्रहण कर उसके प्रतियोगी का स्मरण करने पर 'नहीं है' ऐसी प्रतीति जन्म लेती है, किन्तु वह मानस अनुभव ही होता है, इन्द्रिय जन्य नहीं।' [१]

जयन्तभट्ट ने मीमांसक के उक्त आक्षेपो का निराकरण इस प्रकार किया है कि चक्षुजनित ज्ञानविषयत्व से ही किसी वस्तु का चाक्षुषत्व सिद्ध होता है, न कि रूपवत्त्व से। अत: अभाव के प्रत्यक्ष मे 'उद्भूतरूपवत्त्व' नामक प्रत्यक्ष की शर्त काम नहीं करती है। इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का नियम भी केवल वस्तु या भाव पदार्थों पर ही लागू होता है, अभाव तो 'अवस्तु' है। अत: इसके साथ सन्निकृष्ट न होने पर भी चक्षु अभाव प्रतीति को जन्म देती है। [२]

नव्य–नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि आदि दार्शनिकों के अनुसार घटाभावाभाव (दूसरा अभाव), घट तथा घटाभाव (प्रथम अभाव) दोनों से पृथक होता है। किन्तु इस घटाभावाभाव का भी अभाव (तीसरा अभाव) प्रथम घटाभाव के तुल्य ही होता है। कारण यह है कि निषेध रूप होने से अभाव किसी अभाव से ही तादात्म्य हो सकता है। घट जैसी किसी भाव वस्तु के साथ नहीं। इससे सिद्ध होता है कि अभाव को पृथक् पदार्थ मानने में कोई शंका नहीं होनी चाहिए।

अभाव के भेद

वैशेषिक सूत्रो में यद्यपि 'अभाव' का पृथक् पदार्थ के रूप में उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु अभाव के चार भेदों का वर्णन पहली बार वैशेषिक सूत्रो में ही

---

१. गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानस नास्तिताज्ञान जायतेऽक्षानमेक्षया।।'
-- श्लो० वा० (अभाव परिच्छेद), श्लोक २१, पृ० ३४२

२. न्या० म०, भाग १, पृ० ४८–४९

उपलब्ध होता है।[१] उदयन, शिवादित्य, श्रीधर आदि आचार्यों ने अभाव को उक्त चार भेदो में ही विभक्त किया, जैसा कि उनके पूर्व महर्षि कणाद ने किया है ——

१. प्रागभाव

२. प्रध्वंसाभाव

३. अत्यन्ताभाव

४. अन्योन्याभाव

मानमनोहरकार वादिवागीश्वर का मत है कि 'अभाव' के उपर्युक्त चारों भेद प्रतियोगी के भेद से जन्य हैं, क्योंकि प्रागभाव का प्रतियोगी पूर्वकालसंसृष्ट प्रध्वंसाभाव का उत्तरकालसंसृष्ट, अत्यन्ताभाव का संसृष्ट तथा अन्योन्याभाव का प्रतियोगी तादात्म्य होता है।[२] तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के 'अभाव' का ज्ञान अपने प्रतियोगी के ज्ञान पर ही निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, मेज पर पुस्तक नहीं है —— इस वाक्य में व्यक्त 'पुस्तक' पहले मेज पर रखी थी। अत: अभाव का यह लक्षण सभी प्रकार के अभाव पदार्थों पर तो लागू होगा, किन्तु 'भाव' पदार्थों पर नही।

आचार्य विश्वनाथ पंचानन ने सर्वप्रथम अभाव को दो भागों में विभाजित किया —— संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव। पुन: संसर्गाभाव के तीन भेद किये हैं —— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव।[३] उक्त विभाजन को निम्नलिखित प्रकार से दर्शाया जा सकता है ——

---

१. वै० सू०, ९/१/१-४

२ 'प्रतियोगिभेदाद् भिन्नत्वमभावस्य, तादात्म्यसंसृष्टपूर्वापरसंसृष्टानां प्रतियोगित्वाद्।'

-- मान० मनो०, पृ० १३३

३. 'अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदत:।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च।।
एवं त्रैविध्यमापन्न: संसर्गाभाव इष्यते।'

-- भा० परि०, कारिका १२-१३, पृ० ६९-७५
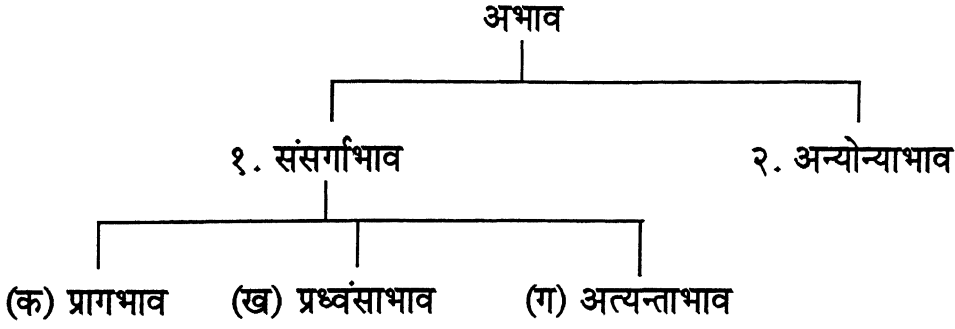
१. संसर्गाभाव

इसका अर्थ है – संसर्ग विरोधी अभाव। ये तीनों अभाव अपने प्रतियोगी के संसर्ग के विरोधी हैं। ये अभाव जहॉ रहते हैं, वहाँ इनके प्रतियोगी का संसर्ग नहीं होता। जैसे, जब तन्तु में पट का प्रागभाव होता है, तब पट के अनुत्पन्न रहने से तन्तु में पट का संसर्ग नहीं रहता। इसलिए अपने प्रतियोगी के संसर्ग का विरोधी होने से पट का 'प्रागभाव' संसर्गाभाव है। इसी प्रकार तन्तुओ का संयोग नष्ट होने पर जब पट का प्रध्वस होता है, तब तन्तुओं में पट का संसर्ग नहीं रहता। इसलिए अपने प्रतियोगी के ससर्ग का विरोधी होने से पट का 'प्रध्वंस' संसर्गाभाव है। जहॉ पट का अत्यन्ताभाव होता है, वहॉ भी पट का संसर्ग नहीं रहता। जैसे, कपाल में पट का अत्यन्ताभाव रहता है, पट का ससर्ग नहीं रहता। अत: अपने प्रतियोगी पट के संसर्ग का विरोधी होने से पट का 'अत्यन्ताभाव' संसर्गाभाव है।

(क) प्रागभाव

महर्षि कणाद ने प्रागभाग का निरूपण किया है —– 'क्रिया तथा गुण का व्यवहार न होने से, अपनी उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् ही होता है।' [१] तात्पर्य है कि यदि कार्य घटादि की उत्पत्ति के पूर्व ही वर्तमान रहता, तो उत्पन्न हुए घट की भाँति उसमें भी क्रिया तथा गुण का भाव दिखाई देना चाहिए था, जबकि ऐसा नहीं है। अत: इससे

१. वै० सू०, ९/१/१

यही सिद्ध होता है कि उत्पत्ति के पूर्व घट का प्रागभाव है तथा यह प्रागभाव ही अपने प्रतियोगी कार्य का उत्पादक है। श्रीधराचार्य के अनुसार 'प्राक्' अर्थात् - कार्योत्पत्ति से पहले 'अभाव' अर्थात् कार्यरूप विशेष का अभाव ही 'प्रागभाव' है। यह अनादि होने पर भी विनाशशील है, प्रतियोगिभूत वस्तु की उत्पत्ति ही उसके प्रागभाव का विनाश है।[१] शिवादित्य एवं अन्नं भट्ट के अनुसार प्रागभाव अनादि किन्तु सान्त होता है। [२]

अन्नं भट्ट के अनुसार प्रागभाव कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण में अभाव रहता है, इसकी तीन विशेषताएँ अधोलिखित हैं ––

१. प्रागभाव अपने प्रतियोगी के समवायिकारण में होता है। जैसे, घट का प्रागभाव मृदा के परमाणुओ में।

२. वह अपने प्रतियोगी का जनक भी होता है।

३. 'कार्य उत्पन्न होगा' –– ऐसे व्यवहार का हेतु भी प्रागभाव है।

प्रागभाव को कार्य की उत्पत्ति का हेतु स्वीकार किया गया है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए आठ असाधारण कारणो की आवश्यकता होती है, जिसमें प्रागभाव भी एक कारण है। ये आठ कारण हैं –– ईश्वर, उसकी इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, अदृष्ट (धर्म-अधर्म), काल, दिश एवं प्रागभाव। उक्त कारणो की पुष्टि वैशेषिक-दर्शन में इस प्रकार की गयी है कि एक बार कार्य की उत्पत्ति हो जाने के बाद, उसकी सभी कारण दशाएँ पूर्ववत् विद्यमान रहने पर भी उस कार्य की पुनरावृत्ति सभव नहीं होती, क्योकि अब वह कार्य उत्पन्न हो चुका है, उसका प्रागभाव नहीं है। अत· इससे सिद्ध होता है कि प्रागभाव एक ऐसी अनिवार्य कारण-दशा है, जिसके एक बार नष्ट हो जाने

---

१. 'प्रागुत्पत्तेः कारणेषु कार्यस्याभावः प्रागभावः, तत्र प्राक् कार्योत्पत्तेः पूर्वमभावो विशेषस्य।'
-- न्या० क०, पृ० ५५६

२. (क) 'अनादि· सान्तः प्रागभाव·'
-- स० प०, पृ० ८५

(ख) 'अनादि· साऽन्त· प्रागभावः'
-- त० सं०, पृ० ८८

पर कार्य पुन: उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योकि एक बार कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर उस प्रागभाव का अन्त हो जाता है।[१]

प्रागभाव असत्कार्यवाद का आधार है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में 'असत्' रहता है। उसका सर्वथा नवीन प्रारम्भ होता है। अत: प्रागभाव द्वारा यह निर्णय संभव हो पाता है कि कोई कार्य किसी विशेष कारण से ही क्यो उत्पन्न होता है। इस प्रकार, यह समवायि कारण एव कार्य के बीच की दशा है। प्रागभाव प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बद्ध नहीं माना जा सकता; केवल विषय के कारणभूत आधार से ही सम्बद्ध होता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि 'मेज पर दही का अभाव है।' यद्यपि यह सच है कि मेज पर दही नहीं है, लेकिन उसे दही का प्रागभाव नहीं कहा जा सकता है। दही का प्रागभाव तो केवल दूध में माना जाता है, जो दही का समवायि कारण है।

नव्य-नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने संसर्गभाव का प्रथम भेद 'प्रागभाव' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'प्रागभाव पारमार्थिक नहीं है।'[२] घट की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाले घटाभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं, जो अनादि काल से चला आ रहा है, किन्तु घट की उत्पत्ति होते ही नष्ट हो जाता है।

(ख) प्रध्वंसाभाव

किसी वस्तु की उत्पत्ति के बाद उसके कारण में उस वस्तु का जो अभाव होता है, वह प्रध्वंस है। प्रध्वंस का अर्थ है – विनाश। जैसे, कपाल में घट की उत्पत्ति

---

१. "Although all the causes may be present at the moment or after the effect is produced, the effect is never produced again . . Some explanaiton must be found for its not being produced again . . that conditoin is prior absence of the effect It is this condition which must always be absent after the effect is produced"

– Chakraborti, NVTNE, P. 135.

२. 'प्रागभाव एव न पारमार्थिक इत्यन्ये।'

-- प० त० नि०, पृ० ३०

के पश्चात् घट पर अभिघात होने के फलस्वरूप कपाल में जो घट का अभाव होता है, वह घट की उत्पत्ति के बाद का कारणगत अभाव होने से घट का ध्वंस है। ध्वंस का जन्म होता है पर नाश नहीं। श्रीधराचार्य के अनुसार 'उत्पन्न हुए कार्य का अपने स्वरूप से हटना ही प्रध्वंसाभाव है। यह अभाव उत्पत्तिशील होने पर भी विनाशशील नहीं है, क्योंकि विनष्ट हुए वस्तु की कभी उत्पत्ति नहीं होती।[१] शिवादित्य ने प्रध्वंसाभाव को 'सादि' किन्तु 'अनन्त' बताया है।[२] प्रध्वंसाभाव प्रागभाव के सर्वथा विपरीत होता है। इसके विषय में विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यद्यपि यह कार्य के ध्वस के अनन्तर जन्म लेता है, किन्तु इसका कभी नाश नहीं होता। अत: यह अन्नत है।

प्रध्वंसाभाव भी कार्य से सम्बद्ध है। जिस प्रकार प्रागभाव का सम्बन्ध कार्य की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाले वस्तु का अभाव है, उसी प्रकार प्रध्वंस भी कार्य के विनाश के पश्चात् वस्तु का अभाव है। अत: इस प्रकार काल के त्रिविध विभाजन–अतीत, वर्तमान एवं अनागत को यहाँ देखा जा सकता है —

अतीत - प्रागभाव - अनादि स्वरूप
वर्तमान - कार्य की विद्यमानता
अनागत - प्रध्वंसाभाव - अनन्त स्वरूप

विवेच्य सन्दर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि कार्य अपने दोनों शिरों पर 'अभाव' से संपृक्त है। उसके एक छोर पर प्रागभाव है तथा दूसरे छोर पर प्रध्वंसाभाव। यदि पूर्वपक्षी के इस आक्षेप को मान लिया जाय कि 'एक बार नष्ट हो जाने पर कार्य पुन: उत्पन्न हो जाता है' तो उस कार्य का प्रध्वंसाभाव अमान्य हो जायेगा, जो न्याय–वैशेषिक दर्शन के विरुद्ध है। न्याय–दर्शन के अनुसार दुबारा उत्पन्न होने

---

१. 'उत्पन्नस्य स्वरूपच्युति: प्रध्वंसाभाव:। स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी भावस्य पुनरनुपलम्भात्।'
-- न्या० क०, पृ० ५५६

२. 'सादिरनन्त: प्रध्वंसाभाव:।'
-- स० प०, पृ० ८६

वाला कार्य नष्ट हुए कार्य से सर्वथा भिन्न एव नूतन प्रारम्भ होता है। एक बार विनष्ट हुआ कार्य सदा के लिए नष्ट हो जाता है। अत: न्याय-वैशेषिक दर्शन का प्रध्वंसाभाव मत उचित प्रतीत होता है।

भारतीय-दर्शनिकों में सर्वाधिक मौलिक [१] विचारक रघुनाथ शिरोमणि ने 'प्रध्वंसाभाव का प्रागभाव' तथा 'प्रागभाव का प्रध्वंसाभाव' की चर्चा की है तथा यह मत प्रतिपादित किया है कि 'प्रध्वंस का प्रागभाव' तथा 'प्रागभाव का प्रध्वंस' मानना ही पड़ता है। क्योंकि घटादि की सत्व-दशा में घट का प्रागभाव और ध्वंस दोनों ही 'नहीं है' ऐसी अबाधित प्रतीति होती है। [२] रघुनाथ के परवर्ती पदार्थमंडनकार वेणीदत्त ने रघुनाथ शिरोमणि के उक्त मत की पुष्टि करते हुए कहा है —'प्रध्वंस प्रागभावयोश्चातिरिक्तावेव प्रागभावध्वंसौ घटादे: सत्वकाले प्रागभावध्वंसौ न स्त इत्यबाधिताभावप्रत्ययात्।'

(ग) अत्यन्ताभाव

जो अभाव त्रैकालिक हो — भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीन काल में रहे, उस संसर्गाभाव का नाम 'अत्यन्ताभाव' है। इसकी व्युत्पत्ति है — अन्तम् अभावम् अतीत अत्यन्त: स चासौ अभाव:। इसका अर्थ है — जिस अभाव का कभी अभाव न हो। जैसे, वायु के रूप का अभाव। [३] सूत्रकार कणाद ने अत्यन्ताभाव का स्वरूप स्पष्ट किया है कि 'और जो इन तीनों अभावो से भिन्न अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है।' [४]

---

१. "One of the most original of Indian Philosophers".

-- Ingalls, MSNNL, P 9

२ 'ध्वसप्रागभावयोश्चातिरिक्तौ एव प्रागभावध्वंसौ घटादे. सत्वकाले तस्य प्रागभावध्वसौ नस्त इत्यबाधिताभक्त्वप्रत्ययात्।'

-- प० त० नि०, पृ० ३०

३. त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभाव:। यथा वायौ रूपाभाव:।

-- त० भा०, पृ० ३१५

४. 'यच्चान्यदसदतस्तदसत्'

-- वै० सू०, ९/१/५

अन्नं भट्ट का मत है कि 'त्रैकालिक ससर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अत्यन्ताभाव होता है, अर्थात् जिसका प्रतियोगी तीनो कालों में से किसी से भी ससृष्ट नहीं होता, वह अत्यन्ताभाव कहलाता है।' [१]

प्रो० बार्लिंगे का विचार है कि अत्यन्ताभाव की परिभाषा मे 'त्रैकालिक' पद का प्रयोग उचित नहीं है। क्योंकि 'अभाव' का प्रत्यय कालिक नहीं, अपितु तार्किक है। अर्थात् यह सब कालों के लिए अभाव नहीं है, किन्तु 'समग्र अभाव' है। 'कभी नहीं' पद का प्रयोग भी तार्किक दृष्टि से ही किया जाना चाहिए, न कि कालिक दृष्टि से। 'शशश्रृंग', 'आकाशकुसुम' आदि उदाहरण विरोध या असंभावना के हैं, अत्यन्ताभाव के नहीं। विरोध अत्यन्ताभाव का सूचक हो सकता है, किन्तु अत्यन्ताभाव विरोध का नहीं।[२]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में कहा गया है कि 'भूतल पर घटाभाव' को अत्यन्ताभाव या नित्य अभाव कैसे कहा जा सकता है, क्योकि वहॉ घट के आते ही वह अभाव खत्म हो जाता है। अत: यह अभाव तभी तक संभव है, जब तक वहाँ घट नहीं है। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि उत्पाद-विनाशशाली एक चतुर्थ प्रकार का ससर्गाभाव 'सामयिकाभाव' मानना चाहिए, जो सादि भी है और सान्त भी। किन्तु यहॉ पर न्याय-वैशेषिक दार्शनिको ने कठिनाई स्वीकार की है कि हर बार भूतल पर घट रखने से अभाव समाप्त हो जायेगा किन्तु वहॉ से घट हटा लेने पर फिर वही अभाव प्रशस्त होगा। अत: यह समस्या उत्पन्न होती है कि कितनी बार 'सामयिकाभाव' कहा जायेगा। इस प्रकार अनेक सामायिकाभाव मानने पड़ेगे। अन्नम्भट्ट का कथन है कि 'इस सामयिकाभाव को भी अत्यन्ताभाव के अन्तर्गत ही रखना चाहिए। यद्यपि भूतल पर घट का अभाव नित्य ही है, किन्तु थोड़ी देर के लिए वहॉ घट रख देने पर वह अभाव लुप्त हो जाता है। अत: कहा जा सकता है कि यह नित्य होने पर भी घट का अत्यन्ताभाव

---

१. त्रैकालिकससगावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभाव:।'

-- त० सं०, पृ० ८९

२. Barlingay, S.S Mill, PP. 74-75

प्रकट तभी होता है,जब वह भूतल पर घट सयोग के प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव से सहचरित होता है।'[१]

तर्कसंग्रह की 'सिद्धान्तचन्द्रोदय' टीका में अत्यन्ताभाव भी दो प्रकार का बताया गया है-

(क) एकपर्याप्तधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक-ऐसा अत्यन्ताभाव, जिसका प्रतियोगी धर्म एक ही द्रव्य में रहता है, जैसे घटत्वाभाव।

(ख) अनेकपर्याप्तधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक- इस प्रकार के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगीधर्म एक साथ अनेक वस्तुओं में रहता हैं जैसे-द्वित्वाभाव।

उल्लेख्य है कि तर्कदीपिकाकार ने अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव उतने ही प्रकार का स्वीकार किया है, जितने प्रकार के उनके प्रतियोगी संसर्ग या तादात्म्य, यद्यपि प्रतियोगी एक ही रहेगा।[२] दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने भी यही विचार व्यक्त किया है। इससे स्पष्ट होता है कि शिरोमणि को भी अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव का बहुविधत्व अभिमत था।[३] उक्त तीनों भेद संसर्गाभाव के हैं।

(२) अन्योन्याभाव

शिवादित्य के अनुसार 'तादात्म्य का निषेध ही अन्योन्याभाव है।'[४] तात्पर्य यह है कि अन्योन्याभाव में दो वस्तुओं के परस्पर तादात्म्य, एकता या अभेद

---

१. सामयिकाभावोऽत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः।

--त० दी०, पृ० ६३

२ त०दी०, पृ० ६२-६३

३. किरणावलीप्रकाशदीधिति, पृ० १२-१४

४ 'तादात्म्यनिषेधोऽन्योन्याभाव ।' -स०प्र०, पृ०-८७

का निषेध होता है, जैसे –घट पट नहीं है। यहाँ पर घट मे पट के तादात्म्य का निषेध है या घट में पट तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं रहता। विवेच्य संदर्भ में उल्लिखित तादात्म्य, का अर्थ है–तादात्म या तत्स्वरूप होना। तत्स्वरूप तो स्वयं घट ही हो सकता है, कोई दूसरी वस्तु नहीं। अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से घट में घट ही रह सकता है, न कि कोई अन्य वस्तु। अन्नंभट्ट ने भी यही लक्षण दोहराते हुए कहा है – 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽन्योन्याभाव: यथाघट: पटो न भवति'।[१]

अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव से पृथक् प्रकार के सम्बन्ध पर आश्रित होता है। अत: यह निश्चित रूप से उससे भिन्न है। अन्योन्याभाव में एक वस्तु दूसरी वस्तु में तादात्म्य सम्बन्ध से रहने वाले अभाव की प्रतियोगी होती है, जबकि अत्यन्ताभाव में संयोग या समवाय सम्बन्ध से रहने वाले अभाव की। उक्त अन्तर को इस प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है कि अत्यन्ताभाव में प्रतियोगी एवं अनुयोगी के मध्य किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, जकि अन्योन्याभाव में दोनों के केवल परस्पर तादात्म्य का निषेध होता है।

उदाहरण के लिए, 'भूतल घट नहीं है' में दोनों के तादात्म्य का निषेध किया गया है, जबकि 'भूतल पर घट नहीं है' में केवल दोनों के तादात्म्य का ही नहीं, अपितु किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का निषेध किया गया है। अत: अत्यन्ताभाव दो वस्तुओं के मध्य संसर्ग का निषेध है, किन्तु अन्योन्याभाव उसके तादात्म्य का।

अन्योन्याभाव 'विशेष' पदार्थ एवं 'पृथक्त्व' गुण से भिन्न है। अन्योन्याभाव का अर्थ है–परस्पर भेद। यद्यपि 'भेद' शब्द विधिपरक प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुत: यह निषेध रूप ही है। क्योंकि इससे एक वस्तु में दूसरी वस्तु के तादात्म्य का अभाव ही व्यक्त होता है। ध्यातव्य है कि वैशेषिक–दर्शन में भेद या अन्तर को सूचित करने के

---

१. त०सं०, पृ०–८९

लिए दो अन्य तत्त्व स्वीकार किये गये हैं-'विशेष' एवं पृथक्त्व। 'विशेष' एक पृथक् पदार्थ है तथा 'पृथक्त्व' एक गुण है। अतः अन्योन्याभाव को उन दोनों से पृथक् सत् रूप मे स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? अथवा इनके स्वरूप में कौन से सूक्ष्म भेदक तत्त्व हैं?

न्याय-वैशेषिक आचार्यो के अनुसार, जहाँ तक 'विशेष' पदार्थ का सम्बन्ध है, वह केवल अन्तिम, नित्य द्रव्यों में ही व्यावृत्ति-बोध का हेतु है, किन्तु उन नित्य परमाणुओं से जनित जो संघटित कार्य होते हैं, उनमें परस्पर पार्थक्य-प्रतीति 'पृथक्त्व' के द्वारा ही संभव हो पाती है। इस प्रकार 'विशेष' स्वरूपतः अन्योन्याभाव एवं पृथक्त्व से भिन्न है। पृथक्त्व एवं अन्योन्याभाव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पृथक्त्व तो पृथग्व्यवहार का कारण है, अन्योन्याभाव से उसकी चरितार्थता संभव नहीं है, क्योंकि 'यह इससे पृथक् है' तथा 'यह वह नहीं है' ये दोनों प्रतीतियाँ विलक्षण प्रकार की है। 'पृथक्त्व' तो किसी वस्तु का स्वरूप बोधक धर्म है, जिसके कारण वह वस्तु अन्य वस्तुओं से पृथक् सिद्ध हो पाती है। जैसे -'घट पट से पृथक् है'। इसके विपरीत अन्योन्याभाव एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भिन्नता है, जैसे-'घट पट नहीं है।' निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पृथक्त्व तो 'अ' की भिन्नता है तथा अन्योन्याभाव 'अ' का 'ब' से भेद है।

अभावाभाव विषयक विचार : रघुनाथ शिरोमणि

प्रायः सभी नव्य-नैयायिकों ने 'अभाव' को पृथक् पदार्थ के रूप मे स्वीकार किया है। गंगेशोपाध्याय को तो वैशेषिक-दर्शन का सप्तपदार्थवाद ही अभीष्ट प्रतीत होता है। रघुनाथ शिरोमणि ने ' अभाव ' को पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है तथा अभाव के चारों भेद-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव को भी माना है। आलोच्य विषय 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' में अभाव के अभाव (दोहरे अभाव)

की समस्या को उठाया है तथा प्राचीन मत के विपरीत अभाव के अभाव को भाव रूप न मानकर उसे प्रथम अभाव के समान माना है। रघुनाथ शिरोमणि के परवर्ती नैयायिक वेणीदत्त ने भी रघुनाथ के 'अभाव' सम्बन्धी मत को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

भारतीय दार्शनिक वाङ्०मय में मुक्ति का सिद्धान्त मुक्ताफल के रूप मे स्वीकार किया गया है। दार्शनिको के अनुसार अभावाभाव का सिद्धान्त इस चिन्तन की पृष्टिभूमि है। न्यायसूत्रकार गौतम ने 'बाधनालक्षण दु:खं,' 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग:'।[१] इन सूत्रों में दु:ख के अत्यन्ताभाव को ही मोक्ष माना गया है। तात्पर्य यह है कि दु:ख वस्तुत: इष्ट का अभाव है और इस अभाव का अभाव ही मोक्ष है। अर्वाचीन दार्शनिकों का मानना है कि अभावाभाव का सिद्धान्त भारतीय-दर्शन में अहिंसा के सैद्धान्तिक व्याख्या का आधार है। प्रेम वस्तुत: अहिंसा की ही विध्यात्मक अभिव्यक्ति है, क्योकि हिंसा का अभिप्राय ही है —— प्रेम का अभाव, करूणा का अभाव और न्याय का अभाव। [२]

कुमरिल के समकालीन दिङ्०नाग के अपोहवाद सिद्धान्त के प्रखर व्याख्याकार धर्मकीर्ति ने अभावाभव के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बाद में नैयायिकों ने इसी को अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के रूप में निर्दिष्ट किया। नव्य-न्याय के तार्किको में 'भाट्टचिन्तामणि' के लेखक गंगाभट्ट ने प्रागभाव का खण्डन किया है। रघुनाथ शिरोमणि तथा वेणीदत्त ने अन्योन्याभाव की पारम्परिक मान्तया को अस्वीकार किया। कभी इन्हीं नव्य-नैयायिकों ने अभाव को पदार्थ रूप में मानना अस्वीकार किया

---

१. न्या०सू०, १/१/२१-२२

२. 'The principle of Double Negation may also be interpe\reted as the dialetical basis for the renowhed Indian doctrine of ahimsa. A Positive expression of ahimsa may be found in Prema or love For, the term vilence or himsa, in fact means abvsence of Love, compassion of peace, and of Justice.'
-- Direndra Sharma: The Nagative Diatectics. P 59

था, किन्तु बौद्धो के प्रबल खण्डन के झझावात को असह्य समझकर इन दार्शनिको ने अभाव को उपाधि के रूप मे पुनः पारिभाषित किया। रघुनाथ शिरोमणि एव वेणीदत्त ने अभाव को अभावाभाव के रूप मे ही समझने का प्रयास किया है। इंगल्स (Ingalls) ने 'रघुनाथ शिरोमणि को भारतीय दार्शनिकों में 'अत्यन्त मौलिक चिन्तक' [१] के रूप में स्वीकार किया है और उन्हें अभावाभाव सिद्धान्त के प्रखर आलोचक के रूप में मान्तया दी है'।

न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसक दार्शनिकों ने अभावाभाव की भूमिका पर कोई आग्रह नहीं किया। परन्तु नव्य-न्याय के चिन्तकों ने इसकी भूमिका पर पर्याप्त बल दिया है। प्रभाकर मीमांसक अभाव को सत् पदार्थ नहीं मानते। उनका मानना है कि 'जब हमें 'भूतल में घटाभाव' की प्रतीति होती है, तब घट का अभाव कोई नवीन वस्तु नहीं, अपितु भूतल का घट से रहित होना ही है'। [२] उनके अनुसार अभाव को किसी भाव पदार्थ की अनुपस्थिति के रूप में समझा जा सकता है। जैसे कमरे में घड़े के अभाव का अर्थ है, 'रिक्त कमरामात्र'।

अधिकाशं नैयायिकों के अनुसार अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव भाव के तुल्य होता है अर्थात् जैसे दो निषेध एक विधि के समकक्ष होते है, वैसे ही दो अभाव एक भाव के सूचक माने जाते हैं। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि को यह मत मान्य नहीं है, चूँकि ऐसा मानने पर तो उनके अनुसार अनवस्था होगी। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के अभावो मे 'अभावत्व' नामक एक अखण्ड उपाधि रहती है। [३] इसी के कारण अभाव

---

१. "Radhunath Shiromani was one of the most original of India philophers"
-- Ingalls · 'Materials for the study of Navya-Nyaya Logic'.

२. केवलाधिकरणादेव नास्तीति व्यवहारोपत्तावभावो न पदार्थान्तरमिति गुरवः।
-त०सं०दी०,पृ०-१७९

३. 'एवं घटाद्यभावस्याप्यभावोतिरिक्त एव। घटादिमति तदभावो नास्तीति अबाधिताभावत्वप्रत्ययात्।;
- प०त०नि०,पृ० ३०

भाव से पृथक् सिद्ध होता है। अत: अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव कभी भी 'भाव' नही हो सकता। हॉ, तीसरा अत्यन्ताभाव प्रथम अत्यन्ताभाव अर्थात् अभावावाभाव के तुल्य ही होता है [१] ऐसा ही दीधितिकार को मान्य है।

पदार्थनिरूपणकार रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार 'अन्योन्याभाव का अन्योन्याभाव तो भावत्व ही है। चूॅकि अतिरिक्त अन्योन्याभाव को स्वीकार करने में तो अनवस्था-दोष का प्रसंग होगा।' [२] उदाहरण के लिए (जल मे) अग्नि के अन्योन्याभाव का अन्योन्याभाव तो सद्भाव के तुल्य ही होगा।

इस प्रकार किसी भी तत्त्व के विश्लेषण में उसका निषेध ही एक महत्त्वपूर्ण पक्ष होता है, क्योंकि उसके बिना हम उस वस्तु का प्रतिपादन विधि रूप से नहीं कर सकते। इसीलिए भाव पदार्थो की भाँति अभाव को भी सत् पदार्थ माना गया है। वस्तुत: अभाव की पदार्थ रूप में महत्ता दो कारणों से है, प्रथम, अभाव दु.खो के अत्यन्ताभाव का द्योतक है तो वहीं दूसरा प्रागभाव रूप में कार्यकारण सिद्धान्त की रक्षा भी करता है। पाश्चात्य दार्शनिक हेगल ने भी निषेध को अपने दर्शन मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और कहा है कि निषेध स्वरूपत: अमूर्त नहीं, बल्कि मूर्त्त (Determinate Negation) होता हैं इसी सन्दर्भ मे हेगल का प्रसिद्ध कथन है-" प्रत्येक निषेध विशेषीक.रण है" (Every Negation is Determination)। [३] रघुनाथ ने भाव पदार्थो के समान निषेधात्मक रूप से वस्तुओं की सत् प्रतीति के लिए 'अभावाभाव' के सिद्धान्त

---

१ 'न चैवमनवस्था, एकस्यैव घटाभावस्य स्वाभावत्वरूपत्वे विरोधत्वात्।

-वही, पृ० ३०

२ 'अन्योन्याभायस्यान्योन्याभावो भावत्वम्, अतिरिक्तान्योन्याभावाङ्०गीकारेऽनवस्थाप्रसङ्०गात्।'

-- वही, पृ०-३०

३. पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास : डॉ० हरिशकर उपाध्याय, पृ०-३२१

को प्रतिपादित किया है। अभावाभाव को भाव रूप मे स्वीकार करने पर 'अभाव' पदार्थ का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। इसलिए रघुनाथ शिरोमणि ने तृतीय अभाव को प्रथम अभाव के अनुरूप माना है।

❒❒❒

षष्ठ अध्याय

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा प्रतिपादित नवीन पदार्थ

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा प्रतिपादि नवीन पदार्थ

प्राचीन न्याय–वैशेषिक दर्शन में दो प्रकार के पदार्थ–भाव एवं अभाव स्वीकार किये गये हैं। इन पदार्थों के परस्पर विधि एवं निषेध रूप होने के कारण ही इनका (भाव एवं अभाव पदार्थों का) अन्य प्रकार संभव नहीं है। इस प्रकार भाव एवं निषेध विधि से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय छः भाव पदार्थ और सातवॉ अभाव पदार्थ है। यही प्राचीन न्याय–वैशेषिक दर्शन का 'सप्तपदार्थ सिद्धान्त' है। रघुनाथ शिरोमणि ने सर्वप्रथम इन सात पदार्थों के परीक्षण के पश्चात् 'आठ' ऐसे नवीन पदार्थों को स्वीकार किया है, जिनका अन्तर्भाव उक्त भाव एवं अभाव पदार्थों में नहीं किया जा सकता।

रघुनाथ शिरोमणि के अनुयायी वेणीदत्त ने पॉच पदार्थ — द्रव्य, गुण, कर्म, धर्म एवं अभाव माने हैं। द्रव्य पृथिवी जल आदि नौ ही हैं। गुण इक्कसी प्रकार का है। कर्म एक ही — गमन को मानते है। धर्म के अन्तर्गत क्षण, स्वत्व, शक्ति, सख्या, वैशिष्ट्य, विषयता, कारणत्व एवं कार्यत्व नामक नवीन पदार्थों का प्रतिपादन किया है। अभाव के दो भेद माने हैं — संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। ध्यातव्य है कि रघुनाथ शिरोमणि ने जिन नवीन पदार्थों — 'क्षण, स्वत्व, शक्ति, संख्या, वैशिष्ट्य, विषयता, कारणत्व एवं कार्यत्व' का स्वतन्त्र पदार्थत्व स्वीकार किया है, उन्हीं पदार्थों को पदार्थमंडनकार वेणीदत्त ने 'धर्म' नामक चौथे पदार्थ के अन्तर्गत अवस्थित किया है। वेणीदत्त का मानना है कि वे पदार्थ धर्मस्वरूप हैं। यहॉ धर्म से तात्पर्य धर्मशास्त्र में वर्णित सत् आचार आदि से नहीं है, वरन् कणाद सम्मत पदार्थों के धर्म से है। महर्षि कणाद ने जगत् के बाह्य पदार्थों के विशिष्ट धर्मों की व्याख्या हेतु ही शास्त्र का निर्माण किया —

'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः।' [१]

---

१ वै० सू०, १/१/१

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा मान्य आठ स्वतन्त्र पदार्थ — क्षण, स्वत्व, शक्ति, संख्या, वैशिष्ट्य, विषयता, कारणत्व एवं कार्यत्व हैं, जिनका समीक्षात्मक विवेचन अधोलिखित है —

क्षण

न्याय-वैशेषिक दर्शन मे क्षण को काल-अवधि के रूप में माना गया है। उदयनाचार्य 'क्षण' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'उत्पन्न द्रव्य जब तक गुणरहित रहता है अथवा उत्यन्त सूक्ष्म तन्तु संयोग होने पर जब तक पट उत्पन्न नहीं होता है अथवा क्रिया के उत्पन्न होने पर जब तक विभाग उत्पन्न नहीं होता, उतना काल 'क्षण' है। अथवा कार्य रहित सामग्री ही 'क्षण' है।' [१] श्रीधराचार्य के अनुसार 'निमेष' का चतुर्थ भाग एक 'क्षण' कहलाता है और दो क्षणों का एक 'लव' होता है। ऑख के पलकों की क्रिया से उपलक्षित काल को 'निमेष' कहते हैं। ये सभी गणित शास्त्र के द्वारा जानना चाहिए।' [२] प्राचीन न्याय में क्षण की चार उपाधियॉ स्वीकार की गयी हैं। इन उपाधियों का आधार तृतीय पदार्थ 'कर्म' है। रघुनाथ शिरोमणि क्षण को काल की उपाधि के रूप में तो स्वीकार करते ही हैं, साथ ही क्षण को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में भी मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में क्षण को काल के रूप में मानते हुए उसकी चार उपाधियॉ स्वीकार की गयी हैं। क्रिया विशेष से उत्पन्न विभाग के प्राणभाव से विशिष्ट क्रिया को क्षणोपाधि कहा जाता है। विश्वनाथ ने क्षण की चार उपाधियाँ बतलायी हैं। जैसे — अवयव नाश से ही अवयवी का नाश संभव

---

१. किरणा०, पृ० ७९

२. निमेषस्य चतुर्थो भागः क्षणः, क्षणद्वयेन लवः, अक्षिपच्मकर्म्मोपलक्षितकालो निमेष इत्यादिगणितशास्त्रानुसारेण प्रत्येतव्यम्।

— न्या० क०, पृ० १५९

है, अर्थात् त्रसरेणु नाश के लिए द्व्यणुक नाश अपेक्षित है और द्वयणुक नाश के लिए परमाणु का नाश। परमाणु नित्य है, अत: उसका नाश नहीं होता, परन्तु दो परमाणुओ का संयोग नष्ट हो जाता है। अत: प्रथम क्षण में क्रिया होती है और द्वितीय क्षण में क्रिया से विभाग, विभाग से पूर्वदेश संयोग का नाश, तब उत्तर देश संयोग का नाश होता है। [१] यद्यपि चतुर्थ क्षण तक ही क्षण की उपाधि को स्वीकार किया गया है। तथापि चतुर्थ क्षण में क्रिया के नष्ट होने पर भी पंचम क्षण में अन्य क्रिया होने लगती है। अत: पहले की तरह क्षण आदि का व्यवहार किया जाता है। अभिप्राय यह है कि पंचम क्षण में पुन: दूसरी क्रिया के उत्पन्न होने पर वही क्रिया प्रथम क्षण की उपाधि बन जाती है। इस प्रकार क्षण का अवलम्बन करके लव, दण्ड, मुहूर्त, अहोरात्र आदि स्थूल कालोपाधि रूप खण्डकाल का व्यवहार संभव हो सकता है।

रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार 'स्वजन्य विभाग प्रागभावादि क्रिया' को क्षण कहने से क्षण व्यवहार नहीं हो सकता, अतएव क्षण अतिरिक्त पदार्थ रूप मे ही काल की उपाधि होगा। रघुनाथ शिरोमणि ने सर्वप्रथम पूर्वपक्ष सम्मत क्षण के उपाधि के स्वरूप को प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है और क्षण को द्रव्य गुण आदि पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ के रूप मे माना है। यह स्वयं क्षणिक है तथा क्षण को कालोपाधि के रूप में ही स्वीकार किया है। [२]

महाकाल एक होने पर भी क्रिया जन्य वस्तु के उपाधि रूप में ग्रहण करके उक्त काल में क्षण, काष्ठा, मुहूर्त, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर प्रभृति खण्डकाल का व्यवहार हुआ करता है। यहॉ पर शंका होती है कि एक ही घट के लिए जिस प्रकार से घट, कलश, कुम्भ आदि विभिन्न व्यवहार हुआ

---

१. न्या० सि० मु०, पृ० ७१

२. क्षणश्च क्षणिकोऽतिरिक्त: कालोपाधि ।

— प० त० नि०, पृ० ३३

करता है, उसी प्रकार एक ही काल को क्षण, कल्प, काष्ठा आदि का व्यवहार स्वीकार करने पर क्या हानि है? प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन का मानना है कि घट में घटत्व, कलशत्व व कुम्भत्व विरुद्ध धर्म नहीं है, जबकि क्षणत्व, कल्पत्व, काष्ठात्व परस्पर विरुद्ध धर्म होने से खण्डकाल का व्यवहार नहीं हो सकता। यह क्षण है, यह दिन है, इस प्रकार की द्विविध प्रतीति का विषय एक नहीं है, क्योंकि क्षण से दिन अभिन्न है। इस प्रकार का अभेद कोई बुद्धि स्वीकार नहीं करती। अतएव क्रिया प्रभृति जो काल की उपाधि है, वही क्षण, दिन आदि व्यवहार का नियामक स्वीकार करना होगा। उक्त क्षण चतुष्टय के प्रथम क्षण का निरूपण विभाग प्रागभाव विशिष्ट कर्म के रूप में किया गया है। प्राचीन नैयायिक क्षण की विभिन्न उपाधि रूप होने पर उसे अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते। इनके अनुसार विभाग रूपी गुण की उत्पत्ति से पहले रहने वाला कर्म ही क्षण है। पर यह मत समीचीन नहीं है।

रघुनाथ शिरोमणि क्षण की प्रथम उपाधि का खण्डन करते हुए कहते हैं कि विभाग के प्रागभाव विशिष्ट क्रिया को क्षण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक कर्म अपनी उत्पत्ति से चार क्षण बाद तक स्थायी रहता है तथा अपने उत्तरवर्ती किसी अन्य कर्म के द्वारा उत्पन्न विभाग के प्रागभाव से विशिष्ट होता है। [१]

स्वजन्य विभाग रूप परमाणु में क्षण की प्रथम क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय क्षण में भी प्रथम क्षण की क्रिया से विभाग होता है। रघुनाथ शिरोमणि क्रियाजन्य विभाग रूप द्वितीय क्षण की उपधि का खण्डन करते हैं। पूर्वपक्ष द्वारा

---

१. विभागप्रागभावविशिष्टं कर्मैव तथेति चेत्। न उदीच्यकर्मजन्यविभागप्रागभावविशिष्टस्य कर्मणः क्षणचतुष्ट्यावस्थायित्वात्।

— प० त० नि०, पृ० ३३

क्षण–चतुष्टय को क्रिया के आधार पर सिद्ध किया गया है। रघुनाथ शिरोमणि क्रियाजन्य क्षण–चतुष्टय का खण्डन करते हुए कहते हैं ––

'जाते च विभागे कुतः क्षणव्यवहारः' [१]

अर्थात् विभाग उत्पन्न होने के पश्चात् किस प्रकार क्षण व्यवहार होगा? आशय यह है कि 'किसी भी कर्म से उत्पन्न विभाग के पश्चात् पूर्वसंयोगनाश, उत्तरसंयोगउत्पत्ति एवं कर्मनाश को स्वजन्य विभाग के पूर्ववर्ती न होने के कारण 'क्षण' शब्द के द्वारा अभिहित नहीं किया जा सकता। अर्थात् कर्म के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ सोपान को अभिहित करने के लिए 'क्षण' शब्द का व्यवहार नहीं कर सकते।'

टीकाकार रघुदेव के अनुसार प्रथम क्षण में क्षण व्यवहार के होने पर भी द्वितीय क्षण में क्रियाजन्य विभाग की उत्पत्ति द्वारा विभाग का प्रागभाव संभव नहीं है। अतः क्रिया का ग्रहण कैसे होगा? इस प्रकार से द्वितीय क्षण के लक्षण मे अव्याप्ति है। [२] दिनकरीकार आचार्य दिन कर भट्टचार्य उक्त लक्षण के इस दोष का निराकरण करते हुए कहते हैं कि द्वितीय पक्ष में उत्पन्न अन्य क्रिया के समान कहे गये विशिष्ट क्षण का 'क्षणत्व' ही वाच्य है। इस प्रकार प्रतिक्षण क्रिया की उत्पत्ति में प्रमाण का अभाव है। अतः वहाँ भी क्षण व्यवहार की प्रतीति क्षणत्व उपाधि से जाननी चाहिए। [३]

'पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो' अर्थात् मूर्त द्रव्य का पूर्व देश के साथ जो संयोग है, उस संयोग से पृथक् जो क्रियाजन्य विभाग है, उसे द्वितीय

---

१. प० त० नि०, पृ० ३३

२ उक्तलक्षणस्य अलक्ष द्वितीयक्षणमुभ्युपेत्योक्ताव्याप्तिं।

— प० ख० व्या०, पृ० ५९

३. दिनकरी, पृ २००

क्षणोपाधि कहते हैं। इस प्रकार लक्ष्य भेद से लक्षण के अनेक होने से पहले कही गयी अव्याापि नहीं है। ऐसा प्राचीन न्याय-वैशेषिक का मत है।

टीकाकार रघुदेव तथा वेणीदत्त का कथन है कि उक्त रूप से द्वितीय क्षण की उपधि में अव्याप्ति दोष के दूर हो जाने पर भी 'अननुगम-दोष' का निराकरण नहीं हुआ है। अतः रघुनाथ शिरोमणि प्रकारान्तर से द्वितीय क्षण की उपाधि में भी इस दोष को आरोपित करते हैं —

'तर्हि सुतराम् अननुगम्।' [१]

क्षण के स्वतन्त्र पदार्थत्व की सिद्धि के प्रसंग में प्रयुक्त 'स्व' शब्द 'कर्म' का द्योतक है। 'कर्म' को 'क्षणचतुष्टयावस्थायित्वात्' माना गया है। कर्म उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन रूप से पॉच प्रकार का माना गया है।[२] प्रशस्तपाद ने पाँच प्रकार के कार्मों मे रहने वाली कर्मत्व जाति के तेरह साधर्म्य बतलाये हैं। [३] जिनमें से एक द्रव्य का अनारम्भक होना भी है। इसी परिप्रेक्ष्य मे रघुनाथ शिरोमणि ने चतुर्थक्षणावस्थायी कर्म पर अवलम्बित क्षण की उपाधि क्षणत्व का खण्डन किया है। कणाद के अनुसार 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को तथा एक गुण दूसरे गुण को उत्पन्न करता है। किन्तु कर्म कर्म से जन्य नहीं होता।' [४] यदि एक कर्म दूसरे कर्म को उत्पन्न करेगा तो शब्द के समान अपनी उत्पत्ति के पश्चात् ही करेगा और ऐसा होने से प्रथम क्रिया से ही जितने संयुक्त द्रव्य थे, उनसे उसी क्रिया से विभाग उत्पन्न होने पर द्वितीय क्रिया किन संयुक्त द्रव्य से दूसरे विभाग को उत्पन्न करेगी, क्योकि विभाग संयोग पूर्वक ही होता है। दूसरा

---

१ प० त० नि०, पृ० ३३

२. 'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चन प्रसारण गमनमिति कर्माणि।'

— वै० सू०, १/१/७

३. प्र० पा० भा०, पृ० २१७

४. 'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते'

— वै० सू०, १/१/११

कोई सयोग उस आधार में उत्पन्न हुआ ही नहीं है। यदि द्वितीय क्रिया विभाग को उत्पन्न न करे तो कर्म के लक्षणानुसार — एक कर्म दूसरे कर्म की अपेक्षा नहीं करता। यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त होगा।

अत: 'क्षण में प्रथम क्रिया दूसरी क्रिया को उत्पन्न करेगी' ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि प्रथम क्रिया दूसरी क्रिया को उत्पन्न करने में समर्थ हो तो वह (क्षण) काल विलम्ब को सहन नहीं कर सकता, क्योंकि उसे दूसरे किसी भी क्रियान्तर को उत्पन्न करने की अपेक्षा नहीं है। पूर्व संयोग के नाश के तृतीय क्षण में प्रथम क्रिया द्वितीय क्रिया को उत्पन्न करे तो भी पूर्वोक्त रीति से विभाग जनकता नहीं हो सकती। यदि उत्तर क्रियान्तर को उत्पन्न करे, तो भी वही विभाग-जनकता न होना रूप में दोष होगा। उत्तर संयोग की उत्पत्ति के पश्चात् पंचम क्षण में प्रथम क्रिया स्वयं नष्ट हो जाती है। तथा च — 'कर्म साध्यं न विद्यते' एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है, इसमे प्रमाण नहीं है।

न्यायकन्दलीकार का कथन है कि यदि एक क्रिया दूसरी क्रिया को उत्पनन करे तो फिर चलते हुए व्यक्ति की गति का कभी नाश ही नहीं होगा। वह चलता ही रहेगा। यदि कहा जाय कि चलने की इच्छा या तद्नुकूल प्रयत्न के विराम से गति का विराम होगा, तो फिर वह प्रयत्न ही उस दूसरी क्रिया का कारण होगा, क्रिया नहीं।[१] श्रीधराचार्य ने उक्त निष्कर्ष की पुष्टि मे यह अनुमान भी किया है —

विवादाध्यासितं कर्म कर्मकारणं न भवति,

कर्मत्वात्

अन्त्यकर्मवत्[२]

---

१. कर्मण. कर्मान्तरारम्भे गच्छतो गतिविनाशो न स्यात। इच्छाप्रयत्नादिविरामादन्ते गतिविराम इति चेत्? तर्हीच्छाप्रयत्नादिकमेवोत्तरोत्तरकर्मणामपि कारणम्, न तु कर्म।

— न्या० क०, पृ० ६९९

२ वही, पृ० ६९९

अथवा यह अनुमान भी किया जा सकता है कि जैसे क्रिया से पहले क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही कोई क्रिया केवल क्रिया होने से ही किसी क्रिया को उत्पन्न नहीं कर सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षण की क्षणत्व उपाधि कर्म पर आधारित है और जब कर्म ही स्वभावतः अननुगत है, तो फिर क्रिया, क्रियाजन्य विभाग, विभाग से पूर्व देश संयोग का नाश और उत्तरदेश संयोग की उत्पत्ति, इसमें क्षणत्व कैसे अनुगत हो सकता है?

प्राचीन न्याय में क्षण की तृतीय उपाधि को स्पष्ट करते हुए कहा गया है — पूर्वदेशवर्ती जो मूर्त द्रव्य का संयोग, तादृश संयोग नाश (ध्वंस) सहित जो उत्तर संयोग प्रागभाव है, उसी को तृतीय क्षण की उपाधि कहते हैं। अर्थात् तृतीय क्षण में पूर्वदेशवृत्ति संयोग का नाश होता है।[१] उत्तरदेशवर्ती संयोग विशिष्ट जो क्रिया है, वही चतुर्थ क्षण की उपाधि है।[२]

रघुनाथ शिरोमणि पूर्वपक्ष सम्मत तृतीय व चतुर्थ क्षण की उपाधि को प्रस्तुत करके 'कर्म के अननुगत' तर्क से ही खण्डन करते हैं — विभाग अथवा पूर्व संयोग को ग्रहण करके जिस प्रकार क्षण व्यवहार होगा, उसी प्रकार पूर्वसंयोगनाश काल में एवं उत्तर संयोगकाल में भी क्रिया अवस्थित होने से क्षणत्व निरूपण करना होगा।[३]

दीधितिकार क्षण की कालोपाधि का निराकरण करके उसको अतिरिक्त पदार्थ के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहते हैं —

---

१. पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा।

— न्या० सि० मु०, पृ० ७१

२. उत्तरसयोगावच्छिन्नं कर्म वा।

— वही, पृ० ७१

३ एवं पूर्वयंयोगनाशकाले उत्तरसयोगकालेऽपि कर्मत्वे क्षणत्वं वक्तव्यमिति।

— प० त० नि०, पृ० ३३

'क्षणश्च क्षणिकोऽतिरिक्तः कोलोपाधिः।' [१]

अर्थात् भाव एवं अभाव पदार्थ से अतिरिक्त 'क्षण' पदार्थ ही कालोपाधि है। यही क्षण पदार्थ ही क्षणिक स्थायी है। प्राचीन नैयायिकों के मत से सिद्ध क्रिया विशेष को क्षण व्यवहार का उपयोगी कालोपाधि स्वीकार नही किया जा सकता। इस क्षण पदार्थ को क्षणिक कहने के फलस्वरूप द्रव्यादि सप्त पदार्थों से इसका वैलक्षण्य सूचित हुआ है। यदि क्षण को क्षणिक न कहा जाय तो घट के प्रागभाव क्षण में भी 'इदानीं घटः' इस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति होगी। इस आपत्ति के निवारणार्थ ही जन्य क्षण का क्षणिकत्व स्वीकृत होगा। पदार्थ मंडनकार वेणीदत्त ने भी रघुनाथ शिरोमणि के समान तर्कों से प्राचीन नैयायिक सम्मत क्षणोपाधि का खण्डन करके, क्षण को अतिरिक्त पदार्थ के रूप मे प्रतिपादित किया है। [२]

निष्कर्षतः प्राचीन न्याय-वैशेषिक मे क्षण को कालोपाधि मानकर ही क्षण की चार उपाधियॉ स्वीकार की गयी हैं। इस क्षण चतुष्टय उपाधि का आधार 'क्रिया' को बताया गया है। प्रथम क्षण में क्रिया होने पर ही, द्वितीय क्षण मे विभाग, तृतीय क्षण में पूर्व सयोग का नाश तथा चतुर्थ क्षण में उत्तर संयोग का नाश संभव है। रघुनाथ शिरोमणि ने प्रथम क्षण की स्वजन्य क्रिया का खण्डन करने के लिए 'स्वत्व के अननुगत' सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। अन्य क्षण की क्रिया का खण्डन 'कर्म के अननुगत' सिद्धान्त के आधार पर किया है। प्राचीन न्याय-वैशेषिक मे स्वत्व को अननुगत रूप मे स्वीकार किया गया है तथा कर्म को भी अनपेक्ष एव अनारम्भक माना गया है। अतः रघुनाथ शिरोमणि का मत प्राचीन न्याय–मत के विरुद्ध नहीं है। अपितु रघुनाथ शिरोमणि

---

१. प० त० नि०, पृ० ३३

२. प० मं०, पृ० २९–३०

ने क्षण को अतिरिक्त पदार्थ के रूप मे प्रतिपादित करके प्राचीन न्याय–वैशेषिक की उक्त विसगति को दूर करने का प्रयास किया है।

उल्लेख्य है कि रघुनाथ शिरोमणि जब 'काल' नामक द्रव्य को स्वीकार नही करते, तो काल की उपधि 'क्षण' को कैसे स्वीकार करते हैं? काल निष्क्रिय द्रव्य है, जबकि क्षण सक्रिय द्रव्य है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के साथ क्षण सम्बन्धित है। दूसरे शब्दो मे, उत्पत्ति और विनाश का निर्धारण 'क्षण' के आधार पर ही किया जाता है, न कि काल नामक द्रव्य के आधार पर। यही कारण है कि रघुनाथ शिरोमणि काल की उपाधि रूप 'क्षण' को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में प्रतिपादित करते हैं तथा विभु काल का अन्तर्भाव ईश्वर की उपाधि में करके अपने मौलिक चिन्तन का परिचय देते हैं।

शक्ति

कारण और कार्य सापेक्ष शब्द हैं। कार्य अपने स्वरूप के लिए कारण की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने कारण से ही सम्बन्धित है। कारण एव कार्य के इन सम्बन्धो की विस्तृत व्याख्या करने के कारण ही नव्य न्याय को 'अवच्छेदक शास्त्र' कहा जाता है। कार्य मे कारणता दो प्रकार से स्वीकार की गयी है —— समुदाय रूप मे और एकत्व रूप में। जैसे, घट के प्रति दण्डादिनिष्ठा कारणता क़ो 'दण्डचक्रादिन्यायेन कारणता' कहते हैं; क्योंकि दण्डादिकों मे से किसी एक कारण के न होने पर घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। दूसरे प्रकार की कारणता वह है, जो प्रत्येक में विद्यमान है, जैसे – वह्नि के प्रति 'तृणारणिमणिसंयोग निष्ठा कारणता'। इसी को 'तृणारणिमणिन्यायेन कारणता' भी कहते हैं। तृण, अरणि एवं सूर्यकान्तमणि इन तीनों कारणो मे से किसी एक कारण के रहने पर भी वह्नि की उत्पत्ति हो सकती है।

कारणता के उक्त विवेचित द्विविध प्रकार के आधार पर ही रघुनाथ शिरोमणि ने दो अतिरिक्त पदार्थों की कल्पना की है —— 'शक्ति' एवं 'कारणता'।

कारण एवं कार्य के परस्पर सम्बन्ध के कारण ही 'कार्यत्व' को भी अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार किया है।

प्रभाकर मीमांसा में भी शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति उस क्षमता का नाम है, जिसके द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य, वस्तुओं के कारण बनते हैं। यह नित्य वस्तुओ में नित्य होती है और अनित्य वस्तुओ में अनित्य। जैसे —— अग्नि में रहने वाली 'दाहकता' अग्नि की शक्ति है, जिसके अभाव में अग्नि का अस्तित्व सम्भव नहीं है। शक्ति पदार्थ की सिद्धि अनुमान प्रमाण द्वारा संभव है, प्रत्यक्ष द्वारा नहीं। दृष्ट कारण के द्वारा उसकी सिद्धि मानने पर दाह-उत्पत्ति की पूर्वावस्था द्वारा ही उसमे विलक्षणता का अभाव मानना होगा, जिससे कार्य के उत्पन्न न होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।[१] अत: शक्ति की सिद्धि अनुमान प्रमाण द्वारा ही संभव है।

शक्ति की कार्य रूप में उत्पत्ति उसके आश्रय रूप कारण से होती है। जब कार्य उत्पन्न नहीं होता और कार्य का उत्पादक कारण विद्यमान रहता हो, तब शक्ति की दो गतियाॅ समझी जाती हैं —— अभिनव एवं विनाश। [२]

जहाॅ पुन: प्रतिकार वश कार्य का उदय होता है, वहाॅ अभिनव नामक शक्ति मानी जाती है। उदाहरण के लिए चन्द्रकान्तमणि को पास रखने से अग्नि में दाह उत्पन्न नहीं होता, परन्तु उस मणि को हटा लेने पर पुन· दाह रूप कार्य उत्पन्न हो जाता है। जहाॅ कभी कार्य नहीं देखा जाता है, वहाॅ 'विनाश शक्ति' को समझना चाहिए। अर्थात् जहाॅ कारण के रहते हुए भी प्रयत्न करने पर कार्य

---

१ न तत्र दृष्टमेव स्वरूपं कारणम्। यद्वि दृष्ट कारणं तस्याऽजनकावस्थातो विलक्षणत्वाभावात्कार्यानुद्‌य प्रसंगात्।

—— प्रकरणपचिका, पृ० २१८

२. तस्य च कार्यनुत्पत्तौ द्वयी गतिभिरनव. विनाशो वा।

—— प्रकारणपचिका, पृ० २१९

उत्पन्न नहीं होता तो वहाँ समझना चाहिए कि शक्ति नष्ट हो चुकी है। उदाहरण के लिए, स्त्री–पुरुष के रहते हुए भी उत्पादकत्व शक्ति के नष्ट हो जाने पर सन्तान पैदा नहीं होती अथवा भूने हुए बीज मे उत्पादक क्षमता नष्ट हो जाती है, जिससे प्रयत्न करने पर भी वह अंकुरित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्रसिद्ध अग्नि आदि के सभी भाव कार्यों में कार्योदय के अनुकूल कायोत्पादकत्व आदि से ही शक्ति का अनुमान किया जाता है। [१]

कुमारिल भट्ट के अनुसार शक्ति द्रव्य, गुण एवं कर्म —— इन तीनों में रहने वाली शक्तित्व जाति से युक्त है तथा इसे अर्थापत्ति प्रमाण से जाना जाता है। [२] कुमारिल भट्ट शक्ति को पदार्थ के रूप में नहीं स्वीकार करते, बल्कि पदार्थ के गुणत्व रूप में सिद्ध मानते हैं। शक्ति की व्याख्या करते हुए कुमारिल शक्ति को लौकिक एवं वैदिक भेद से दो प्रकार का मानते हैं। इनमें से प्रथम लौकिक शक्ति अर्थापत्ति प्रमाण से जानी जाती है। जैसे —— अग्नि आदि की दाहकत्व शक्ति। दूसरी वैदिक शक्ति साधना के द्वारा जानी जाती है। जैसे —— यज्ञादि की स्वर्गादि साधकत्व शक्ति। [३]

वैशेषिक सम्मत सप्तपदार्थों से पृथक् शक्ति की पदार्थान्तर रूप मे सिद्धि इस प्रकार की गयी है —— गुण, कर्मादि मे पृथ्वी आदि द्रव्य नहीं रहती और शक्ति तो उस गुण, कर्म आदि में भी रहती है, अतः वह शक्ति गुण या कर्म रूप नहीं है। सामान्य, विशेष, समवाय, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव इन पदार्थों की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, शक्ति तो उत्पत्ति एवं विनाशशालिनी है। शक्ति की उत्पत्ति होने से अनादि प्रागभाव रूप भी नहीं है। यद्यपि सामयिकाभाव का उत्पत्ति एवं विनाश हुआ करता है, तथापि शक्ति तो भाव पदार्थ है। अतः शक्ति

---

१. प्रकरणपचिका, पृ० २१९
२. मा० मेयो०, पृ० २६३
३ वही, पृ० २६४

की उक्त सात पदार्थों के अतिरिक्त एक अधिक भाव पदार्थ के रूप में सिद्ध हो रही है।[१]

प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अग्नि की उत्पत्ति के अनेक प्रकार हैं। उदाहरण के लिए तृण एवं वायु के सम्पर्क से, अरणि को रगडने से एवं मणि द्वारा सूर्य की किरणों के केन्द्रीयकरण से भी अग्नि उत्पन्न होती है। इस प्रकार तृण, अरणि एवं सूर्यकान्तमणि, इन तीन भिन्न-भिन्न कारणों से अग्नि की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उक्त तीनों तृण, अरणि एवं मणि समान कारणत्व जाति को रखते हैं? नियम तो यह है कि एक कारण से एक कार्य उत्पन्न हो सकता है और दो भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करते है। किन्तु प्राचीन नैयायिक यहॉ तृणजन्य, अरणिजन्य एवं मणिजन्य इन तीन प्रकार की वह्नित्व जाति की कल्पना करते हैं। रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार उनका यह सिद्धान्त गौरव दोष से युक्त है, क्योंकि तृण, फुत्कार आदि जन्य वह्नि, अरणिमंथन आदि संयोग एव सूर्यप्रभा तथा सूर्यकान्तमणि के संयोग विशेष से वह्नि की उत्पत्ति होती है। अत: तीन प्रकार की कारण सामग्री के सम्बन्ध मे तीन प्रकार की वह्नित्व जाति को स्वीकार न करके लाघव न्याय की दृष्टि से वह्नि उत्पादिका एक ही शक्ति को स्वीकार करना समीचीन है।[२]

यदि पूर्वपक्ष द्वारा ऐसा कहा जाय कि अतिरिक्त शक्ति पदार्थ स्वीकार करने की अपेक्षा वह्निकारणत्व रूपी एक जाति को ही स्वीकार किया जा सकता

---

१. उक्तपदार्थेष्वनन्तर्भूतत्वात्। तथा हि न तावत् द्रव्यात्मिका शक्ति·, गुणादिवृत्तित्वात्। अतएव न गुणात्मिका कर्मात्मिका वा। न च सामान्यान्यतमरूपा, उत्पत्तिमत्वे सति विनाशित्वादिति।
—— दिनकरी, पृ० ५०

२. तृणारणिमण्यादिस्थले जातित्रयकल्पनामपेक्ष्य तत्तत्सम्बन्धानामेकशक्तिमत्वेन कारणत्वकल्पनाया एव लघुत्वेन न्याय्यत्वात्।
—— प० त० नि०, पृ० ३८

है, तो इस शंका के प्रत्युत्तर मे रघुनाथ शिरोमणि का मत है कि इससे जाति सङ्कर दोष उत्पन्न हो जाता है। क्योकि वह्निकारणत्व जहॉ एक ओर मणिजन्य वह्नि स्थल मे नोदनत्व के साथ एक ही अधिकरण में रहता है, वही अरणिमन्थनजन्य वह्नि के स्थल में वह अभिघातत्व के साथ एक दूसरे अधिकरण में रहता है। अन्वयव्यतिरेक नियम अर्थात् कारण एवं कार्य की सहोपस्थिति तथा सह–अनुपस्थिति नियम के आधार पर यदि तृण, अरणि एव मणि में कारणत्व स्वीकार करना चाहते हो, तो भी वह्निजनकत्व रूपी एक शक्ति के अतिरिक्त तीन जाति की कल्पना की अपेक्षा दो प्रकार की शक्ति को मान लेना ही समीचीन होगा। [१]

कार्य के द्वारा कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे - वह्नि से उत्पन्न होने वाले कार्य धूम से वह्नि का पर्वत में अनुमान करना। उसी प्रकार अपने कार्य के द्वारा कारणीभूत 'शक्ति' का अनुमान मीमांसको ने किया है। यह देखा जाता है कि दाह जनक ईंधनादि सामग्री से युक्त वह्नि के रहने पर दाह कार्य सम्पन्न होता है, परन्तु उस दाह कार्य के कारणीभूत ईंधन, वायु आदि कारणों के रहने पर भी यदि चन्द्रकान्त मणि का उस स्थल में समवधान हो जाता है, तो दाह रूपी कार्य उत्पन्न नहीं होता। परन्तु उसी स्थल में उन्हीं सामग्रियों के रहते हुए भी चन्द्रकान्त मणि को हटा लेने पर दाह रूपी कार्य की पुन: उत्पत्ति हो जाती है। इसके द्वारा हम अनुमान करते है कि वह्नि में एक दाह जनिका शक्ति है, जिसका चन्द्रकान्तमणि के द्वारा विनाश हो जाता है। जिससे मणि समवहित वह्नि दाह रूपी कार्य को करने मे असमर्थ हो जाती है। अत: दाहात्मक कार्य के द्वारा अप्रत्यक्ष वह्नि में रहने वाली शक्ति का अनुमान होता है। इस प्रकार 'शक्ति' नामक एक अलग पदार्थ मीमांसकों ने स्वीकार किया है।

---

१. सम्बन्धत्रितयनिष्ठैकजात्यङ्गीकारे च नोदनत्वादीना जातिसङ्करप्रसङ्गः। यदि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां तृणादेरपि कारणत्वमिष्यते तदा तेषामप्येकशक्तिमत्त्वेन तदस्तु तथापि जातित्रयकल्पनापेक्ष्य शक्तिद्वयकल्पनैव लाघवेन व्यायसीति। तेष्वपि चैकजात्यङ्गीकारे मणित्वादिना सङ्करप्रसङ्ग।
—— प० त० नि०, पृ० ३८

मीमांसको द्वरा 'शक्ति' नामक अतिरिक्त पदार्थ मानने का खण्डन करते हुए नैयायिकों का कथन है —— किसी कार्य की उत्पत्ति मे उसके लिए अपेक्षित कारणो की अपेक्षा होती है। जैसे – घट रूपी कार्य के लिए कारणीभूत दण्ड, चक्र, कपालादि अपेक्षित हैं, उसी प्रकार घट कार्य के निर्माण मे प्रतिबन्धक व्यक्ति विशेष अथवा अतिशयित्यादि का अभाव भी कारण होता है। अत: नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि जिस प्रकार भाव पदार्थ किसी कार्य के प्रति कारण होता है, उसी प्रकार अभाव भी कार्य के प्रति कारण होता है। आचार्य विश्वनाथ का मीमांसको के प्रति आक्षेप है कि कार्य के लिए केवल आवश्यक नियतपूर्ववत्ति कारण ही मात्र अपेक्षित नहीं होती, अपितु प्रतिबन्धक का अभाव भी कारण है।

प्रकृत् स्थल मे दाह रूपी कार्य के प्रति चन्द्रकान्त मणि प्रतिबन्धक है तथा उसका अभाव प्रतिबन्धक का अभाव मुदयाकारण है। अत: जैसे वह्नि के दाह कार्य के लिए वह्नि, ईंधन, वायु आदि कारण हैं, उसी प्रकार प्रतिबन्धक चन्द्रकान्त मणि का अभाव भी दाह रूपी कार्य के प्रति कारण है।

नैयायिकों का कहना है कि यदि सात पदार्थों के अतिरिक्त 'शक्ति' को पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करें तो अनन्त शक्ति की कल्पना का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि मीमांसक कहें कि चन्द्रकान्त मणि के समुपस्थित होने पर दाह रूपी कार्य नहीं हो पाता; अत: अभाव को कारण कहना उचित नहीं है; जैसा कि नैयायिक मानते हैं। उक्त शंका का समाधान करते हुए तार्किको का कथन है कि उत्तेजक के न रहने पर प्रतिबन्धक कार्य का अवरोध करता है। उत्तेजक समवधानकालीन प्रतिबन्धक किसी भी कार्य का प्रतिरोधक नहीं होता। इसी कारण सूर्यकान्त मणि प्रकृत्स्थल में उत्तेजक है। तत्समवधानकालीन चन्द्रकान्त मणि प्रतिबन्धक नही होता। अत: उत्तेजक के रहने पर मण्यभाव के कारणत्व का कोई प्रसंग नहीं होता। इसी कारण सूर्यकान्त मणि के अभाव के समय चन्द्रकान्त मणि को दाह रूपी

कार्य का प्रतिबन्धक तथा उसके अभाव को दाह के प्रति कारण न्याय मत में स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि उत्तेजक मणि के योग से अथवा दाह प्रतिबन्धक मणि के हटा लेने से दाह रूपी कार्य होता है। अर्थात् उत्तेजक मणि के समीप रखने पर या प्रतिबन्धक मणि को वहाँ से हटा लेने पर अग्नि मे दाहक 'शक्ति' उत्पन्न होती है और प्रतिबन्धक मणि के रहने पर अग्नि की दाह 'शक्ति' नष्ट हो जाती है। अत: इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'शक्ति' एक भाव पदार्थ है।

प्रभाकर मतानुयायी एवं तन्त्ररहस्यकार रामानुजाचार्य प्राचीन नैयायिकों के उक्त आक्षेप का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्वपक्ष यह मानकर चले कि मणि आदि प्रतिबन्धक के प्रयोग से ही अग्नि में दाह आदि कार्य नहीं होता है तो फिर उसका प्रयोग न होना ही दाह का उत्पत्ति निमित्त मान लेना चाहिए — यह पूर्वपक्ष का कथन अनुचित है; क्योंकि मणि आदि का प्रयोग तो प्रतिबन्धक है और उसको हटा लेना उसका निवृत्त रूपत्व है — उसे निमित्त नहीं कहा जा सकता। पुन: कार्योत्पत्ति तो (जिसका प्रतिबन्धक हट गया है), उसी शक्ति से ही मानी जायेगी। उदाहरणस्वरूप कुम्भकार के घट निर्माण मे यदि कोई प्रतिबन्धक होता, तो वह घट नहीं बना पाता; परन्तु प्रतिबन्धक के अभाव में वह निर्माण कर सकता है।[१]

वस्तुत: प्रतिबन्धक के अभाव को कार्य का निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। कई बार चन्द्रकान्त मणि के होते हुए भी उत्तेजक सूर्यकान्त मणि को पास में रखने पर भी अग्नि में दाह रूप कार्य होने लगता है। इससे भी सिद्ध होता है कि अभाव कार्य के प्रति निमित्त नहीं। अगर होता तो चन्द्रकान्त मणि के रहने पर भी कार्य उत्पन्न होता, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार मणि आदि का अभाव कार्य के प्रति निमित्त है।

---

१. तन्त्ररहस्य, पृ० २०

आचार्य विश्वनाथ पुनः अपने मत के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हैं कि केवल चन्द्रकान्त मणि का अभाव ही दाह के प्रति कारण नहीं है, अपितु उत्तेजक सूर्यकान्त मणि के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्त मणि का अभाव दाह के प्रति कारण है।[१]

रामानुजाचार्य का मत है कि नैयायिक ऐसा कहकर भी 'शक्ति' का निषेध नहीं कर सकते। इस प्रकार अभाव को निमित्त मानकर शक्ति का निषेध किये जाने पर गिरती हुई वस्तु में रुकावट आने पर उस रुकावट का अभाव ही पतन में निमित्त माना जाने लगेगा। उस वस्तु का गुरुत्व तो तिलाञ्जलि रूप हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'गुरुत्व' गुण का कोई महत्त्व ही नही रह जायेगा।

रघुनाथ शिरोमणि एवं प्रभाकर मीमांसा के 'शक्ति' पदार्थ में प्रमुख अन्तर यह है कि मीमांसक घट आदि कार्य के प्रति विभिन्न कारणों में घटादि के अनुकूल शक्ति की कल्पना करके उस प्रकार की विलक्षणा शक्तिमत्ता से ही कारणत्व को स्वीकार करते हैं, जिससे दण्ड, चक्रादि भेद से कारण बाहुल्यता न होने के लाघव हैं। इसके विपरीत प्राचीन नैयायिक कारण बहुत्व को स्वीकार हीं करते, वरन् एक कार्य के प्रति एक कारण को स्वीकार करते हैं। कारण की बाहुल्यता में भी एक कारण समवायी होता है, शेष सहकारी कारण माने जाते हैं। रघुनाथ शिरोमणि जहाँ कारणता समुदाय मे विश्रान्त होती हैं, वहॉ 'कारणत्व' को पदार्थ मानते हैं और जहाँ कारणता एकत्व में विश्रान्त होती हैं, वहाँ वे 'शक्ति' को पृथक् पदार्थ मान लेते हैं।

मीमांसकों के अनुसार शक्ति वह तत्त्व है, जो मनुष्य को जन्म जन्मान्तरों तक जोड़े रखती है। वर्तमान में किये हुए कर्म का दीर्घ-दीर्घतर काल में मिलने वाला फल जो कर्त्ता को फल से जोडे रखता है, 'अपूर्व शक्ति' है। इसी अपूर्व

---

१. न्या० सि० मु०, पृ० ७

शक्ति के कारण मनुष्य यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करता हुआ सुख के धाम —— स्वर्ग को प्राप्त करता है। प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इसी को धर्म कहा है। इस प्रकार मीमांसको का शक्तिवाद 'अपूर्व' सिद्धान्त पर अवलंबित है। जबकि रघुनाथ शिरोमणि का शक्तिवाद 'कारणता' के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके साथ ही साथ मीमांसक 'शक्ति' को भाव पदार्थ मानते हैं, जबकि रघुनाथ शिरोमणि 'शक्ति' को भाव एवं अभाव पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि रघुनाथ शिरोमणि एवं प्रभाकर मीमांसक 'शक्ति' को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में मानते हैं। तार्किक शिरोमणि जहाॅ 'शक्ति' को कार्य-कारण के आधार पर स्वतन्त्र पदार्थ रूप में स्वीकार किया है, वहीं प्रभाकर मीमांसक सूर्यकान्तमणि एवं चन्द्रकान्तमणि जैसी अप्रत्यक्ष वस्तुओं के आधार पर 'शक्ति' को पदार्थ रूप में माना है। दीधितिकार शिरोमणि अनेक कारणों के होने पर भी उसमें 'शक्ति' को स्वीकार करके समानजातीय कारणों से कार्य की उत्पत्ति को मानकर प्राचीन न्याय-वैशेषिक के ही मत का समर्थन करते हुए प्रतीत होते है।

कारणता

कार्य रूप में जन्य वस्तु की 'कारणता' के स्वरूप की व्याख्या भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार से की गयी है। वस्तु अपने पूर्व रूप (कारण) से कैसे परिवर्तित होती है। वस्तु का पूर्व रूप 'कारण' और परिवर्तित रूप 'कार्य' कहा जाता है। इस कारण-कार्य की व्याख्या द्वारा प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने मूलभूत सत्य तक पहुँचता है। अन्नं भट्ट ने कारण की परिभाषा करते हुए लिखा है -- कार्य की अनन्यथासिद्ध नियत पूर्ववर्ती अवस्था को 'कारण' कहते हैं। [१]

---

१. 'अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्ति. कारणम्'

—— त० स० (शेषराज शर्मा टीका०), पृ० ३३

न्याय-दर्शन का दार्शनिक दृष्टिकोण व्यवहार-सीमा को कभी पार नहीं कर सका, अतएव उसके कारणता-विचार में भी व्यावहारिक जगत् में प्रचलित कारणत्व की व्याख्या ही युक्तिसंगत दार्शनिक रूप में दिखलाई पड़ती है। संसार में सभी पदार्थ इस कार्य-कारण सम्बनध से नियत दिखलाई पड़ते हैं। बिना कारण के किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किसी वस्तु को तदितर वस्तु का कारण होने के लिए यह आवश्यकत है कि वह अपने कार्य का निकट पूर्ववर्ती हो, नियत हो एवं अन्यथासिद्ध न हो —— इन शर्तों के विद्यमान होने पर ही वस्तु किसी वस्तु का कारण हो सकती है।

कारणता की परिभाषा में उल्लिखित पूर्ववर्ती पद से तात्पर्य यह है कि कार्य से कारण का पहले होना आवश्यक है। दण्ड से घट की उत्पत्ति होती है। यदि दण्ड पूर्ववर्ती न हो तो वह घट का कारण नहीं हो सकता। ध्यातत्व है कि कारण को निकट पूर्ववर्ती होना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि एक मास पूर्व किसी दण्ड का अस्तित्व रहा हो तो वह एक मास पश्चात् उत्पन्न होने वाले घट का कारण नहीं हो सकता। अत: स्पष्ट है कि कारण को अपने कार्य के निकट पूर्ववर्ती होना चाहिए।

कारण होने की दूसरी शर्त यह है कि उसको अपने कार्य के पूर्व 'नियत' रूप मे विद्यमान रहना चाहिए। अर्थात् जब-जब कार्य की उत्पत्ति हो, तब-तब उसके पूर्व कारण की भी उपस्थिति होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, जब-जब घट का निर्माण होता है, तब-तब उस निर्माण के पूर्व 'कुम्भकार' या 'दण्ड' का होना आवश्यक है। इनकी उपस्थिति के बिना घट की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

कारण की परिभाषा में 'अनन्यथासिद्ध' से तात्पर्य न्याय-दर्शन में यह है कि जिस वस्तु के न रहने पर भी कार्य हो सके, उसे 'अनन्यथासिद्ध' कहते हैं। कारण को नियत-पूर्ववर्ती मानने पर यह शंका उपस्थित होती है कि तन्तु को पट का कारण मानने पर तन्तुरूप भी पट का कारण हो सकता है इस

शका का समाधान न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह है कि तन्तुरूप पट के प्रति नहीं वरन् पट-रूप के प्रति कारण है। पट के प्रति तो अन्यथासिद्ध होने से वह कारण नहीं माना जा सकता। अतएव कारण के लक्षण मे नियत पूर्ववर्तित्व के साथ-साथ अन्यथासिद्ध न होना भी आवश्यक समझा गया है। इसलिए तर्कभाषाकार ने कारण का लक्षण बतलाते हुए कहा है —

'यत् कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्' [१]

अदयनाचार्य का कथन है कि कारणत्व का ग्रहण कभी अन्वय-व्यतिरेक से होता है और कभी धर्मी ग्राहक प्रमाण के द्वारा नियत पूर्ववृत्तित्व सिद्ध होता है। [२] अन्यथा कार्य से कारण का अनुमान कभी नहीं हो सकता। घट के कारण दण्ड, चक्र आदि स्थल में वस्तुगत पूर्ववृत्तित्व अन्वय व्यतिरेक गम्य होता है और जब आत्म अदृष्ट आदि का कारण होगा, तब आत्मगत जो नियतपूर्ववृत्तित्व है, उसका ग्राहक अन्वय-व्यतिरेक नहीं हो सकता। क्योंकि विभु पदार्थ का अन्वय संभव होने पर भी व्यतिरेक संभव नहीं होता। आत्मगत नियतपूर्ववृत्तित्व स्वरूप कारणता अन्वय-व्यतिरेक गम्य नहीं, अपितु धर्मी ग्राहक प्रमाण के द्वारा उक्तनियतपूर्ववृत्तित्व सिद्ध होगा।

'तत्त्वावलि' मे लौकिक एवं वैदिक रूप में कारणत्व का विभाजन किया गया है। वैदिक कारणत्व अन्वय मात्र से जाना जाता है तथा लौकिक कारणत्व अन्यय-व्यतिरेक दोनों से जाना जाता है। [३] न्यायमत में फलोपहितत्व और स्वरूपयोग्यत्व रूप से दो भागों में बॉटा गया है। इसमें फलोपहितत्व का उपधायकत्व शब्द से व्यवहार होता है।

---

१ त० भा० : बदरीनाथशुक्ल (टीका०), पृ० २६

२. स च क्वचिदन्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते, क्वचिद्धर्मिग्राहकात् प्रमाणात्।

— न्या० कुसु०, १/१९

३ न्यायकोश, पृ० २२४

तर्कसंग्रह, तर्कभाषा आदि ग्रन्थों में कारण के त्रिविध भेद स्वीकार किय गये हैं -- समवायिकारण, असमवायिकारण एवं निमित्त कारण।[१]

उल्लेख्य है कि जिस कारण में कार्य की उत्पत्ति समवाय-सम्बन्ध से होती है, उसे 'समवायि कारण' कहते हैं। जैसे —— तन्तु पट का समवायिकारण है। इसी प्रकार पट को पटरूप का समवायिकारण माना गया है। 'असमवायि कारण' से अभिप्राय है कि जो समवायि कारण में रहता हो तथा जिसका सामर्थ्य[२] निश्चित हो, अर्थात् जिसमें अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्व यह लक्षण वर्तमान हो, उसको 'असमवायि-करण' कहा जाता है। जैसे तन्तु संयोग पट का असमवायिकारण है। यदि पट के प्रति तन्तुसंयोग के कारणत्व पर विचार करें, तो अनन्यथासिद्धत्व तथा नियतपूर्वभावित्व ये दोनों ही लक्षण वर्तमान होंगे। इसके साथ-साथ तन्तुसंयोग तन्तुओं मे जो पट के समवायि कारण हैं, समवायसम्बन्ध से भी विद्यमान रहता है। अतएव तन्तु संयोग को पट का असमवायिकारण माना जाता है।

समवायिकारण एवं असमवायिकारण इन दोनों से भिन्न जो कारण हो, उसे निमित्त कारण कहते है।[३] जैसे तुरी (सूत्रवेष्टन करने की नली) और वेमा (वायदण्ड) आदि पट के निमित्त कारण हैं। जुलाहा भी पट का निमित्त कारण है।

रघुनाथ शिरोमणि अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववृत्तित्व का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'कारणता' स्वरूप सम्बन्ध अथवा नियतपूर्ववत्तित्व नहीं है, अपितु द्रव्यादि सप्त पदार्थों से भिन्न अतिरिक्त पदार्थ है।[४] टीकाकार रामभद्रसार्वभौम का कथन

---

१. कारण त्रिविधं —— समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्।

—— त० स० : शेषराज शर्मा (टीका०), पृ० ३५

२. यत् समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यमसमवायिकारणम्।

—— तर्कभाषा, (पूना संस्करण), पृ० ३१

३ समवायिकारणाऽसमवायिकारणभिन्नत्वे सति कारणत्वं निमित्तकारणत्वम्।

—— त० सं० : शेषराज शर्मा (टीका०), पृ० ३७

४. कारणत्वञ्च पदार्थान्तरम्

—— प० त० नि०, पृ० ४१

है कि —— यह शंका नहीं करनी चाहिए कि अन्यथासिद्ध निरुपित नियतपूर्ववत्तित्व अवच्छेदक धर्मवत्व से उस प्रकार के व्यवहार की सिद्धि हो जायेगी। इस अतिरिक्त कारणत्व में प्रमाण का अभाव है। अन्यथासिद्ध उचित नहीं है और नियम के अनुगत न होने से अनुगत प्रतीति अनुपपत्ति होगी। [१]

कारणत्व अन्यथासिद्धि नियतपूर्ववत्तितावच्छेदक धर्मवान् होने से पदार्थान्तर है। इस प्रकार नव्य नैयायिक प्राचीनों द्वारा स्वीकृत प्रमाण के स्वरूप के समान ही 'कारणत्व' को स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ वह कार्य के प्रति कारण मात्र है और यहाँ उसे पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब रघुनाथ शिरोमणि तृणादि में कारणता की अपेक्षा से 'शक्ति' को पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं तब 'कारणत्व' को भी पदार्थान्तर के रूप में स्वीकार करने का क्या औचित्य है?

दिनकरी टीका में कारणत्व के उक्त औचित्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि 'कारणत्व' को पृथक् नहीं मानेगें तो प्रतिबन्धकाभाव के उस व्यक्त्वि से (उसके भी) कारणत्व (कारण होने) में आपत्ति होगी। [२] रामरुद्रीकार 'तत्-तत् व्यक्तित्व' को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तत्-तत् व्यक्तित्व अर्थात् चन्द्रकान्तमणि अभावनिष्ठ वह व्यक्तित्व (अग्नि) ही अन्यथासिद्धि में निरूपित नहीं है, अर्थात् चन्द्रकान्ताभाव विशिष्ट पाँच प्रकार के अन्यथासिद्धि [३] मे निरूपित नहीं

---

१. न चान्यथासिद्ध्यनिरूपकनियतपूर्ववर्त्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वेनैव तथा व्यवहारोपपत्तेरतिरिक्तकारणत्वे मानाभावा:। अन्यथासिद्धेर्दुर्वचत्वात् नियमस्य चननुगतत्वेनानुगत प्रत्ययानुपपचेश्च।

—— प० त० वि० प्र०, पृ० ९०

२. दिन०, पृ० १२४

३. येन सह पूर्वभाव: कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम।।
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविन:।।

—— कारिकावली: विश्वनाथन्यायपचानन

है। इसका कारण यह है कि वह भी दाह के प्रति कारण है, परन्तु वह कारणत्व से पृथक् प्रकार की कारणता है। इसलिए कारणत्व की परिभाषा देते हुए 'नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक' कहा गया है।

प्रभाकर के अनुसार यदि कारणत्व को पृथक पदार्थ न माने तो मणित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावत्वादि से भी मणि अभाव को दाह नियत पूर्ववृत्ति के समान वह मण्याभाव दाह नियतपूर्ववृत्ति, इस प्रकार प्रतीति होने से नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक आवश्यकता द्वारा अनन्तकारणत्व में आपत्ति होगी। अभिप्राय यह है कि मण्याभाव विशिष्ट को दाह के प्रति कारण माना गया है। यदि कारणत्व का पदार्थान्तरत्व स्वीकार न करें तो मणि सामान्य अभाव की भी दाह के प्रति नियतपूर्ववृत्तिता स्वीकार करने से अनन्त कारणत्व को स्वीकार करने में आपत्ति होगी। [१]

यह शंका नहीं करनी चाहिए कि अनन्त (मणि) विशेष (विशिष्ट) अभावों के कारणत्व सम्बन्ध की कल्पना में और बहुतों के तादृश धर्मों के कारणतारूप होने की कल्पना मे गौरव है। उससे सामान्याभाव के समान कारणत्व सम्बन्ध उस वृत्ति सामान्याभाव के समान कारणत्व रूपत्व को स्वीकार किया जाना चाहिए। 'प्रभा' टीकाकार नृसिंहदेव के मत में विशेष अभाव से (मणित्वका) अतिरिक्त सामान्याभाव में प्रमाण का अभाव होने के अतिरिक्त सामान्यभाव में अप्रसिद्धि है। फलत: सामान्याभाव के समान विशेषाभावत्व के भी कारणत्व रूप अनिवार्य है, उससे सकल अनुगत के अतिरिक्त पदार्थ रूप कारणत्व को स्वीकार करना चाहिए।

यदि कारणत्व को दाह के प्रति शक्ति रूप कारण से पृथक् स्वीकार नहीं करेंगे तो दाहादि के प्रति मणिअभावत्वादि के द्वारा स्वीकृत कारणता के लोप का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। रामरुद्रीकार के अनुसार ग्रन्थकार के मत में 'कारणत्व' एवं 'शक्ति' को पृथक्-पृथक् स्वीकार करने में यहाँ इष्टापत्ति ही द्रष्टव्य है। निश्चय ही कारणत्व का उक्त रूप (कारणत्व और शक्ति का पृथक्-पृथक् होना) अंगीकार

---

१. प्रभा (न्या० सि० मु०), पृ० २२३

करने योग्य नहीं है। किन्तु जिस-जिस धर्मावच्छिन्न में कारणत्व का व्यवहार नहीं है, उस-उस धर्म भिन्न धर्म के समान उस प्रकारत्व को अंगीकार करने वाले मत से उक्त दोष (इष्टापत्ति) नहीं हे।[१]

कारणत्व पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कारणत्व द्रव्य, गुणादि पदार्थ में अन्र्भूत नहीं है, अपितु अतिरिक्त पदार्थ है। अर्थात् कारणत्व पदार्थ नियत पूर्ववृत्तित्वादि स्वरूप नहीं है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि कारणता यदि अतिरिक्त पदार्थ है, तब कारणता क्या सभी कारण पक्ष में एक है अथवा कारण भेद से भिन्न है? यदि सकल कारणगत कारणता एक स्वीकृत हो तो कपालगत कारणता एवं तन्तुगत कारणता अभिन्न होगी। फलस्वरूप कपालगत कारणता, जिस प्रकार घटनिष्ठ कार्यता के द्वारा निरूपित है, उसी प्रकार पटनिष्ठ कार्यता के द्वारा भी निरूपित हो सकती है, किन्तु यह संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त दण्डत्व धर्म के द्वारा अवच्छिन्न कारणता चक्रत्वादि रूप धर्मान्तर के द्वारा अवच्छिन्न नहीं है। इस प्रकार सर्वानुभव सिद्ध प्रतीति का भी अपलाप होगा। इस शंका के सामधान में रघुनाथ शिरोमणि का कथन है — यह (कारणता) कार्य के भेद से, जैसे घटकारणता, पटकारणता आदि तथा अवच्छेदक भेद से, जैसे कपालत्व, दण्डत्व, तन्तुत्व, संयोगत्व आदि से अवच्छिन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न होता है। अर्थात् कारणता पदार्थ अनेक है, तथा इनमें भिन्नता का आधार कार्य एवं अवच्छेदक का भेद होता है।[२] कार्य की उत्पत्ति में कारणत्व को तीन प्रकार - समवायि, असमवायि एवं निमित्त, से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कारणत्व के त्रिविध होने से कारणत्व पदार्थ का एकत्व खंडित हो जाता है।

---

१. रामरुद्री, पृ० ९१

२. तच्च कार्यभेदादवच्छेदकभेदाच्च भिद्यते।

— प० त० नि०, पृ० ४१

टीकाकार रामभद्र सार्वभौम के अनुसार यहाँ एक कार्य कारण से समस्त कार्य कारणत्व का प्रसंग नहीं है। अपितु कार्यतावच्छेदकावच्छिन्न भेद और कार्यतावच्छेदक भेद कार्य भेद का फलितार्थ है। इससे घट व्यक्तियों का भेद होने पर भी घटत्व के कार्यतावच्छेदक के एक होने से उसका एक कारणत्व मानना चाहिए। इसी प्रकार दण्डत्वादि से भी वह कारणत्वावच्छेदक भेद से है। अतः कारणादि पद से नानार्थत्व नहीं, यही भाव है। [१] अभिप्राय यह है कि सकल कारणगत कारणता एक नहीं है। दण्ड, तन्तु आदि कारण की भिन्नता निबन्धन एवं दण्डत्व, चक्रत्व प्रभृति कारणता का परिच्छेदक धर्म की विभिन्नता के कारण कारणता भी भिन्न हुआ करती है। अतः दण्डगत जो कारणता है, उसमें घटादि रूप कार्यगत कार्यता निरूपितत्व एवं दण्डत्वावच्छिन्नत्व ही रहेगा, किन्तु पटादिगत जो कार्यता है, वह निरूपितत्व अथवा तन्तुत्वादि धर्मान्तर अवच्छिन्नत्व ही रहेगा।

उक्त कारणता कारणत्व स्वरूप अखण्ड धर्म के द्वारा अनुगत होकर कारणपद का शक्यतावच्छेदक अर्थात् प्रवृत्ति निमित्त होगा। अभिप्राय यह है कि कार्य–कारण भेद से कार्यता अथवा कारणता पृथक्–पृथक् स्वीकृत होने पर भी सकल कारणतागत कारणत्व स्वरूप एवं निखिल कार्यतागत कार्यत्व रूप एक अनुगत धर्म सकल कारणता में अथवा सकल कार्यता में स्वीकृत होने के फलस्वरूप 'दण्डः कारणम्', 'चक्रं कारणम्' एवं 'घटः कार्यः', 'पटः कार्यः' इस प्रकार अनुगत कार्य–कारणा भाव की प्रतीति अथवा व्यवहार होने के पक्ष में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। रघुनाथ शिरोमणि का यह भी कहना है कि उक्त कारणत्व रूप अनुगत धर्म पुरस्कार से अनुगत कारणता समूह कारण पद का शक्यतावच्छेदक होगा। इसके फलस्वरूप

---

१. नातएककार्यकारणस्य सकलकार्यकारणत्वप्रसङ्गः, कार्यभेदश्च कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नभेदः, कार्यतावच्छेदकभेद इति फलितार्थः।

—— प० त० वि० प्र०, पृ० ९१

तादृश कारणता अवच्छिन्न कार्य पद में एवं अनुरूप कार्यतावच्छिन्न कार्य पद में शक्ति गृहीत होगी।[१]

निष्कर्षत: प्राचीन नैयायिक कारणत्व को कार्य से पूर्ववर्ती तथा कार्य के प्रति अनन्यथासिद्ध स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कारण से उत्पन्न कार्य के आधार पर ही प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से जन्य ज्ञान को 'यथार्थ ज्ञान' की कोटि में रखा गया है। रघुनाथ शिरोमणि ने भी कारणत्व को पूर्ववर्ती तथा अनन्यथासिद्धत्व के रूप में स्वीकार करके ही इसके अतिरिक्त पदार्थत्व का प्रतिपादन किया है। वस्तुत: प्राचीन नैयायिक कारणत्व की अनेकता के स्थान पर कार्य के वैजात्य को स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार कारणत्व के स्वरूप की पूर्णत: व्याख्या नहीं हो सकती है। कारणत्व को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करके ही कारणत्व एवं कार्यत्व के स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। उदयनाचार्य की तरह रघुनाथ शिरोमणि कारणत्व के ग्रहण में अन्वय-व्यतिरेक एवं आगमादि प्रमाण को स्वीकार किया है।

कार्यता

कारण सामग्री के विद्यमान होने पर ही कार्योत्पत्ति संभव है। शिवादित्य[२] के अनुसार कारण में कार्य की अवस्थिति प्रागभाववत् रूप में है। तर्कसंग्रहकार अन्नं भट्ट ने कार्य का लक्षण किया है --

'प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वम्' [३]

---

१. कारणत्वत्वेनाखण्डोपाधिनानुगतं च तत्तत्कारणपदशक्यतावच्छेदकम्।

— प० त० नि०, पृ० ४१

२. 'प्रागभाववत् कार्यम्'

— स० प०, पृ० ६५

३. त० सं० : शेषराज शर्मा (टीका०), पृ० ३४

अर्थात् प्रागभाव के प्रतियोगी को 'कार्य' कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति के पहले होने वाले अभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं। रघुनाथ शिरोमणि ने कारण के समान ही कार्यत्व के अतिरिक्त पदार्थत्व का प्रतिपादन किया है ––

'एतेन कार्यत्वं व्याख्यातम्' [१]

टीकाकार कार्यत्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कार्यत्व भी पदार्थन्तर है और वह कारणता अवच्छेदक भेद एवं स्व अवच्छेदक भेद से भिन्न प्रकार का है तथा कार्यत्व के अखण्डोपाधि से अनुगत है।

पदार्थतत्त्वनिरूपणकार रघुनाथ शिरोमणि पूर्वपक्ष की ओर से शंका करते हुए कहते हैं –– कारणता के प्रतियोगित्व के रूप में ही कार्यत्व की व्याख्या की जा सकती है। अत: कारणता को स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार कर लेने पर कार्यत्व को पुन: स्वतन्त्र पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अनुरूप कथन के द्वारा ही कारणता को भी कार्यता के अनुयोगित्व के रूप मे समझाया जा सकता है। इन दोनों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष को स्वीकार करने के लिए किसी निर्णायक युक्ति के नहीं होने से कार्यता एवं कारणता दोनों को ही परस्पर भिन्न एवं स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करना उचित होगा। [२]

इस प्रकार कारणता के प्रतियोगित्व को ही कार्यत्व कहा जाय, तब विनिगमना प्रयुक्त कार्यता के प्रतियोगित्व को भी कारणत्व कहा जा सकता है। अत: गौरव स्वीकार करने की अपेक्षा लाघवत: अतिरिक्त कार्यत्व एवं कारणत्व को अगीकार करना ही उचित है।

---

१. प० त० नि०, पृ० ४१

२. 'कारणत्वप्रतियोगित्वमेव कार्यत्वमिति चेत्, कार्यत्व प्रतियोगित्वमेव कारणत्वमिति किं न रोचते?·तस्मात् कार्यत्वं कारणत्व चोभयमेवातिरिक्तं भिन्नं चेति कृतं पल्लवितेनेति।'
–– प० त० नि०, पृ० ४२

संख्या

वैशेषिक–दर्शन में चौबीस गुण स्वीकार किये गये हैं, जिसमें 'संख्या' भी एक गुण है।[१] संख्या एक सामान्य गुण है, जो समस्त पदार्थों में रहता है। कणाद ने 'संख्या' (एकत्व) का लक्षण इस प्रकार दिया है —— रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित काल आदि में भी एकत्व के वर्तमान रहने के कारण एकत्व रूपादि से भिन्न ही है।[२] शंकर मिश्र सूत्र के स्पष्टीकरण में कहते हैं —— 'एक घट है' यह विशिष्ट ज्ञान विशेषण से उत्पन्न है और वह विशेषण इस प्रतीति रूप से स्पर्शान्त तथा संख्यादि पाँच सामान्य गुणों से भिन्न गुण नहीं है।[३]

प्रशस्तपाद ने संख्या का लक्षण करते हुए कहा है —— 'यह एक है' 'ये दो हैं' इत्यादि व्यवहारों का कारण ही संख्या है।[४] अन्नं भट्ट ने भी एकत्वादि व्यवहार का हेतु 'संख्या' को मानते हैं। यहाँ हेतु का अर्थ असाधारण निमित्त कारण है। 'असाधारण' काल एवं दिक् में अतिव्यप्ति का निराकरण करने के लिए प्रयोग किया गया है और 'निमित्त' का प्रयोग आकाश की व्यावृत्ति के लिए किया गया है, क्योंकि आकाश सभी प्रकार के व्यवहार का उपादान कारण है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार गणना के व्यवहार का असाधारण कारण संख्या है।[५]

---

१. वै० सू०, १/१/६

२. 'रुपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम्'।

—— वही, ७/२/१

३. एको घट: इति विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणजन्या।

—— वै० सू० उ०, पृ० ३९८

४. 'एकादिव्यवहारहेतु: संख्या'

—— प्र० पा० भा०, पृ० ७४

५. गणनाव्यवहारे तु हेतु: सख्याभिधीयते।

—— भा० परि०, कारिका, पृ० १०६

श्रीधराचार्य ने कहा है कि यद्यपि 'संख्या' को सभी लोग जानते हैं और उसका स्वरूप सर्वजनसिद्ध है, तथापि अत्यन्त दुष्ट दृष्टि के अभ्यास से कुछ तिरोहित मति लोगों को इसमें भी विवाद है कि संख्या द्रव्य से भिन्न नहीं है। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि संख्या की द्रव्य से पृथक् कोई प्रतीति नहीं होती, अतः द्रव्य से भिन्न संख्या नाम का कोई गुण नहीं है। किन्तु यह मत सर्वथा अनुचित है, क्योंकि आपस में सटे हुई वृक्षों में संख्या की प्रतीति न होने पर भी उसके स्वरूप का ग्रहण होता है। यदि द्रव्य और संख्या अभिन्न होती, तो जैसे जुड़े हुए वृक्षों के स्वरूप का ग्रहण होता है, वैसे ही उन वृक्षों से अभिन्न संख्या का भी अवश्य ही ग्रहण होता। तात्पर्य यह है कि 'एक' व 'घट' दोनों तादात्म्य होते तो इन दोनों के पृथक्-पृथक् प्रयोग की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि दोनों पद पूर्वपक्षी के अनुसार एक ही वस्तु को द्योतित करते हैं। किन्तु (जैसा कि हमारे प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है), केवल 'एक' कह देने से या केवल 'घट' कह देने से हमारे अनुभव की व्याख्या पूर्ण नहीं हो सकेगी, अतः 'घट' (द्रव्य) एवं 'एक' (संख्या गुण) दोनों पृथक्-पृथक् हैं। यही सिद्धान्त मत है। [१]

प्रत्येक द्रव्य एक इकाई है, एक है, अतः इसकी संख्या 'एकत्व' उसका एक अविभाज्य एवं अनिवार्य गुण है। यही न्याय-वैशेषिक दर्शन का मत है। अन्य शब्दों में 'एकत्व' एक गणनात्मक गुण है, जो सभी द्रव्यों में पृथक्-पृथक् रूप मे विद्यमान है तथा उन सबसे पृथक् भी है।

न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ का मत है कि घट आदि वस्तु के स्वरूप का भेद न होना ही 'एक' संख्या है। तात्पर्य यह है कि भासर्वज्ञ 'संख्या' गुण को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार एकता एवं विविधता गुण नहीं है, अपितु दो समस्तरीय तत्त्व हैं। यदि दो वस्तुओं के मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं

---

१. न्या० क०, पृ० २६७—२७०

है, तो वे दो नहीं, अपितु 'एक' ही कही जानी चाहए और यदि उनका मूल स्वरूप भिन्न है तो वे 'दो' मानी जानी चाहिए अर्थात् घट आदि पदार्थों के स्वरूप का भेद ही द्वित्वादि संख्या है। [१]

अपरार्कदेव का मत है कि संख्या का गुणत्व उचित नहीं है। वह सम्मिलित रूप से एक और अनेक भेद से दो प्रकार की है। अभेद ही एकत्व है और अनेकत्व ही भेद है। अभेद और भेद रूपादि में भी होते हैं, अतः संख्या गुण के गुणें में भी होने से गुणता किस प्रकार सिद्ध होगी। वस्तुतः अभेद और भेद वस्तु स्वरूप से अतिरिक्त नहीं, यही अभीष्ट है। स्वरूप के अनुगत होने पर अनुगत एकादि व्यवहार के अभाव का प्रसंग है। एक-दूसरे का अभाव तो भेद में भी अभीष्ट है और वह भाव से अतिरिक्त ही वर्णित किया जाता है। अभेद धर्म भेद से विलक्षित है, जो अनुगत होने से अनेक में अभिन्न है। इस प्रकार से अनुगत आकार वाला कहा गया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'संख्या' का आश्रय 'द्रव्य' को ही माना गया है, गुण तथा कर्म को नहीं। इस सन्दर्भ में कणाद का मत है कि संख्या एक गुण होने से केवल द्रव्य में ही रहती है, क्योंकि गुण कभी गुण में नहीं रहते। [२] किन्तु यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि जब हम 'यह चित्र चार रंगों वाला है' ऐसा कहते हैं तो इस वाक्य में 'चार' संख्या (गुण) को लाल रंग (गुण) के विशेषण रूप में प्रयुक्त करते हैं। अतः इस स्थल विशेष पर न्याय-वैशेषिक का स्पष्ट विरोध दृष्टिगत होता हैं पॉटर के शब्दों में 'यही प्राचीन मत का दोष है, जिसका समाधान नव्य नैयायिकों ने करने की चेष्टा की है।' [३]

---

१. 'तथैकत्वस्यापि तस्याभेदपर्यायत्वात्। यथा चैकमभिन्नमिति पर्यायस्तथानेक भिन्नमिति च पर्यायस्ततश्च द्वित्वादिरप्यनेकपर्यायः तस्योत्पच्यादिकल्पना न कार्या'।

— न्या० भू०, पृ० १५९

२. वै० सू०, १/१/१६

३. Potter, Encycolpaedia of Indian Philosophy', Vol II, p. 119

रघुनाथ शिरोमणि का मत है कि 'संख्या' एक गुण नहीं, अपितु पृथक् पदार्थ ही है, क्योंकि गुणों में भी उसकी प्रतीति होती है।[१] इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि संख्या को 'गुण' न मानकर भी प्राचीन न्याय-वैशेषिक की इस मान्यता का समर्थन किया है कि 'गुण गुणों में नहीं रहता।' रघुनाथ शिरोमणि के परवर्ती समालोचक वेणीदत्त ने भी उनका समर्थन करते हुए कहा है कि संख्या एक गुण नहीं, अपितु एक नवीन पदार्थ है।[२]

प्रशस्तपाद ने संख्या के दो भेद बताये हैं —— एक द्रव्या, अनेक द्रव्या। श्रीधराचार्य ने स्पष्ट किया है कि 'एकं द्रव्यमाश्रयो यस्या:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार एक द्रव्य में ही रहने वाली संख्या को 'एकद्रव्या' कहते हैं, तथा 'अनेकं द्रव्यमाश्रयो यस्या:' इस विग्रह के अनुसार अनेक द्रव्यों में रहने वाली संख्या को 'अनेकद्रव्या' कहते हैं। उदयनाचार्य के अनुसार रूपादि गुण केवल 'एकद्रव्यवृत्ति' ही होते हैं, संयोगादि केवल 'अनेकद्रव्यवृत्ति' होते हैं। किन्तु संख्या 'एकद्रव्यवृत्ति' और 'अनेकद्रव्यवृत्ति' दोनों प्रकार की होती है, यही इसका वैशिष्ट्य है।[३]

एकत्व या एक द्रव्या संख्या तो नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की होती है। अर्थात् जब 'एकत्व' नित्य द्रव्यों में पाया जाता है, तब नित्य होता है और जब अनित्य द्रव्यों मे पाया जाता है, तब अनित्य होता है। उदाहरण के लिए आकाश, काल आदि नित्य द्रव्यो में रहने वाला एकत्व नित्य है किन्तु 'एक लकड़ी का लट्ठा या ईट अनित्य होता है। अत: उसमें रहने वाला एकत्व भी अनित्य होता है। जैसे ही वह ईट या लट्ठा टूटता है, उसका एकत्व भी नष्ट हो जाता है।

---

१. 'संख्या च पदार्थान्तरं न तु गुण: गुणादिष्वपि तद्वत्त्वप्रत्ययात्'

—— प० त० नि०, पृ० ४३

२. 'संख्या च पदार्थान्तरं, न तु गुण:, गुणादिष्वपि तद्वत्ताप्रत्ययात्'।

—— प० मं०, पृ० ३५

३. प्र० पा० भा०, पृ० ७४

भासर्वज्ञ संख्या के गुणत्व का निराकण करते हुए कहते हैं कि सत्त्वादि (अनुगत) के समान एकत्वादि में गुणत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है? सत् आदि की अनुगत प्रतीति के समान एकत्व की प्रतीति नहीं होती है। सत् आदि की गुणत्व आदि में भी वृत्ति होती है और 'सामान्य' नामक पदार्थ का आधार भी सत्त्वादि ही है, एकत्वादि नहीं। एकत्व आदि का व्यवहार गुणादियों में एकार्थ समवाय के कारण होता है अथवा उसका अध्यारोप किया जाता है।[१]

भासर्वज्ञ की भाँति रघुनाथ शिरोमणि ने भी संख्या के गुण होने का खण्डन किया है, परन्तु वे उसके अतिरिक्त पदार्थत्व का भी प्रतिपादन करते हैं। उनकी युक्ति है — 'संख्या भी अतिरिक्त पदार्थ है, क्योंकि गुण गुणो में नहीं रह सकते।' टीकाकार रघुदेव का कथन है कि एंक रूपं, द्वे रूपे, इस प्रकार रूपादि में भी एकत्व, द्वित्व संख्या की प्रतीति होती है। संख्या के गुण होने पर रूपादि गुण में उस प्रकार की प्रतीति संभव नहीं है। अतः गुण में गुण न स्वीकार करने के कारण ही संख्या के अतिरिक्त पदार्थत्व का प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि गुण, कर्म आदि पदार्थ के क्षेत्र में गुणवैधर्म्य रूप में स्वीकृत है। अतएव गुण, कर्म पदार्थ गुण का आश्रय नहीं हो सकता।

प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन का मत है कि गुण केवल द्रव्याश्रित होकर ही रहता है, परन्तु संख्या जिस प्रकार द्रव्यनिष्ठ होती है, ठीक उसी प्रकार गुण, कर्म एवं जातिनिष्ठ भी होती है। अर्थात् जिस प्रकार द्रव्यों को गिना जा सकता है, उसी प्रकार गुण, कर्म एवं जाति कोटि में अन्तर्भूत पदार्थों की भी गणना की जाती है। इस ज्ञान को किसी अन्य ज्ञान से बाधित न होने के कारण भ्रमात्मक भी नहीं कहा जा सकता।[२]

---

१. न्या० भू०, पृ० १५८

२. प० त० नि०, पृ० ४४

प्राचीन वैशेषिकों की ओर से ऐसा कहा जा सकता है कि इस प्रकार का ज्ञान अर्थात् द्रव्येतर पदार्थ में संख्या का ज्ञान तब होता है, जब एक ही पदार्थ में एकाधिक धर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। पर ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि समवाय एवं एकार्थसमवाय अर्थात् एक ही पदार्थ मे एकाधिक धर्मो का समवाय, ये दो भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं, जिसके द्वारा एक ही पदार्थ में समवेत अनेक धर्मों की गणना की व्याख्या संभव नहीं हो सकती है। 'घटत्व एक है' —— इस एक अर्थ में दो धर्मों एकत्व एवं घटत्व समवाय के द्वारा व्याख्या की जाय तो घट में घटत्व एवं द्रव्यत्व दोनों के रहने से घट में द्वित्व प्रत्यय भी होना चाहिए, अर्थात् 'घट दो हैं' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, जो कि नहीं होती। पुनः उपर्युक्त तरीके से तो 'रूपत्व एक है' इस ज्ञान की व्याख्या भी नहीं की जा सकती, क्योंकि रूपत्व जाति रूप-व्यक्ति में समवेत रहती है, परन्तु रूप व्यक्ति में एकत्व संख्या को प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार समवेत नहीं माना जा सकता है। [१]

वेणीदत्त ने भी संख्या के गुणत्व का निराकरण करके संख्या को अतिरिक्त पदार्थ माना है। संख्या को गुण स्वीकार करने पर रूपादि गुणों में एकादि गुणों की प्रतीति सिद्धान्त विरोधी होगी। [२] प्रभाकर मीमांसक ने भी 'संख्या' को अपने आठ पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सादृश्य और संख्या) में से एक पदार्थ रूप माना है। [३]

---

१. न विलक्षणाभ्यां समवायैकार्थसमवायाभ्यामविलक्षणायास्तद्वत्ताप्रतीतेरयोगात्। घटत्वादौ चैकार्थसमवायादेकत्वप्रत्ययवत् द्वित्वाद्येकार्थसमवायाद् द्वित्वादिप्रत्ययप्रसङ्ग· रूपत्वादौ च न तत्सम्भवः।

—— प० त० नि०, पृ० ४३

२. प० मं०, पृ ३५

३. तन्त्ररहस्य, पृ० २० और प्रकरण–पंचिका, पृ० ८१–८२

रामानुजाचार्य का कथन है कि संख्या द्रव्य नहीं है, क्योंकि संख्या गुणादि में भी रहती है। दो प्रकार का गन्ध, तीन प्रकार का स्पर्श आदि संख्यागत व्यवहार गुणादि में भी देखे जाते हैं। गुणादि में इनकी वृत्ति औपचारिक मानना उचित नहीं, क्योंकि मुख्यार्थ का बाध होने पर भी उपचार हेतु लक्षणा का व्यवहार होता है। जैसे —— 'श्वेतो धावति' यहाँ श्वेत का मुख्यार्थ बाध होने पर ही 'श्वेत अश्व का ग्रहण लक्षणा से किया गया है। यदि यह कहा जाय कि गुणत्व का भी बाध हो जायेगा तो यह भी सिद्ध नहीं हो सकता।

संख्या को गुण नहीं माना जा सकता क्योंकि धटत्वादि के समान संख्या अनेक आश्रयों में रहती है। संख्या का अन्तर्भाव कर्म में भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म अनुमेय नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी प्रकार प्रतीति के वैलक्षण्य से भी संख्या को कर्म नहीं माना जा सकता है। [१] अभिन्न होने के कारण संख्या का अन्तर्भाव सामान्य में भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संख्या को पृथक् पदार्थ मानना ही उचित है। [२]

निष्कर्षत: यह कहना समीचीन होगा कि 'गुण गुण में नहीं रहते' इस नियम के आधार पर घट में रूप गुण तथा रूप में एकत्व, द्वित्व आदि संख्या के रहने पर संख्या को गुण नहीं कहा जा सकता, अपितु उसे अतिरिक्त पदार्थ के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

स्वत्व

नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने स्वत्व के अननुगम के आधार पर क्षण को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में प्रतिपादित किया है। वहाँ 'स्व' शब्द

---

१. न कर्म। प्रत्यक्षत्वात्। तत्प्रतीतिवैलक्षण्याच्च।

—— तन्त्ररहस्य, पृ० २०

२. न सामान्यम्। अनित्यत्वात्। तस्मात्पृथक्तत्वान्तरम्।

—— तन्त्ररहस्य, पृ० २०

क्रिया के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। लोक व्यवहार में —– 'इदं मम् स्व, इदं त्वं स्व' इत्यादि के रूप में स्व शब्द का प्रयोग, धन, सम्पत्ति प्रभृति विभिन्न अर्थों में देखा जाता है। सम्पत्ति पर पुत्रादि के अधिकारों का वर्णन धर्मशास्त्र में मिलता है। धर्मशास्त्रीय स्वत्ववाद ही रघुनाथ शिरोमणि के 'स्वत्व' के पदार्थान्तर का आधार है। जो व्यक्ति जिस वस्तु को किसी प्रकार प्राप्त करता है, उस व्यक्ति का स्वत्व उस प्राप्त होने वाली वस्तु में उसके प्राप्तिकाल से लेकर उस वस्तु के विनाश के क्षण तक या तब तक के लिए कि जब तक वह दूसरे व्यक्ति के हाथ में न चली जाय, अधिकार रहता है। इस प्रकार —– स्वत्वम् उत्पन्नम, स्वत्वं नष्टम्, तव स्वत्वम्, मम् स्वत्वम् —– इत्यादि प्रतीति से सिद्ध तथा 'चैत्रस्य धनम्' इत्यादि में षष्ठी अर्थभूत स्वत्व भी पदार्थान्तर है।

स्वत्व को द्रव्य रूप इसलिए नहीं माना जा सकता कि स्वत्व का आधार भूत द्रव्य पहले से विद्यमान रहता है, किन्तु स्वत्व उस द्रव्य की प्राप्ति से पहले उसमे नहीं रहता। स्वत्व को रूप, रस आदि गुणों में अन्तर्भूत इसलिए नहीं किया जा सकता कि उसमे रूप आदि प्रत्येक गुण का वैधर्म्य पाया जाता है, साधर्म्य नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि रूप आदि गुण इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। स्वत्व इन्द्रिय ग्राह्य नही होता। उसे अतीन्द्रिय गुण भी नहीं माना जा सकता; क्योकि तथाविध गुरुत्व, अदृष्ट एवं भावना से भी उसमें वैलक्ष्य पाया जाता है। स्वत्व को स्वीकृति या अतिरक्त गुण स्वरूप मानने पर यह आपत्ति होती है कि जिस गुण युक्त द्रव्य पर स्वत्व होता है, अनायास उस द्रव्य में विद्यमान गुण पर भी स्वत्व हो जाता है। जिससे यह सिद्ध होता है कि स्वत्व गुण मे भी रहता है, परन्तु गुण में गुण कभी नहीं रह सकता, अतः स्वत्व गुण रूप नहीं। स्वत्व को कर्म भी इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह स्पन्दनात्मक नहीं, चलनात्मक नहीं। स्वत्व को सामान्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वत्व गोत्व, घटत्व आदि के समान नित्य पदार्थ भी नहीं है। विशेष उसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह नित्य द्रव्य मात्र

वृत्ति नहीं है। उसे समवाय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वत्व सम्बन्ध स्वरूप नहीं। अभाव के रूप में स्वत्व इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसकी प्रतीति निषेधात्मक रूप में नहीं होती। अत: स्वत्व को सप्तपदार्थ से अतिरक्ति पदार्थ मानना उचित है। [१]

न्याय-वैशेषिक आचार्यों के मत से 'चैत्रस्य धनम्' अथवा 'धनी चैत्र:' इस स्थल में स्वत्व अथवा स्वामित्व रूप सम्बन्ध धन आदि में अथवा चैत्र आदि में प्रतीयमान हुआ करता है। स्वत्व अथवा स्वामित्व द्रव्य आदि सप्त पदार्थ के अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, अपितु स्वरूप सम्बन्ध विशेष है। 'चैत्रस्य धनम्' यहाँ पर षष्ठी विभक्ति का अर्थ स्वत्व रूप सम्बन्ध धन स्वरूप होगा। 'धनी चैत्र:' इन सभी स्थलों पर प्रतीयमान स्वामित्व रूप सम्बन्ध चैत्रादिस्वरूप होगा। स्वामित्व एवं स्वत्व इन दोनों के मध्य में निरूप्य-निरूपकभाव स्वीकृत होगा। वस्तुत: प्राचीन मत 'चैत्रस्य इदं धनं' इस स्थल में धनवृत्ति चैत्र निरूपित स्वत्व रूप को धर्मशास्त्र के अनुसार 'विनियोग' रूप में परिभाषित करते हैं। अत: इच्छानुसार विनियोगयोगत्व ही स्वत्व पदार्थ है। इस विनियोग का प्रयोजक दान की प्राप्ति, क्रय, विक्रय आदि है, जिससे स्वर्ण आदि की प्राप्ति होती है। उसका विनियोग-योगत्व ही स्वत्व रूप पदार्थ है। इस प्रकार प्राचीन न्याय-वैशेषिक स्वत्व को पदार्थ रूप नहीं मानते।

रघुनाथ शिरोमणि प्राचीन न्याय सम्मत विनियोग-योगत्व रूप स्वत्व के प्रति अपनी शंका प्रस्तुत करते हुए कहते हैं — यदि इच्छानुसार व्यवहार करने की क्षमता 'स्वत्व' है, तो उनसे पूँछना होगा कि वह विनियोग क्या है?[२] इस प्रश्न के उत्तर में यदि प्राचीन नैयायिक यह कहें कि भक्षणादि (भोजन-पान) व्यवहार ही अभिप्रेत है, तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि दूसरे के भोजन

---

१. तर्क संग्रह: आनन्द झा, पृ० २५६–५७

२. यथेष्टविनियोगयोग्यत्वं तदिति चेत् कोऽसौ निनियोग:?

— प० त० नि०, पृ० ३६

आदि का भी उपयोग किया जा सकता है अतः स्वत्व विनियोग रूप नहीं कहा जा सकता। यदि प्राचीन गण 'योग्यत्व' की व्याख्या करते हुए यह कहें कि दूसरे व्यक्ति का अन्नादिभक्षण शास्त्र निषिद्ध है तो उनसे यह पूछना चाहिए कि वह निषेध का शास्त्र कौन सा है? इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि बिना अनुमति दूसरे की सम्पत्ति का उपयोग करना अनुचित है (परस्वं न आददीत), ऐसा शास्त्र का कथन है।[१] यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या निषेध सूचक उपर्युक्त कथन का अर्थ ग्रहण करने के लिए भी स्वत्व पदार्थ का पूर्वज्ञान आवश्यक नहीं है? अतः 'स्वत्व' को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि निषेध सूचक उपर्युक्त शास्त्र के उपदेश का अर्थ ग्रहण करने के लिए भी 'स्वत्व' को स्वतन्त्र पदार्थ मानना होगा यहाँ हमारी युक्ति (प्रमाण) यही है।[२]

दीधितिकार शिरोमणि ने विनियोग-योगत्व मानने वाले प्राचीन नैयायिकों के मत का खण्डन करके अपने मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं —

'तस्मात् स्वत्वमतिरिक्तमेव'[३]

अर्थात् स्वत्व को सप्त पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यथेष्ट विनियोग के उपाय क्रय आदि का विषयत्व ही स्वत्व नहीं है। द्रव्य आदि की विषयता के धन रूप होने पर क्रय के पूर्वकाल में भी रहती है, तब भी वहाँ स्वत्व के व्यवहार का प्रसंग उपस्थित होता है। क्रय रूप में तो क्रय के नाश के क्षण में व्यक्ति के स्वत्व के नाश का प्रसंग होने से ही नव्य नैयायिक गण अतिरिक्त पदार्थ के रूप में सिद्ध करते हैं।[४] वस्तुतः क्रयादि के

---

१. भक्षणादिकमिति चेत्। न परकीयेऽप्यन्नादौ तत्सम्भवात्। शास्त्रनिषिद्धिं तथेति चेत किं तच्छास्त्रम्? परस्वं नाददीतेत्यादिकमिति चेत्।

— वही, पृ० ३६

२. प० त० नि०, पृ० ३७

३. वही, पृ० ३६

४. प० खं० व्या०, पृ० ६३

पूर्वकाल में भी व्यक्ति का स्वत्व वहाँ रहता है और वस्तु के विक्रय हो जाने पर उस व्यक्ति का स्वत्व नष्ट हो जाता है तथा क्रय करने वाले व्यक्ति का स्वत्व उत्पन्न हो जाता है। इसलिए रघुनाथ शिरोमणि ने स्वत्व को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।

पूर्वपक्ष का कथन है कि शास्त्र के निषेध तथा बोध के द्वारा स्वत्व की प्रतीति हो जाने पर भी स्वत्व के सद्भाव में क्या प्रमाण है? रघुनाथ शिरोमणि स्वत्व सिद्धि के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं —

'प्रमाणं च तत्र परस्वं नाददीतेत्यादिकं शास्त्रमेव' [१]

अर्थात् दूसरे की सम्पत्ति को अनुमति के बिना ग्रहण नहीं करना चाहिए इत्यादि वाक्यों को कहने वाला शास्त्र ही स्वत्व के पदार्थान्तर में प्रमाण है।

नव्य नैयायिकों के अनुसार स्वत्व प्रतिग्रह से उत्पन्न और दान आदि से नष्ट हो जाने वाला पदार्थ है। लक्षणमालाकार इस स्वत्व को सप्त पदार्थों से अतिरिक्त कुछ अनिर्वचनीय पदार्थ मानते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रतिग्रहादि नाश के पश्चात् भी स्वत्व का व्यवहार होता है। दानादि से स्वत्व नष्ट हो जाता है और प्रतिग्रहादि से स्वत्व उत्पन्न होता है। अतएव भविष्य में प्राप्ति होने वाली सम्पत्ति में स्वत्व की प्राप्ति होगी। ऐसा स्वीकार न करने पर प्रतिमाह अथवा प्रतिवर्ष धान्यादि के भावी देय होने से वहॉ स्वत्व के उत्पत्ति की असिद्धि होगी, [२] जो उचित नही प्रतीति होता। अत: इस प्रकार के व्यवहार प्रतीति के प्रामाण्य अनुरोध से स्वत्व का अतिरिक्त पदार्थत्व सिद्ध होता है। 'स्व पश्यामि' इस प्रकार की प्रतीति में स्वत्व बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य है।

---

१. प० त० नि०, पृ० ३६

२. न्यायकोश, पृ० १०५०

रघुनाथ शिरोमणि ने स्वत्व प्राप्ति के साधनों को इस प्रकार वर्णित किया है —— 'प्रतिग्रह', उपादान, क्रय और पिता आदि के मरने पर स्वत्व उत्पन्न होता है और दानादि के द्वारा स्वत्व नष्ट हाता है।[१] रघुदेव के अनुसार प्रतिग्रह दो प्रकार से उत्पन्न होता है —— दानजन्य एवं परस्वत्व के नाश के अनन्तर स्वत्व का ग्रहण की प्रतिग्रह है। उपादान, किसी वस्तु का अभिग्रहण उपादान कहलाता है। जैसे —— जिसका कोई स्वामी न हो, ऐसे अरण्य में स्थित काश, कुशादि का आनयन उपादान कहलाता है। क्रय से अभिप्राय किसी वस्तु को खरीदने पर उस वस्तु पर उस व्यक्ति का स्वत्व उत्पन्न हो जाता है, जिसने क्रय की है। पितादि के मरणोपरान्त से आशय यह है कि पिता के मरने पर पैतृक धन को पुत्रादि उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त करता है। यहाँ 'आदि' पद से पितृण्य के धन का ग्रहण करना चाहिए। जैसा कि धर्मशास्त्र मे वर्णित है कि पितृण्य भाई आदि की सम्पत्ति पर पुत्र के अभाव मे अथवा उत्तराधिकारी के अभाव में 'स्व' होता है और वह सप्रतिबन्धदाय कहलाता है। 'दानादि' में 'आदि' पद से विक्रयादि का भी ग्रहण करना चाहिए।[२] इस प्रकार दान देने से एवं वस्तु का विक्रय करने से उस वस्तु पर से उस व्यक्ति का स्वत्व नष्ट हो जाता है।

न्यायलीलावती 'कण्ठाभरण' टीकाकार आचार्य शंकर मिश्र का कथन है कि स्वत्व के उत्पन्न होने में कारण को अननुगम कहा गया है, परन्तु प्रतिग्रहादि के एक रूप होने पर कारणता अनुगत सिद्ध होती है। आचार्य मनु ने 'सप्तवित्तागमा' इस वचन से भी कारणता अनुगत ही सिद्ध होती है। अत: स्वत्व को पृथक् पदार्थ नहीं माना जा सकता, अपितु यह विनियोग रूप ही है।

उक्त आक्षेप का निराकरण करते हुए कहा जा सकता है कि स्वत्व के पदार्थान्तर होने पर उसके हेतु-क्रयादि के अनुगत न होने पर भी 'तृणारणिमणि

---

१. प्रतिग्रहोपादानक्रयपित्रादिमरणैर्जन्यते दानादिभिश्च नाश्यते।

—— प० त० नि०, पृ० ३६

२. प० ख० व्या०, पृ० ६४

न्याय' से कारणता का ग्रहण किया जाता हैं अत: क्रय आदि के अननुगत होने की योग्यता से स्वत्व के लक्षण मे अननुगम दोष नहीं है।[१] टीकाकार रामभद्र के अनुसार कारणो के बहुत्व होने पर अनुगत स्वत्वत्व को अखण्डोपाधि मानना होगा।[२] वेणीदत्त ने भी कहा है कि 'चैत्रस्येदं धनम्' इत्यादि प्रतीति का विषय धनवृत्ति चैत्र से निरूपित सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध नैयायिकों के द्वारा स्वत्वत्व रूप में व्यवहार करने से स्वरूप सम्बन्ध की अपेक्षा अतिरिक्त पदार्थ है।

सारांशत: रघुनाथ शिरोमणि ने स्वत्व के पदार्थन्तर का स्वरूप धर्म शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के आधार पर ही प्रतिपादित किया है। 'स्वत्व' व्यक्ति के द्वारा संचित स्वर्णादि अथवा पैतृक सम्पत्ति की प्राप्ति से सम्बन्धित है। इस प्रकार स्वत्व 'विनियोग योग्यत्व' रूप ही है। इसी को प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन ने अपने सिद्धान्तानुसार स्वरूप सम्बन्ध माना है। इसके विपरीत रघुनाथ शिरोमणि ने स्वत्व को पदार्थ माना है। व्यक्ति का स्वत्व अनुगत नहीं होता। अत: विनियोग रूप में संचित सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार उसी व्यक्ति का माना गया है। परन्तु स्वत्व को विनियोग रूप में स्वीकार कर उसे सिद्धान्त में 'स्वरूप सम्बन्ध' से पारिभाषित करने पर, उस विनियोग का परकीय पुरुषान्तर के द्वारा चुरा लिये जाने पर व्यक्ति के स्वत्व का नाश हो जाता है। परकीय भक्षणादि की भावना का निराकरण करने के लिए रघुनाथ शिरोमणि ने इसे पदार्थ रूप में माना है। फलत: संचित धन के चुरा लिये जाने पर भी व्यक्ति का स्वत्व उस पर बना रहता है, क्योंकि चोर के पकड़ लिये जाने पर वह धन पुन: उसी व्यक्ति का माना जाता है, चौर्य कर्म करने वाले का नहीं।

---

१. न्या० ली० प्र०, पृ० ८७

२. प० त० वि० प्र०, पृ० ८३

वैशिष्ट्य

वैशेषिक दर्शन में सर्वप्रथम 'वैशिष्ट्य' शब्द का प्रयोग सप्तपदार्थी में हुआ है। वहाँ 'वैशिष्ट्य' शब्द व्यावृत्ति अर्थात् समानाधिकरण्य के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे — नील उत्पल में नील नीलरहित उत्पल को व्यावृत्त करता है। अत: व्यावृत्ति ही वैशिष्ट्य है। इस प्रकार प्राचीन न्याय में 'वैशिष्ट्य' एक सम्बन्ध विशेष है। परन्तु भाट्ट मीमांसक तथा रघुनाथ शिरोमणि 'वैशिष्ट्य' को पदार्थ रूप मानते हैं। जिस प्रकार 'नीलो घट:', 'गतिमान देवदत्त:' इत्यादि गुण तथा कर्म से विशिष्ट प्रतीति एक समवाय सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'घटाभाववद भूतलम्' इत्यादि विशिष्ट से भूतलादि में अभाव को भी वैशिष्ट्य रूप सम्बन्धान्तर मानना चाहिए। भाव पदार्थों में समवाय स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, परन्तु भाव पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुणादि के अभाव की प्रतीति 'वैशिष्ट्य' नामक सम्बन्ध से होती है। इसलिए रघुनाथ शिरोमणि ने वैशिष्ट्य को पदार्थान्तर माना है —

'वैशिष्ट्यमपि पदार्थान्तरम्' [१]

प्राचीन न्याय-वैशेषिक दर्शन में अभाव एवं उसके अधिकरण के बीच के सम्बन्ध को एक विशेष प्रकार का स्वरूप सम्बन्ध माना गया है, परन्तु वैशिष्ट्य अर्थात् अभावीय विशेषणता सम्बन्ध वस्तुत: एक स्वतन्त्र पदार्थ है।

पदार्थचन्द्रिकाकार 'वैशिष्ट्य' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -'दण्डी देवदत्त:'। इस उदाहरण मे 'दण्ड' गुण भाव से प्राप्त होता है और देवदत्त प्रधान रूप में। लेकिन सम्बन्ध न गुण है न ही प्रधान है। अत: वह स्वरूप में ही प्रकाशित होता है। समूहालम्बन में दण्डादि प्रधान रूप से और दण्डत्वादि विशेषण अप्रधान रूप से होते हैं। अत: जो जिसके द्वारा निरूपित है और जिसका

---

१. प० त० नि०, पृ० ४६

सम्बन्धनिष्ठ है, वही वहाँ पर उसका वैशिष्ट्य होगा। इसमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं।[१]

अभिप्राय यह है कि 'दण्डी देवदत्तः' यहाँ दण्ड और देवदत्त का सम्बन्ध है। दण्ड का आनयन रूप विषय का भेद नहीं है। दण्ड और देवदत्त इन दोनों के भिन्न-भिन्न होने पर भी 'समूहालम्बन ज्ञान' से 'दण्डधारी देवदत्त' इस रूप में एक ही ज्ञान होता है। परन्तु पूर्वपक्ष यहाँ विषय भेद को स्वीकार करता है, जिसमें अनवस्था दोष है। वस्तुतः गुणप्रधान भाव से प्राप्त सम्बन्ध ही विशेष है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रूपवान घर में रूप गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है और उस समवाय को अन्य में समवेत स्वीकार करने पर अनवस्था दोष के निवारण के लिए समवाय को स्वरूपतः समवेत स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार घट के रूपाभाव का ज्ञान रूपवान घट के समान विशेषण-विशेष्यभाव से हो जाता है, परन्तु वहाँ रूपाभाव 'समवाय' सम्बन्ध में नहीं रहता; अपितु वहाँ 'वैशिष्ट्य' सम्बन्ध को स्वीकार करना उचित है।

रामरुद्रीकार के अनुसार द्रव्य में गुण आदि के ज्ञान के लिए समवाय सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है और वहीं द्रव्य विशेष्य एवं समवाय विशेषण है। गुणादि के अभाव के लिए विशेषण-विशेष्य को स्वीकार न करके 'वैशिष्ट्य' नामक सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।[२]

दिनकरीकार के अनुसार नव्य नैयायिकों के मत में 'वैशिष्ट्य' पदार्थान्तर ही है, क्योंकि 'भूतलं घटाभाववत्' इस प्रकार के ज्ञान प्राप्त होता है और इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति स्वरूप सम्बन्ध से होती है। अभाव के अधिकरण वृत्ति का

---

१. प० चं०, पृ० ११२

२. द्रव्यगुणादि विषयकज्ञानव्यक्तेर्द्रव्यत्वाभावसम्बन्धत्वे गुण इव द्रव्येऽपि द्रव्यत्वाभावबुद्धिप्रसङ्गः, सम्बन्धात्मकज्ञानस्य द्रव्येऽपि विशेष्यतया सत्वात्।

— रातरुद्री, पृ० ६९

अखंड भेद स्वीकार करने पर स्वरूप सम्बन्ध मात्र से प्राप्त ज्ञानादिक सम्बन्ध में विनिगमनाविरह अर्थात् निर्णायक युक्ति का अभाव, ऐसा कहा है।[१]

वस्तुतः एक अखण्ड भेद के साथ अधिकरणों का विनिगमनाविरह संभव नहीं है। अधिकरणों के नानात्व प्रसंग लाघव की दृष्टि से एक भेद का सम्बन्धत्व औचित्य से उसके विषय के ज्ञानादि की दृष्टि से विनिगमनाविरह प्रसक्त होगा। अर्थात् यदि अधिकरणों का नानात्व स्वीकार किया जायेगा तो अभावात्मक ज्ञान के लिए सम्बन्ध का नियामक एक मानने से प्रयत्न लाघव होगा अन्यथा गौरव की बात उत्पन्न होगी।[२]

रघुनाथ शिरोमणि 'वैशिष्ट्य' के पदार्थान्तरत्व की सिद्धि करने के लिए अधोलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं — वैशिष्ट्य रूप सम्बन्ध भी विलक्षण पदार्थ है। रूपादि विशिष्ट प्रतीति के विषय रूप में जो रूप का समवाय सिद्ध हुआ करता है, तद्रूप (घटाभाववत् भूतलम्) यह सब अभाव विशिष्ट प्रतीति के विषय रूप में अभाव के वैशिष्ट्य रूप सम्बन्ध की सिद्धि होगी।[३]

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'रूपवान घटः' यहॉ रूप गुण घट गुणी में समवाय सम्बन्ध से रहता है और समवाय सम्बन्ध अन्य किसी सम्बन्ध की अपेक्षा न रख करके स्वरूपतः गुण-गुणी में रहता है। इसी प्रकार 'रूपाभाव घटः' यहाँ रूपाभाव की प्रतीति वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध के द्वारा होती है। अन्य शब्दों में द्रव्यादि पदार्थों में स्वरूपतः समवेत रहने वाले समवाय की प्रतीति के समान ही द्रव्यादि में समवेत रहने वाले गुणादि धर्म के लिए अभाव की प्रतीति के लिए 'वैशिष्ट्रिय' को स्वीकार करना आवश्यक है।

---

१. दिनकरी, पृ० ६९

२. रामरुद्री, पृ० ६९

३. रुपादिप्रतीतिनिमित्ततया समवायस्येवाभाववत्ताप्रतीतिनिमित्ततया तस्यापि सिद्धेः।

— प० त० नि०, पृ० ४६

वस्तुत: भूतल आदि में घटाभावादि की जो प्रतीति हुआ करती है, उक्त प्रतीति के विषय रूप में भूतल एवं घटाभाव के मध्यवर्ती एक सम्बन्ध को अवश्य स्वीकार करना होगा; क्योंकि सम्बन्ध के व्यतिरेक से भूतल आदि अनुयोगी में घटाभाव आदि रूप प्रतियोगी की विशिष्ट बुद्धि नहीं हो सकती। इसलिए जहाँ पर विशेषण-विशेष्यभाव का अवलम्बन करके कोई प्रतीति होगी, वहाँ पर विशेष्य एवं विशेषण की तरह विशेष्य-विशेषण के सम्बन्ध और विशिष्ट बुद्धि का विषय हुआ करता है। अत: भूतल के सहित घटाभावादि के एक सम्बन्ध की अवश्य कल्पना करनी होगी और वह सम्बन्ध 'वैशिष्ट्य' है, यही वैशिष्ट्य का पदार्थान्तर है।

प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि अभाव एवं अनुयोगी का मध्यवर्ती सम्बन्ध ही स्वरूप सम्बन्ध है। उक्त स्वरूप सम्बन्ध एवं अभाव प्रतीति का समकालीन भूतलादि का स्वरूप सम्बन्ध होगा, अतिरिक्त नहीं। प्राचीन मत में उक्त स्वरूप सम्बन्ध अभाव का वैशिष्ट्य रूप अनुयोगीगत सम्बन्ध स्वीकृत हुआ करता है।

रघुनाथ शिरोमणि प्राचीन नैयायिकों के इस मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं — यदि कहा जाय कि स्वरूप सम्बन्ध विशेष ही उस प्रकार अभाव से विशिष्ट होने की प्रतीति का विषय होगा तो यह शंका भी उचित नहीं; क्योंकि अभाव विशिष्ट प्रतीति के नियामक सम्बन्ध को स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तब अतिरिक्त समवाय सम्बन्ध के उच्छेद की आपत्ति होगी।[१] अभिप्राय यह है कि घटाभाववत् विशिष्ट भूतल (घटाभाववत् भूतलम्) इस समस्त अभाव प्रतीति का नियामक वैशिष्ट्य रूप सम्बन्ध स्वरूप सम्बन्ध विशेषण रूप नहीं है। अर्थात् भूतल

---

१. स्वरूपसम्बन्धविशेष एव तथा प्रतीतिनिमित्तमिति चेन्न समवायोच्छेदप्रसङ्गात्।

— प० त० नि०, पृ० ४६

यदि अनुयोगी स्वरूप नहीं है, परन्तु 'रूपवान घट:' इस सकल प्रतीति के विषय रूप में अतिरिक्त समवाय सम्बन्ध स्वीकृत होता है, तो तद्रूप 'घटाभाववत् भतलं' यह अभाव प्रतीति के नियामक रूप में प्रतीयमान जो वैशिष्ट्य रूप सम्बन्ध है, वह भी अतिरिक्त पदार्थ है। यदि अभाव प्रकारक प्रतीति के नियामक वैशिष्ट्य को स्वरूप सम्बन्ध विशेष रूप स्वीकार किया जाय, तो समवाय का भी अस्तित्व नहीं रहेगा अर्थात् समवाय भी उच्छिन्न होगा।

सप्तपदार्थीकार शिवादित्य ने वैशिष्ट्य को अतिरिक्त पदार्थ न स्वीकार करके, उसे विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध ही मानते हैं।[१] पदार्थशास्त्रकार आनन्द झा इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'विशेषण-विशेष्यभाव तात्त्विक सम्बन्ध नहीं, सम्बन्धाभास है। यदि कोई "घर घटवाला है" ऐसा ज्ञान करे तो घट विशेषण और घर विशेष्य होता है, किन्तु वहीं यदि "घर में घट है" ऐसा ज्ञान किया जाय तो परिस्थिति विपरीत हो जाती है। घट जो कि पहले विशेषण का विशेष्य हो जाता है और घर जो कि पहले विशेष्य था विशेषण हो जाता है। अत: यह मानना ही होगा कि विशेषण-विशेष्यभाव वस्तुस्थिति का नियामक सम्बन्ध नहीं है। यह बात इससे और भी पुष्ट होती है कि विशेषण-विशेष्यभाव तो भ्रम ज्ञान के आधार पर भी होता है, किन्तु वस्तुस्थिति वैसी नहीं होती। 'जल अग्नि वाला है' इस भ्रम-ज्ञान स्थल में भी तो जल विशेष्य और अग्नि विशेषण बनती है, किन्तु वस्तु स्थिति वैसी नहीं होती। संयोग, समवाय आदि वस्तुस्थिति के नियामक सम्बन्धों को विशेषण-विशेष्यभाव से नहीं हटाया जा सकता।'[२]

पदार्थमण्डनकार वेणीदत्त का मत है कि वैशिष्ट्य का भी पदार्थान्तर है। जिस प्रकार रूपादि की प्रतीति के कारण से समवाय सिद्ध हुआ करता है,

---

१. वैशिष्ट्यं तु विशेषणविशेष्यभाव: सम्बन्धएव।

— स० प०, पृ० ३९

२. पदार्थशास्त्र: आनन्द झा, पृ० ३४५

उसी प्रकार समवाय के अभाव की विशिष्ट प्रतीति से विशिष्ट की भी सिद्धि होगी। स्वरूप सम्बन्ध को ही तादृश प्रतीति का नियामक स्वीकार करने से समवाय का भी पदार्थत्व असिद्ध होगा।[१]

निष्कर्षत: रघुनाथ शिरोमणि प्राचीन न्याय–वैशषिक दर्शन सम्मत समवाय के स्वरूप का विश्लेषण करके उसे अनेक मानते हैं। वहीं समवाय के अभाव की प्रतीति स्वरूप सम्बन्ध से न मानकर अतिरिक्त 'वैशिष्ट्य' नामक सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। रामरुद्रीकार के अनुसार समवाय को अनेक मानने वाले नव्य नैयायिकों के मत में 'वैशिष्ट्य' को अतिरिक्त सम्बन्ध स्वीकार करना उचित हैं। अन्यथा अनेक समवाय की कल्पना की अपेक्षा प्रसिद्ध स्वरूप सम्बन्धों के औचित्य को ही स्वीकार करने पर समवाय की ही असिद्धि का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

विषयता

रघुनाथ शिरोमणि ने अभाव की प्रतीति के लिए प्राचीन नैयायिकों के द्वारा मान्य स्वरूप सम्बन्ध का खण्डन करके 'वैशिष्ट्य' नामक अतिरिक्त सम्बन्ध को स्वीकार किया है। इसी क्रम में 'विषयता' को स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार करने वाले प्राचीनों के मत का खण्डन करते हुए कहा है —

'एतेन ज्ञानादिविषयता व्याख्याता'[२]

रघुनाथ शिरोमणि ने इस एक पंक्ति के द्वारा ही 'विषयता' के स्वरूप सम्बन्ध का निराकरण करके वैशिष्ट्य की भाँति इसके अतिरिक्त पदार्थत्व का प्रतिपादन किया है। टीकाकार रघुदेव का कथन है कि 'एतेन' शब्द का अभिप्राय है कि 'विषयता' का अन्तर्भाव प्रसिद्ध सात पदार्थों मे सभव नहीं है।[३]

---

१. प० मं०, पृ० ३५

२. प० त० नि०, पृ० ४७

३. क्लृप्तान्तर्भावासम्भवेन। अतिरिक्तत्वेन व्याख्याता।

— प० खं० व्या०, पृ० ७८

प्राचीन न्याय-वैशेषिक आचार्यों के मत से 'विषयता' का अभिप्राय है —— ज्ञान, इच्छा और क्रिया का विषय होना। यह विषयता स्वरूप सम्बन्ध ही है। उससे भिन्न प्रमाण के अभाव में अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया सविषयक पदार्थ कहे जाते हैं। प्रश्न यह होता है कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया अपने विषय से कैसे सम्बद्ध हैं? इसका स्वीकृत सिद्धान्त यह है कि ये तीनों 'विषयता' सम्बन्ध से सम्बद्ध होते हैं, जो कि विषय का धर्म हैं। इसी तरह से विषय का भी ज्ञान, इच्छा और क्रिया से विषयता सम्बन्ध से सम्बद्ध होते हैं, जो कि विषयिन का धर्म है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में संशय यह हो सकता है कि विषयता एवं विषयिता, जो कि विषय तथा विषयी के क्रमश: धर्म हैं, इनकों सप्तपदार्थों में कैसे अन्तर्भूत किया जा सकता है? इस सम्बन्ध में प्राचीन न्याय-वैशेषिकाचार्यों का मत है कि विषयता एवं विषयिता केवल मात्र स्वरूप सम्बन्ध है और इस तरह उन्हें या तो विषय रूप मे अथवा विषयी रूप मे ही समझा जा सकता है तथा इस प्रकार उन्हें अतिरिक्त पदार्थ के रूप में मानने की आवश्यकता नहीं है।

नव्य नैयायिकों के अनुसार स्वरूप सम्बन्ध स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अपितु सम्बन्ध ही है। यह संयोग की तरह गुण नहीं है, जो कि दो द्रव्यों में भिन्न रूप से रहता है। न ही समवाय की तरह स्वतन्त्र पदार्थ है, जो कि गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान, जाति-व्यक्ति, अवयव-अवयवी आदि में रहता है। अत: स्वरूप को सम्बन्ध मानने की आवश्यकता है। नैयायिकों का कहना है कि यदि हम इस प्रकार स्वरूप सम्बन्ध को न मानें तो 'घटाभावात् भूतलम्', 'घटस्य ज्ञानं' एवं 'घटस्य कृति' आदि प्रकारता रूप ज्ञान का व्यवहार नहीं कर सकते। प्रकारता रूप ज्ञान मे कम से कम तीन चीजों का अर्थात् प्रकार का, विशेष्य का ओर विशिष्ट ज्ञान का रहना आवश्यक है। अत: प्रकारता ज्ञान के औचित्य के लिए ही स्वरूप सम्बन्ध को मानना आवश्यक है। उक्त

सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि जब प्राचीन नैयायिक मानते हैं कि विषयता अथवा विषयिता स्वरूप सम्बन्ध है, तो इन दोनों से भिन्न विषय और विषयी के सम्बन्ध का स्थापक कोई अन्य नहीं है।

उक्त मत का खण्डन करते हुए नव्य नैयायिकों का मत है कि यदि विषयता को विषयी अर्थात् घट एवं भूतल तथा संयोग में (घटाभावात् भूतलं उदाहरण में) माना जाय तो इन तीनों मे तादात्म्य होगा। जिसके फलस्वरूप अनुव्यवसायात्मक रूप ज्ञान होगा, जिसका स्वरूप होगा — 'घटप्रकारकज्ञानवान् अहं', 'भूतलप्रकारकज्ञानवान् अहं' — इस प्रकार के ज्ञान की प्रसक्ति होगी। क्योंकि घटनिष्ठ जो प्रकारता है, वह ज्ञान रूप विषयता के साथ तादात्म्य रूप होगा और उसी प्रकार ज्ञान की 'विषयता' 'ज्ञान रूप में भूतल में भी है।

पदार्थतत्त्वनिरूपणकार रघुनाथ शिरोमणि 'एतेन ज्ञानादिविषयता व्याख्याता'[१] में प्रयुक्त 'आदि' पद के द्वारा विषयित्व, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व, अवधित्व, अवधिमत्त्व, आधारत्व, आधेयत्व, दैशिक विशेषणता, कालिक विशेषणता, विशेष्यत्व, अवच्छेदकत्व, अवच्छेद्यत्व आदि को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।[२]

पदार्थमंडनकार वेणीदत्त ने भी सविषयक ज्ञान, इच्छा, एवं क्रिया में स्वरूप सम्बन्ध का खण्डन करके 'विषयता' को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है।[३]

---

१. प० त० नि०, पृ० ४७

२. विषयतादिपदाद्विषयित्व प्रतियोगित्वानुयोगित्वावधित्वावधिमत्त्वाधारत्वाधेयत्वदिक्कालनिरूपितविशेषत्वविशेष्यत्वावच्छेदकत्वावच्छेद्यत्वादयः परिगृहीताः।

— प० त० वि० प्र०, पृ० ९५

३. प० मं०, पृ० ३५

निष्कर्षत: ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया सविषयक गुण माने जाते हैं। ये अपने विषय के साथ स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं। इसके विपरीत रघुनाथ शिरोमणि 'विषयता' नामक अतिरिक्त सम्बन्ध को स्वीकार करके ज्ञानादि को विषय से सम्बद्ध मानते हैं। वस्तुत: प्राचीन नैयायिकों ने धर्म एवं धर्मी में स्वरूप सम्बन्ध को स्वीकार करके वैशिष्ट्य, विषयतादि अनेक सम्बन्धो को भी स्वरूप सम्बन्ध मे अन्तर्भूत कर लिया है। परन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने स्वरूप सम्बन्ध के आधार पर वैशिष्ट्य, विषयतादि को पदार्थान्तर के रूप में स्वीकार किया है। टीकाकारो ने पदार्थनिरूपणकार के मत की पुष्टि करके आगे बढ़ाते हुए कहा है कि विषयता के समान ही विषयित्व, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्वादि भी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार्य है।

❑❑❑

सप्तम अध्याय

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा कतिपय उठाई गयी मूलभूत समस्याएँ

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा कतिपय उठाई गयी मूलभूत समस्याएँ

(i) मूर्तत्वभूतत्व का विचार

न्याय सिद्धान्त में दो प्रकार के द्रव्यों की चर्चा प्राप्त होती है। कुछ द्रव्य भूत द्रव्य की कोटि में आते हैं तथा कुछ मूर्त द्रव्य होते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पॉच द्रव्यों को भूत कोटि में परिगणित किया जाता है। क्योंकि सिद्धान्त के अनुसार भूत वे द्रव्य होते हैं, जिनके गुणों का बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है।[१] वैशेषिक सिद्धान्त में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकस्य द्रव्यत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, शब्द एवं संस्कार —— ये विशेष गुण के रूप में माने गये हैं। शेष सभी गुणों का उल्लेख सामान्य गुण के रूप में किया गया है। इन गुणों में से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एवं शब्द का बाह्य इन्द्रियो से ग्रहण होता है। ये गुण क्रमश: तेज, जल, पृथिवी, वायु एवं आकाश मे मिलते हैं। यद्यपि आत्मा को विशेष गुण भोगी कहा गया है; तथापि उसके बुद्धि आदि गुणों का बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। अत: बाह्येन्द्रिय ग्राह्य विशेष गुण वाले द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ही होते हैं। इसलिए इन्हें भूतद्रव्य मान जाता है।

इन पॉचों पर रहने वाले धर्म को तत्त्व कहते हैं। भूतत्व को जाति के रूप में स्वीकार करने में विवाद है। नैयायिकों का कहना है कि सांकर्य नामक दोष के रहने से भूतत्व को जाति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन इन पॉच द्रव्यों को 'मूर्त' द्रव्यों की कोटि में रखा जाता है। क्योंकि 'मूर्त' वही होता है जो सीमित परिमाण वाला

---

१. द्रव्येषु भूतानि बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवन्ति च पञ्च।

—— प० दि० च०, पृ० १

एवं क्रियावान होता है।[१] नौ द्रव्यों मे चार ऐसे द्रव्य हैं, जो विभु होने के कारण निष्क्रिय होते हैं। ये द्रव्य है —— आकाश, काल, दिक् एव आत्मा। इनमे क्रिया न होने के कारण ही इन्हें मूर्त द्रव्य की कोटि में नहीं लाया जा सकता। यद्यपि क्रियावत्व द्रव्य का लक्षण है इसलिए पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन मे यह लक्षण पर्याप्त है। अत: इन्हीं पॉच द्रव्यों को 'मूर्त' द्रव्य कहा जाता है।

प्राचीन न्याय–वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार जन्य द्रव्य का समवायिकारण वही हो सकता है, जिसमें अनुद्भूत स्पर्श गुण समवेत होकर रहता हो। परन्तु यह मान्यता इन्द्रिय अग्राह्य अनन्त स्पर्शगुणों की कल्पना के कारण गौरव–दोष से ग्रस्त हो जाती है। अत: लाघव न्याय से मूर्तत्व धर्म को ही जन्य द्रव्य के समवायी कारणत्व का मापदण्ड माना जाना चाहिए। मूर्तत्व, गति अर्थात् क्रिया के समवायिकारण रूप धर्म को अवच्छिन्न करने वाला एक विशेष प्रकार का सामान्य ही है। भूतत्व मूर्तत्व से भिन्न पदार्थ नहीं है। कुछ दार्शनिकों के मत में रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुणों के आश्रय रूपी द्रव्य मे समवेत एक विशेष प्रकार की जाति है।

प्राचीन न्याय वैशेषिक दर्शन में अन्त्य अवयवी अर्थात् घट, पट आदि जन्य द्रव्यो मे यह एक विशिष्ट धर्म स्वीकार किया गया है कि वे किसी अन्य जन्य द्रव्य (अवयवी) के समवायिकारण (अवयव) नहीं होते हैं। रघुनाथ शिरोमणि उक्त मत के सम्बन्ध में कहते हैं कि द्रव्य समवायिकारणत्व के सम्बन्ध मे प्राचीन मत के विपरीत किये गये सिद्धान्त परिवर्तन से अन्त्य अवयावित्व सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त अप्रभावित रहता है।

---

१. मूर्तत्व परिच्छिन्नपरिमाणवत्वं क्रियावत्व वा।

—— त० दी०, पृ० ११

(ii) कर्म की अव्याप्यवृत्तित्व सिद्धि

रूप, रस, गन्ध एव स्पर्श गुण के समान 'कर्म' पदार्थ भी अव्याप्यवृत्ति है।[१] अर्थात् जिस प्रकार गुणविवेचन में चित्ररूप एवं चित्ररस का खण्डन करके रूपादि की अव्याप्यवृत्तित्व सिद्धि की गयी है, उसी प्रकार रघुनाथ शिरोमणि यहाँ 'कर्म' को भी अव्याप्यवृत्ति सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि जब किसी वृक्ष की शाखाएँ हिल रही हो पर उसका मूल तना स्थिर हो, तब 'यह वृक्ष स्पन्दवान् है' इस प्रकार की यथार्थ प्रतीति होती है। यद्यपि उपर्युक्त स्थिति मे यह भी कहा जा सकता है कि 'शाखाएँ हिल रही हैं न कि वृक्ष'। उदाहरण के लिए पीपल का पत्ता हर समय हिलता रहता है, जबकि उसकी डालियाँ एवं तना (मूल) स्थिर रहता है। अर्थात् इसका अर्थ यही है कि वृक्ष के सम्पूर्ण भाग नहीं हिल रहे हैं, न कि वृक्ष में स्पन्दन का सर्वथा अभाव है। अत: रघुनाथ शिरोमणि को यही अभीष्ट है कि अश्वत्थ वृक्ष (पीपल के वृक्ष के कुछ अवयवों में स्पन्दन का अभाव होता है) सदा स्पन्दवान् है। दीधितिकार का यह मत प्रासंगिक है।

(iii) द्रव्यप्रत्यक्ष विचार

तार्किक शिरोमणि का मानना है कि स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा द्रव्य के 'प्रत्यक्ष ज्ञान' रूपी कार्य के लिए उस द्रव्य के केवल स्पर्श गुण को ही कारण के रूप मे स्वीकृत किया जाना चाहिए न कि उसके उद्‌भूत रूप गुण को कारण माना जाना चाहिए, जैसा कि नैयायिक मानते हैं। ऐसा मानने पर 'वायु शीतल है' इस प्रकार के स्पर्शेन्द्रिय जन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता की व्याख्या सुगमता से की जा सकती है।[२] यदि स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा त्रसरेणु का प्रत्यक्ष मान्य नहीं है तो

---

१. कर्मापि चाव्याप्यवृत्ति।

— प० त० नि०, पृ० १७

२. द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शवत्त्वमेव प्रयोजकम्। अतएव शीतोवायुरित्यादिप्रत्ययोऽपि स्पार्शन: साधु सङ्गच्छते। — वही, पृ० २०

त्रसरेणु के परिमाण से किसी एक अधिक परिमाण विशेष को द्रव्य के स्पर्शेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का कारण माना जा सकता है, परन्तु किसी भी स्थिति मे स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा द्रव्य के प्रत्यक्ष ज्ञान रूपी कार्य के लिए उस द्रव्य के रूप (रग) को कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, क्योकि यह मान्यता निराधार है एवं गौरव-दोष से ग्रस्त है।

ध्यातव्य कि यह सर्वमान्य अनुभव है कि त्वचा एवं वायु के संयोग के बाद 'वायु बह रही है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परन्तु प्राचीन न्याय-वैशेषिकों कि उपर्युक्त मान्यता के आधार पर इस सर्वजन स्वीकृत 'यथार्थ प्रतीति' को भ्रमात्मक कहना होगा। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा फुत्कार आदि अवयवी रूपी वायु द्रव्यों की स्पष्ट रूप से गणना भी की जा सकती है। अतः स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा जिनकी गणना की जा सकती है, उन अवयवी रूपी वायु द्रव्यो का प्रत्यक्ष भी होता है, यह स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए उसके रूप को ही कारण मानना चाहिए, क्योंकि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए स्पर्श को कारण मानना निराधार एवं गौरव-दोष से ग्रस्त होगा। उदाहरण के लिए आलोक स्पर्शगुण से रहित होने पर भी 'आलोक चल रहा है' इस प्रकार का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः स्पर्श को द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण नहीं माना जा सकता है।

(iv) अनित्य संख्याओं की असमवायिकारणता का खण्डन

रघुनाथ शिरोमणि का मत है कि द्वित्व आदि सख्या एवं कार्य रूपी एकत्व संख्या की उत्पत्ति के लिए किसी असमवायिकारण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन न्याय दर्शन की यह मान्यता है — 'समस्त भाव कार्यों की उत्पत्ति के लिए किसी असमवायिकारण की आवश्यकता होती है' उचित प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि उक्त नियम की पुष्टि हेतु कोई तर्कसंगति युक्ति नहीं हैं वैशेषिक-दर्शन के द्वारा परमाणुवाद-सिद्धान्त के सन्दर्भ मे यह स्वीकार

किया जाता है कि द्वयणुक के नाश के लिए उसके असमवायिकारण परमाणु–सयोग का नाश आवश्यक है। अत: सभी जन्य द्रव्यो के विनाश के लिए उनके असमवायिकारणो का नाश ही उत्तरदायी माना जाना चाहिए।

दीधितिकार न्याय–वैशेषिक दर्शन के उक्त सिद्धान्त से असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यह सिद्धान्त प्रत्येक स्थिति के लिए ठीक प्रतीत नहीं होता है। पट का अस्तित्व उसके रूप के नष्ट हो जाने पर भी रह सकता है, अत: पटनिष्ठ रूप के अभाव को बताने के लिए पट के अवयव अथवा तन्तुनिष्ठ रूप के नाश को कारण माना जाता है। रूपादि नाश के क्षेत्र मे अवयवी समवेत रूप, रस आदि के नाश को समझाने के लिए उस अवयवी के अवयवों के रूप, रस आदि के नाश को कारणता की भूमिका देना आवश्यक हो जाता है। परन्तु एकत्व संख्या जो कि एक अवयवी में रहती है, के सम्बन्ध में उपर्युक्त नियम लागू नहीं होता, क्योंकि स्वयं उस जन्य द्रव्य के नष्ट हुए बिना उस द्रव्यनिष्ठ एकत्व संख्या का नाश होना संभव नहीं है। अत: जन्य द्रव्यनिष्ठ संख्या के नाश के लिए किसी स्वतन्त्र असमवायिकारण के नाश को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। [१]

(v) प्रत्यभिज्ञाविचार

न्याय–दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है —— 'पहचानना' (Recognition) यह भी प्रत्यक्ष प्रमाण का एक रूप है। इसमें किसी वस्तु को देखने से ही यह भान होता है कि उस वस्तु को पहले भी देखा गया था। उदाहरण के लिए, यदि एक वर्ष पहले देवदत्त को इलाहाबाद में देखा गया था, वही देवदत्त अब बनारस मे मिल जाता है, तो यह आभास होता है कि यह वही व्यक्ति है, जिसे एक वर्ष पूर्व इलाहाबाद में देखा था। प्राचीन न्याय–वैशेषिक दार्शनिक पूर्वानुभवजन्य संस्कार को प्रत्यभिज्ञा रूपी ज्ञान का कारण मानते हैं। रघुनाथ शिरोमणि का मत

---

१ प० त० नि०, पृ १९

है कि प्रत्यभिज्ञा को संस्कार जन्य मानने के कारण उसे 'स्मृति' भी मानना होगा, क्योकि किसी भी ज्ञान को स्मृति मानने के लिए उसका सस्कार जन्यत्व ही पर्याप्त है।[१] प्राचीन मत के अनुसार उक्त शंका समीचीन नहीं प्रतीत होती। रघुनाथ शिरोमणि ने विवेच्य ग्रन्थ मे प्रयुक्त प्रयोजकत्व से क्या तात्पर्य माना है? प्रयोजकत्व को 'व्यापकत्व' अर्थ में लेने पर अर्थात् समस्त स्मृति ज्ञान को संस्कार जन्य मान लेने पर भी प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व की आपत्ति नहीं की जा सकती है। प्रयोजकतव को 'व्याप्यत्व' अर्थ में लेने पर अर्थात् यह मानने पर कि 'जहॉ संस्कारजन्यत्व है, वहॉ स्मृतित्व भी है' अवश्य प्रत्यभिज्ञा को स्मृति रूप स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु प्रयोजकत्व को 'व्याप्यत्व' अर्थ में लेने के पक्ष में कोई सबल युक्ति नहीं है।

दीधितिकार का मत है कि सस्कार का उद्बोधक कारण न होने पर अथवा किसी प्रतिबन्धक के कारण संस्कार के अभिभूत हो जाने पर प्रत्यभिज्ञा रूपी पूर्वानुभूत पदार्थ विषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है। अत: पूर्वानुभूत पदार्थ विषयक 'स्मृति' को ही प्रत्यभिज्ञा के साक्षात् कारण के रूप मे मानना उचित है।

(vi) संशयविचार

रघुनाथ शिरोमणि का मानना है कि कुछ प्राचीन नैयायिकों द्वारा स्वीकृत यह सिद्धान्त —— 'संशयात्मक ज्ञान सर्वदा प्रत्यक्षात्मक ही है' अथवा 'परोक्ष ज्ञान सदैव निश्चयात्मक ही होता है', मान्य नहीं है; क्योकि प्रत्यक्ष से स्वतन्त्र, मात्र शाब्दबोध से भी संशय उत्पन्न हो सकता है। यह तब होता है कि जब किसी वाक्य मे व्यवहृत पदों के अर्थ से यह ज्ञात होता है कि परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक ही धर्मी में आरोपित किया जा रहा है। उदाहरणार्थ 'शब्द नित्य है' यह एक पक्ष का कथन तथा 'शब्द अनित्य है', यह दूसरे का पक्ष कथन

---

१. तस्या· संस्कारजन्यज्ञानत्वे स्मृतित्वापत्ति. तज्जन्यज्ञानत्वस्य तत्र प्रयोजकत्वादिति वाच्यम्।
—— प० त० नि०, पृ० ३२

है। महर्षि गौतम के 'न्यायसूत्र' के सशय प्रकरण से भी दीधितिकार के उक्त मत की पुष्टि होती है। घटत्व एक कार्यतावच्छेदक धर्म है, परन्तु नीलघटत्व कार्यतावच्छेदक धर्म के रूप मे स्वीकृत नहीं होता है; क्योंकि घट रूपी कार्य के कारण सामग्री समूह में नीलरूप का उपयुक्त समावेश कारके नीलघट रूपी कार्य की उत्पत्ति की व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रकार संशयत्व को कार्यतावच्छेदक धर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि ज्ञान के कारण सामग्री समूह में एक धर्मी में परस्पर विरोधी धर्मों को ग्रहण कराने वाले तत्त्वों का सन्निवेश होने के आधार पर ही संशयरूपी ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या की जा सकती है। इसी तरह संशय से रहित निश्चयात्मक ज्ञान होने का धर्म भी कार्यतावच्छेदक धर्म नहीं है; क्योंकि अनुरूप युक्ति के आधार पर ही यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि अनील घट होने का धर्म कार्यतावच्छेदक धर्म नहीं है। [१]

(vii) शाब्दबोध के सम्बन्ध में समस्या

रघुनाथ शिरोमणि द्वारा शाब्दबोध के सम्बन्ध में उठाई गयी समस्या है कि दशरथ आदि पौराणिक व्यक्तियों का जो एक समय में अस्तित्वान थे, लेकिन आज उनका अस्तित्व नहीं है, वर्तमान कालीन व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष न किये जाने पर भी उस पद से अर्थबोध होता है। उसी प्रकार पिशाच, यक्ष आदि की सत्ता का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने पर भी 'पिशाच' शब्द के उच्चारण मात्र से अर्थबोध होता है। समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक एयर ने भी इसी प्रकार की समस्या को उठाया है उसका कहना है कि 'शहीद कष्ट झेलते हैं' इस कथन के उद्देश्य पद से सत्ता का निर्देश सिद्ध नहीं होता है, किन्तु यह कथन अर्थहीन नहीं है।[२]

---

१. एव सशयत्वशून्यत्वज्ञानत्वरूपनिश्चयत्वमपि निलत्वशून्यघटत्ववत्तथेति।

—प० त० नि०, पृ० ४०

२ समकालीन पाश्चात्य दार्शनः बसन्त कुमार लाल, पृ० ३२३—३२५

अतः यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि ऐसी समस्याओ का अनुभवगम्य उत्तर नहीं दिया जा सकता, बल्कि वाच्यपदार्थ कहना ही उचित प्रतीत होता है।

(viii) 'न' पद के सम्बन्ध में टिप्पणी

'अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्यप्रादुर्भावात्' न्यायसूत्रकार गौतम के इस सूत्र में 'न अनुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इन पदो में अनुपमृद्य के पूर्व स्थित 'न' पद का अन्वय 'प्रादुर्भावात्' पद के साथ किया जाना चाहिए न कि 'अनुपमृद्य' पद के साथ। क्योंकि 'न' पद का अनुपमृद्य पद के साथ अन्वयव करने पर वाक्य का अर्थ 'भाव से भाव की उत्पत्ति होती है' होगा, जो कि उपयुक्त नहीं है। प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रासंगित अर्थ यह होगा — 'ध्वंस के बिना भाव की उत्पत्ति नहीं होती है।

उक्त मत का समर्थन करते हुए प्रभाकर मीमांसको का कहना है कि 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेधात्मक वाक्य में 'न' पद का अन्वय 'भक्षयेत्' पद के साथ होना चाहिए न कि 'कलञ्जम्' पद के साथ। क्योकि 'कलञ्जम्' पद के साथ 'न' का अर्थ करने पर 'अविषाक्तमांस' का भोजन कर्त्वव्य है' ऐसा मानना होगा, जो कि वास्तव में अभिप्रेत नहीं है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' का उचित अर्थ होगा — 'विषाक्त मांस का भोजन न करना कर्त्वव्य है।' इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'न' पद का अन्वय उपयुक्त स्थान पर न करने से वाक्य का सही अर्थ नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि द्वारा उठाई गयी समस्याएँ न्याय-वैशेषिक दर्शन के लिए ही नहीं, बल्कि दार्शनिक जगत् के लिए भी विचारणीय है। वैशेषिक दर्शन में 'कर्म' को अतिरक्त पदार्थ के रूप में मानकर 'सप्तपदार्थ' की सिद्धि की गयी है, जबकि दीधितिकार ने 'कर्म' पदार्थ को भी रूप, रस, गन्ध एव स्पर्श आदि गुण की तरह अव्याप्यवृत्ति सिद्ध किया है। अतः निश्चय ही रघुनाथ शिरोमणि द्वारा किया गया पदार्थों का विवेचन उनकी नूतन उद्भावना का प्रतिफल है।

□□□

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय दर्शन को दो वर्गों में विभाजित किया गया है —— आस्तिक और नास्तिक। इस विभाजन का आधार 'वेद' है। वेदों की प्रामणिकता में विश्वास करने वाले 'आस्तिक' एवं वेदों की निन्दा करने वाले सम्प्रदाय 'नास्तिक' कहे गये। न्याय दर्शन आस्तिक दर्शनों में प्रमुख स्थान रखता है। वात्स्यायन के 'प्रमाणै· अर्थपरीक्षणं न्याय:' के अनुसार न्याय उस प्रणाली का नाम है, जिसमे वस्तु–तत्त्व के निर्धारणार्थ सभी प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। न्याय–दर्शन की चिन्तन धारा उच्च कोटि की है। यद्यपि न्याय दर्शन में श्रुति को पूर्ण सम्मान जनक स्थान दिया गया है, किन्तु अपने प्रतिपाद्य–तत्त्व के प्रतिपादन में नैयायिक युक्ति पर अधिक विश्वास करते हैं, क्योंकि उनकी मान्यता है कि श्रुति सम्मत अर्थ तभी स्वीकार्य एवं अकाट्य होगा, जब तर्क रूपी कसौटी पर खरा पाया जायेगा।

न्यायशास्त्र का आद्यग्रन्थ 'न्यायसूत्र' है, जिसके रचयिता गौतम (अक्षपाद) हैं। इस ग्रन्थ में पॉच अध्याय है। यह रचना जगत् के विविध यातनाओ से पीड़ित प्राणिवर्ग के कल्याणार्थ की गयी है। आचार्य गंगेशोपाध्याय ने स्वप्रणीत ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के प्रारम्भ में कहा है ——

'अथ जगदेव दु:खपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षु: अष्टादशविद्यास्था–नेष्वभ्यहिततमामान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनि: प्रणिनाय।'

न्यायदर्शन की गुणवत्ता का वर्णन करते हुए 'सुभाषितरत्नभाण्डारागारम्' मे कहा गया है —— 'न्यायशास्त्र मोह को दूर करता है, बुद्धि को विमल बनाता है, वाणी को परिष्कृत करता है तथा अन्य शास्त्रों को समझने के लिए बुद्धि को समर्थ करता है; न्यायशास्त्र कौन सा उपकार नहीं करता है।'

बारहवीं शताब्दी से न्याय दर्शन के इतिहास में एक महान् परिवर्तन हुआ। इस समय मिथिला में गंगेश उपाध्याय नामक प्रसिद्ध नैयायिक हुए, जिन्होंने

गौतम के 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' केवल इस सूत्र पर 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका प्रधान विषय प्रमाण-मीमासा है। इस प्रमाण-प्रधान ग्रन्थराशि को नव्य न्याय का प्रवर्तक ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'प्रमाणचिन्तामणि' भी है। इसके प्रत्येक खण्ड में दर्शनान्तर विरोधी मतों का तथा न्याय के अनेक पूर्ववर्ती मतों का निराकरण कर नूतन एवं निर्दोष सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है।

विवेच्य है कि आगे चलकर नव्य न्याय की दो शाखाएँ विकसित हुई —— मिथिलाशाखा एवं नवद्वीपशाखा। गंगेश उपाध्याय मिथिला शाखा के संस्थापक एवं नव्य न्याय के प्रवर्तक आचार्य हैं। 'तत्त्वचिन्तामणि' पर सर्वप्रथम 'दीधिति' नामक टीका लिखने वाले आचार्य रघुनाथ शिरोमणि 'नवद्वीप शाखा' के संस्थापक हैं। 'दीधिति' टीका में तार्किक शिरोमणि अपने दोनों गुरुओं पक्षधर मिश्र एवं वासुदेव सार्वभौम तथा पूर्ववर्ती अन्य अनेक नैयायिक के मतों का खण्डन कर अपने नितान्त मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है। अपनी असाधारण प्रतिभा और तर्कशक्ति से न्यायशास्त्र के अनेक परम्परागत सिद्धान्तों का खण्डन कर अनेक नूतन सिद्धान्तों की स्थापना की है। रघुनाथ शिरोमणि 'दीधिति' के प्रारम्भ में लिखते हैं कि बहुत से विद्वान न्यायशास्त्र का अध्ययन करते हैं और ग्रन्थों की रचना भी करते हैं, परन्तु न्याय-दर्शन के मर्म को बहुत कम ही विद्वान जान पाते हैं

'न्यायमधीते सर्वस्तुनुते कुतुकान्निबन्धमप्यत्र।
अस्य तु किमपि रहस्यं केचन विज्ञातुमीशते सुधियः।।'

न्याय दर्शन सोलह पदार्थ मानता है। इन पदार्थों का सूक्ष्म अन्वीक्षण से स्पष्ट होता है कि ये सोलह तत्त्वतः पदार्थ नहीं, बल्कि वाद-विद्या पर अधिकार पाने के लिए जिन विषयों का अध्ययन अनिवार्य है, उनकी सूची मात्र हैं। न्याय-वैशेषिक समानतन्त्र होने के कारण दोनों दर्शनों की तत्त्वमीमांसा एक

जैसी है। वैशेषिक दर्शन के आचार्य - पद्मनाभ मिश्र एव अन्न भट्ट ने यह सिद्ध किया है कि न्याय के सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव के अन्तर्गत किया गया है।

आलोच्य ग्रन्थ 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' में रघुनाथ शिरोमणि ने वैशेषिक-दर्शन सम्मत सप्त-पदार्थों का परम्परागत निरूपण न करके पुनर्मूल्यांकन किया है, जो उनके अद्‌भट पाण्डित्य एवं प्रखर विचार - स्वातन्त्र्य का परिचायक है। न्याय-वैशेषिक के दुर्धर्ष विद्वान् रघुनाथ शिरोमणि सर्वप्रथम 'द्रव्य' नामक प्रथम पदार्थ का विवेचन किया है, जिसमें उन्होंने आकाश, काल एवं दिक् के स्वतन्त्र द्रव्यत्व पर प्रहार किया, उनके अनुसार ये स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, बल्कि ईश्वर से अभिन्न हैं। आकाश के स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वस्तुतः कार्यमात्र के प्रति साधारण निमित्त कारण के रूप मे स्वीकृत ईश्वर ही शब्द रूपी कार्य का समवायिकारण है। ईश्वर की कारणता उभयवादी सिद्ध है, अर्थात् वह निमित्त कारण एवं समवायिकारण दोनो है। पूर्वपक्ष द्वारा यह शंका की जाय की जीवात्मा शब्द का समवायिकारण है; क्योकि जीवात्मा में समवेत अदृष्ट शब्द का निमित्त कारण है। इस पर आधारित यह व्याप्ति भी उचित प्रतीत होती है कि 'जो जिसका अदृष्ट जन्य होता है, वह उसमे समवेत होता है', जैसे सुख-दुःख आदि। उक्त मत को युक्ति संगत न मानकर रघुनाथ शिरोमणि तर्क देते हैं कि 'यदि जीवात्मा सुख-दुःख गुणों की भाँति शब्द का समवायिकारण है तो 'अहं सुखवान्' की तरह 'अहं शब्दवान्' आदि की प्रतीति भी होनी चाहिए, परन्तु ऐसा संभव नहीं है। रघुनाथ शिरोमणि का यह तर्क परम्परा से हट कर निश्चय ही न्याय वैशेषिक दर्शन के एक लिए नूतन है।

दिक् एवं काल को कणाद ने स्वतन्त्र द्रव्यों के रूप में स्वीकार किया है। परवर्ती न्याय-वैशेषिकाचार्यों द्वारा दिक् एवं काल को — महादिक्,

महाकाल एव खण्डदिक्, खण्डकाल इन दो रूपो मे स्वीकार किया गया है। महाकाल अथवा महादिक् के रूप मे काल एवं दिक् समस्त जगत् की उत्पत्ति का निमित्त कारण है। निमित्तकारणता उसी द्रव्य में हो सकती है जो परममहत् परिमाणवान अर्थात् विभु हो। महारूप मे ये द्रव्य निष्क्रिय भी हैं। उनका कार्य क्षेत्र खण्ड रूप मे ही निर्धारित किया जाता है। खण्डकाल वृद्ध एवं युवक मे परत्व और अपरत्व को दर्शाता है और इस परत्वापरत्व का निर्धारण 'क्षण' को मानते हैं। इसी प्रकार दिक् स्थान की निकटता और दूरी को बतलाता है। प्राची, प्रतीची आदि दस भेद दिशा की उपाधियाँ हैं। रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार जगत् के निमित्त कारण के रूप में प्राचीन गण की यह मान्यता न्यायोचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि जो द्रव्य स्वयं निष्क्रिय है, वह सृष्टि प्रक्रिया में कैसे सक्रिय हो सकता है। अत: रघुनाथ 'महा' के रूप में दिक् एवं काल को स्वीकार नहीं करते और जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का आधार ईश्वर को मानकर उसमें काल एवं दिशा का अन्तर्भाव करते हैं। 'खण्ड' के रूप मे ही दोनों द्रव्यों को मानकर काल की 'क्षण' उपाधि को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्थापना भी करते हैं।

रघुनाथ शिरोमणि 'मन' के अतिरिक्त द्रव्यत्व का भी खण्डन करते हैं। मन को अन्तरीन्द्रिय के रूप मे माना गया है, जो आत्मा के गुणो का प्रत्यक्ष करवाने के साथ ही साथ बाह्येन्द्रियों के विषयों का ज्ञान भी करवाती है। इस प्रकार ज्ञानो की युगपत प्रतीति के कारण मन को 'अणु' रूप में स्वीकार किया गया है। अणु के निरवयव होने के कारण इसे 'असमवेत' भी कहा जाता है। दीधितिकार को परमाणु एवं द्व्यणुक की सत्ता मान्य ही नहीं है, उनके अनुसार 'त्रसरेणु' ही अन्तिम अवयव है, जो इन्द्रिसग्राह्य भी है। मन को अतिरिक्त द्रव्य न मानकर पृथिवी, जल, तेज एव वायु द्रव्यों में अन्तर्भूत मानते हैं। दीधितिकार का उक्त मत नितान्त मौलिक है। रघुनाथ शिरोमणि ईश्वर के विभुत्व को परममहत् परिमाणवत्त्व रूप न मान करके 'सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व' रूप स्वीकार करने पर ही विभुत्व सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि अकाश, काल एव दिशा को ईश्वर से अभिन्न सिद्ध करने के साथ-साथ मन को भी असमवेत भूत कहकर उसे पृथक् द्रव्य नहीं मानते हैं। तार्किक शिरोमणि का यही मत न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की 'दिनकरी' टीका में 'नव्या' के नाम से उद्धृत है। इस प्रकार रघुनाथ के अनुसार केवल पाँच ही द्रव्य रह जाते हैं — पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आत्मा।

'यह वस्तु उससे पृथक् है' — इत्याकारक प्रतीति व व्यवहार के हेतुभूत गुण को पृथक्त्व की संज्ञा वैशेषिकों ने प्रदान की है। रघुनाथ शिरोमणि ने पृथक्त्व के गुणत्व का खण्डन किया है कि पृथक्त्व को अलग से गुण नहीं मानना चाहिए, अन्योन्याभाव से ही पृथक् व्यवहार निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार परतवापरत्व गुण का भी खण्डन करते हैं। रूप रसादि गुणों की अव्याप्यवृत्तित्व सिद्धि करते हुए कहते है कि यदि किसी अवयवी के कोमल व कठोर अवयवों से निर्मित अवयवी के कोमल भाग का स्पर्श करने पर ठीक उसी स्थल पर कठोरता का भी अनुभव होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। इससे स्पर्श की अव्याप्यवृत्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार रूप, रस एवं गन्ध का भी अव्याप्यवृत्ति सिद्धि रघुनाथ को मान्य है। दीधितिकार का यह मत निश्चय ही उनकी मौलिक प्रतिभा एवं नवीन दृष्टि का परिचय देता है।

पदार्थतत्त्वनिरूपणकार का मत है कि इन्द्रिय अग्राह्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आद गुणों की सत्ता स्वीकार नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि वायु द्रव्य मे रूप के अभाव की प्रतीति सर्वजनमान्य है। इसलिए अनुद्भूत रूप के प्रत्यक्ष को भी स्वीकार करना होगा, तभी उसके अभाव प्रत्यक्ष की व्याख्या की जा सकती है। अतः अनुद्भूत रूपादि गुणों का खण्डन उक्त तर्क के आधार पर रघुनाथ मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित सत्ता, गुणत्व एवं अनुभवत्व जाति का भी निराकरण करते हुए दीधितिकार कहते हैं कि सत्ता जाति नहीं, पदार्थ-विभाजक

उपाधि के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। यह उपाधि समस्त भाव एव अभाव पदार्थों का अनुगत अखण्ड धर्म है। गुणत्व जाति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि चौबीस गुणों में रहने वाली तथा कथित 'गुणत्व' जाति का अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जाति का प्रतिपादन होने के लिए उस जाति के सभी आश्रयों को प्रत्यक्ष ग्राह्य होना चाहिए, ऐसा संभव नहीं है। अत: गुणत्व को जाति नहीं स्वीकार किया जा सकता। अनुभवत्व भी जाति नहीं, क्योंकि अनुभवत्व जाति तो केवल साक्षात्कारी अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान मे ही रहती है, शेष ज्ञानों में नहीं।

'वैशेषिक' नामकरण के आधारभूत 'विशेष' पदार्थ का भी रघुनाथ खण्डन करते हैं। उनका मानना है कि समवायी द्रव्यों के अवयवो का विभाग करने पर अंतत: 'त्रसरेणु' पर पहुचते हैं। उसके बाद कोई विभाजन संभव नहीं होता। त्रसरेणु ही द्रव्य है और प्रत्यक्षग्राह्य है। उनके मत में अतीन्द्रिय परमाणु का कोई औचित्य ही नहीं प्रतीत होता है। इसलिए परमाणुधर्म 'विशेष' की सत्ता का खण्डन करते हैं।

समवाय सम्बन्ध को न्याय-वैशेषिक दर्शन में एक माना गया है, परन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने समवाय को अनेक माना है और सिद्ध किया है कि समवाय को एक मान लें तो जलादि मे गन्धादि की यथार्थ प्रतीति होनी चाहिए, जो कि नहीं होती। अत: समवाय एक मानना उचित नहीं है। रघुनाथ शिरोमणि के विचारो में मौलिकता झलकती है। उनकी दृष्टि विषय के जड़ तक पहुँचकर उसके यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करती है। दीधितिकार का अभाव-विषयक विचार न्याय वैशेषिक के समान ही है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव 'भाव' रूप माना है, जबकि रघुनाथ उससे भिन्न मानते हैं। प्रथम स्तरीय अभाव को तृतीय स्तरीय अभाव के साथ अभिन्न मानने पर एक ही पदार्थ को भावात्मक एवं अभावात्मक स्वीकार नहीं करना पड़ता है। जबकि प्राचीन मत घट, पट आदि

पदार्थों के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव क्रमश: घट, पट स्वरूप ही है, जो उचित नहीं। अत: रघुनाथ शिरोमणि का अभाव का अभाव विषयक विचार न्यायोचित प्रतीत होता है।

प्राचीन न्याय-वैशेषिक के सप्तपदार्थवाद की समीक्षा करने के बाद कुछ नवीन पदार्थों को भी स्वीकार किया है। ये नवीन पदार्थ 'द्रव्य' पदार्थ के धर्म रूप मे स्वीकृत किये गये हैं। रघुनाथ शिरोमणि द्वार प्रतिपादित नवीन पदार्थ इस प्रकर हैं —— क्षण, शक्ति, कारणता, कार्यता, संख्या, स्वत्व, वैशिष्ट्य और विषयता। वैशेषिक-दर्शन में 'कर्म' को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में परिभाषित किया गया है, किन्तु रघुनाथ ने 'पदार्थतत्त्वनिरूपण' में 'कर्म' का पदार्थ के रूप में न मानकर गुण के अन्तर्गत निरूपित किया है।

'पदार्थतत्त्वनिरूपण' ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का यथासम्भव विवेचन एवं उसके गंभीरता के प्रति सुधी समाज का ध्यान आकृष्ट करते हुए हमारा यह विनम्र प्रयास रहा है कि इसमें प्रतिपादित विषयो का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत हो सके। वैशेषिक के सप्तपदार्थों पर रघुनाथ शिरोमणि की मौलिक विचारणा निश्चय ही उनके पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभा का परिचायक है। दीधितिकार ने पदार्थों के सन्दर्भ मे जो नवीन एव विशिष्ट स्थापनाएँ की है, वह न्याय-वैशेषिक परम्परा में नितान्त मौलिक एव स्पृहणीय है।

□□□

अधीतव्यग्रन्थानुक्रमणिका

(क) हिन्दी

अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका – डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, किताब महल, इलाहाबाद, १९९७

न्याय–परिचय – फणिभूषण तर्कवागीश (बगाली) अनु० डॉ० किशोरनाथ झा चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८

न्यायदर्शन 'वैशेषिक दर्शन' – हरिमोहन झा, पुस्तक भंडार लहेरियासराय, पटना, १९६४

पदार्थशास्त्र – पं० आनन्द झा, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ० प्र०, लखनऊ, १९६५

पाश्चात्य दर्शन का उद्भव तथा विकास – डॉ० हरिशंकर उपाध्याय, दर्शन अनुशीलन केन्द्र, इलाहाबाद, १९९९

पाश्चात दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास – या० मसीह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९९

भारतीय दर्शन – डॉ० नन्दकिशोर देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२

भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा – राममूर्ति पाठक, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद, २०००

भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व – डॉ० रामनाथ शर्मा, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, १९९५

भारतीय दर्शन की समस्याएँ – डॉ० नन्दकिशोर शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९९७

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - डॉ० संगम लाल पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९८४

भारतीय न्यायशास्त्र : एक अध्ययन - ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९६७

वैशेषिक दर्शन एक अध्ययन – श्रीनारायण मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८

वैशेषिक दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन – डॉ० बद्रीनाथ सिह, आशा प्रकाशन, वाराणी, १९६९

भारतीय दर्शन . न्याय-वैशेषिक – धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९५३

वैशेषिक पदार्थ : व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श – विश्वम्भरपाहि, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर,

(ख) संस्कृत ग्रन्थ

अर्थसंग्रह – लौगाक्षिभास्कर सं० वाचस्पतिउपाध्याय, चौखम्भा, ओरियण्टालिया, दिल्ली, १९७७

आत्मतत्तवविवेक – उदयनाचार्य, स० ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९४०

आत्मतत्त्वविवेकनदीधिति – रघुनाथ शिरोमणि, सं० राजेश्वर शास्त्री द्रविड, चौखम्भा सस्कृत सीरीज ३३३, बनारस, १९२५

कणादरहस्य – शकर मिश्र सं०, विध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, सं० ४८, बनारस, १९१७

किरणावली – उदयनाचार्य, सं० विंध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी बनारस संस्कृत सीरीज सं० ९

किरणावली प्रकाशदिधिति – रघुनाथ शिरोमणि सं० बदरीनाथ, सरस्वती भवन टैक्स्ट्स स० ३८, बनारस, १९३२

खण्डनखण्डखाद्यम् – श्रीहर्ष, सं० स्वामी हनुमानदास षट्शास्त्री, चौ० संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७०

तत्त्वचिन्तामणि: – गंगेशोपाध्याय, सं० एन० एन० ताताचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९७३

तर्कभाषा – केशवमिश्र, बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, १९९६

तर्कसंग्रह — अन्नं भट्ट, सं० शेषराज शर्मा, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

तार्किकरक्षा — वरदराज, स० विध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, बनारस, १९०३

न्यायकुसुमाञ्जलि — उदयनाचार्य, स० महाप्रभुलाल गोस्वामी, मिथिलाविद्यापीठ ग्रन्थमाला, १९७२

न्यायकुसुमाञ्जलि 'दीधिति' — रघुनाथ शिरोमणि (पाण्डुलिपि)

न्यायभाष्य — वात्स्यायन, सं० नारायण मिश्र, काशी सस्कृत ग्रन्थमाला ४३, वाराणसी, १९७०

न्यायभूषण — भासर्वज्ञ, सं० स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली — विश्वनाथ, सं० हरिरामशुक्ल शास्त्री, काशी संस्कृत सीरीज, ६ वाराणसी, १९७२

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली — विश्वनाथ, सं० डॉ० गजानन शास्त्री 'मुसलगॉवकर चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, १९९७

न्या० सि० मु० 'दिनकरी' — दिनकर भट्टाचार्य, सं० हरिराम शुक्ल शास्त्री, वाराणसी १९७२

न्या० सि० मु० 'रामरुद्री' — रामरुद्र भट्टाचार्य, स० हरिराम शुक्ल शास्त्री, वाराणसी, १९७२

न्या० सि० मु० 'प्रभा' — नृसिंहदेव, लाहौर, १९२१

न्यायसूत्रम् — गौतम, सं० नारायण मिश्र, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ४३, वाराणसी, १९७०

पदार्थतत्त्वनिरूपण — रघुनाथ शिरोमणि, सं० विश्वम्भरपाहि एवं कुसुम जैन, राजस्थान विश्वविद्यालय, भारतीय दर्शन माला, १९९७

पदार्थतत्त्वालोक : — विश्वनाथ (पाण्डुलिपि)

प्रकरणपंचिका — शलिकनाथ, सं० ए० सुब्रह्मण्य शास्त्री, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६३

प्रमाणमञ्जरी — सर्वदेवसूरि, सं० पट्टाभिराम शास्त्री, राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, ग्रन्थाक ४, जयपुर, १९५३

प्रशास्तपादभाष्य — प्रशस्तपाद, स० नारायण मिश्र, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला सख्या १७३, वाराणसी, १९६६

प्रशास्तपादभाष्य (न्या० क० टीका सहित) — प्रशस्तपाद, स० पण्डित श्रीदुर्गाधर झा शर्मा, स० सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी

पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश· — श्रीरामभद्रसार्वभौम, सं० विभ्वम्भर पाहि एव कुसुम जैन (पदार्थ तत्त्वनिरूपण के अन्तभाग मे टीका), राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन माला, १९९७

भाषापरिच्छेद (कारिकावली) — विश्वनाथ, सं० हरिराम शुक्ला शास्त्री, काशी संस्कृत सीरीज ६, वाराणसी, १९७२

मानमनोहर· — वादिवागीश्वर, सं० स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९७३

लक्षणावली — उदयनाचार्य, सं० शशिनाथ झा, मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला १४, दरभंगा, १९६३

वैशेषिकसूत्रम् — कणाद, सं० नारायण मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६६

वै० सू० 'उपस्कार' — शकर मिश्र, सं० ढुण्ढिराज शास्त्री, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६९

श्लोकवार्तिक — कुमारिल भट्ट, सं० द्वारिकादास शास्त्री, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८

सर्वदर्शनसग्रह· — मध्वाचार्य, सं० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४

सप्तपदार्थी: — शिवादित्य, सं० डी० गुरुमूर्ति, थियोसोफिल सोसायटी, आड्यार, मद्रास, १९३२

(ग) अंग्रेजी

Studies ın Nyaya — Vaisesika Metaphysics : S. N. Bhadurı, Bhandarkar Oriental Series, No. 5, Poona, 1947

Outlines of Indıan Phılosophy . — Mysore Hiriyanna, George Allen and Unwin, Landon, 1932

History of Indian Philosophy (5 Vols) - S N Dasgupta, Motilal Banarasi Das, 1975

The Theism of Nyaya - Vaisesika C Bulcke, Moti lal Banarsi Das, 11 issue, 1968

Evalution of the Nyaya - Vaisesika Categoriology Harsh Narain, Bharati Prakashan Varanasi, 1976

(घ) कोशग्रन्थ

अग्रेजी-हिन्दी-कोश – कमिल बुल्के, कैथोलिक प्रेस, रांची

अमरकोश – अमरसिंह, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई

न्यायकोश – भीमाचार्य झलकीकर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना

मानक हिन्दी कोश – रामचन्द्र वर्म्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

वाचस्पत्यम् – चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थ माला, वाराणसी

शब्दकल्पद्रुम – चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थ माला, वाराणसी

संस्कृत-हिन्दी-कोश – वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

A Dictionary of Philosopy - A R Lacey, Pub. : Routlege - Kegan Paul, London

Encyclopaedia Britannica - Micropaedia, 15th Edition Pub. Helen Hemingway, Benton.

Encyclopaedia of Indian Philosophies, Vol I-II, - Ed. Karl H. Potter, Moti lal Banarsi Das, Delhi

□□□